प्रथम संस्करण : ५ हजार
(१८ जून, १९९९)

मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स प्रा. लि.
एम. आई. रोड
जयपुर

प्रकाशकीय
(प्रथम संस्करण)

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थाधिराज समयसार पर हुए पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का हिन्दी भाषा में अनूदित प्रवचनरत्नाकर-भाग ९ प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

पूज्य श्री कानजीस्वामी इस युग के सर्वाधिक चर्चित आध्यात्मिक क्रान्तिकारी महापुरुष हुए हैं। वर्तमान में दृष्टिगोचर दिगम्बर जैनधर्म की अभूतपूर्व धर्मप्रभावना का श्रेय स्वामीजी को ही है। उनका कार्यकाल दिगम्बर जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का स्वर्णयुग रहा है। स्वामीजी के उपकारों को यह दिगम्बर जैन समाज युगों-युगों तक स्मरण रखेगा।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार ग्रंथ ने स्वामीजी की जीवनधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। इसी ग्रंथ को पाकर सन् १९३४ में उन्होंने स्थानकवासी साधु का वेश (मुँहपट्टी) त्यागकर दिगम्बर धर्म अंगीकार किया और सामान्य ब्रह्मचारी श्रावक के रूप में अपने आत्मकल्याण के साथ-साथ अध्यात्म के प्रचार-प्रसार में अपना जीवन समर्पण कर दिया। अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का सांगोपांग विवेचन उनकी वाणी की महत्त्वपूर्ण विशेषता रही। उनके द्वारा प्रतिपादित स्वानुभूति का स्वरूप, विषय एवं उसके पुरुषार्थ का विवेचन चिरकाल तक स्वानुभूति की प्रेरणा देता रहेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने ४५ वर्षो तक निरन्तर जिनशासन की अद्वितीय प्रभावना की है। यद्यपि आज वे हमारे बीच नहीं हैं, तथापि उनके द्वारा दिखाया गया शास्वत सुख का मार्ग चिरकाल तक हमें भव-दुःखों से छूटने की प्रेरणा देता रहेगा, क्योंकि उनके प्रताप से निर्मित जिनमन्दिर एवं प्रकाशित सत्साहित्य उनके स्मारक के रूप में चिरकाल तक विद्यमान रहेंगे।

परमपूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों को टेप के माध्यम से सुरक्षित रखने का प्रयास तो किया ही गया है परन्तु उनकी दीर्घकाल तक सुरक्षा असम्भव है। अतः उनके प्रवचनों को शृंखलाबद्ध प्रकाशन का निर्णय मुम्बई के

श्री कुन्दकुन्द कहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट द्वारा लिया गया। फलस्वरूप समयसार ग्रंथाधिराज पर हुए सम्पूर्ण ग्रंथ के गुजराती प्रवचन ११ भागों में प्रकाशित हो चुके हैं तथा नियमसार के गुजराती प्रवचनों का प्रथम भाग भी प्रकाशित हो चुका है। समयसार पर हुए प्रवचनों का हिन्दी में रूपान्तर करके 'प्रवचनरत्नाकर' के ही नाम से अभी तक आठ भाग प्रकाशित हो चुके हैं और अब यह नौवाँ भाग आपके हाथों में है। आगे के भागों का भी अनुवाद कार्य चल रहा है।

हिन्दी में रूपान्तरित प्रवचनरत्नाकर के प्रथम भाग में १ से २५ गाथाएँ, द्वितीय भाग में २६ से ६८, तृतीय भाग में ६९ से ९१, चतुर्थ भाग में ९२ से १४४, पाँचवें भाग में १४५ से १८०, छठवें भाग में १८१ से २१४, सातवें भाग में २१५ से २३६, आठवें भाग में २३७ से ३०७ तथा प्रस्तुत नौवें भाग में ३०८ से ३७२ गाथाओं तक प्रवचन प्रकाशित हो चुके हैं।

इस पुस्तक के सम्पादन में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का एवं अनुवाद कार्य में पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल का श्रम श्लाघनीय है। पुस्तक की मुद्रण व्यवस्था सदा की भांति विभाग के प्रभारी श्री अखिल बंसल ने बखूबी सम्हाली है। अतः उपरोक्त सभी बधाई के पात्र हैं। वे सभी दान दातार भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अपना आर्थिक सहयोग प्रदान कर पुस्तक को जन सामान्य के लिए अल्प मूल्य में उपलब्ध कराया है।

आप सभी प्रवचनरत्नाकर के माध्यम से आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करें, इसी भावना के साथ —

महामंत्री
दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, मुम्बई

महामंत्री
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

सम्पादकीय

जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि है। भगवान महावीर और गौतम गणधर के वाद उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। दो हजार वर्ष पूर्व लिखे गये आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के परमागम हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर उनके रहस्य को उद्घाटित करनेवाली अद्भुत टीकाएँ आचार्य अमृतचन्द्र ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले संस्कृत भाषा में लिखी थीं। यद्यपि उनके अनुवाद भी पण्डित श्री जयचन्दजी छावड़ा जैसे विद्वानों द्वारा लिखे गये थे; तथापि इस युग में उनका प्रचार व प्रसार नगण्य ही था। जनसाधारण की तो वात ही क्या करें, वड़े-वड़े दिग्गज विद्वान् भी उनसे अपरिचित ही थे।

आज जो समयसार जन-जन की वस्तु वना हुआ है — उसका एकमात्र श्रेय पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी को है। उन्होंने इस पर आद्योपान्त १९ बार तो सभा में प्रवचन किए हैं, स्वयं ने तो न मालूम कितनी बार गहराई से अध्ययन किया होगा।

इस सन्दर्भ में पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी का कथन दृष्टव्य है। जो कि इसप्रकार है :—

"आज से पचास वर्ष पूर्व तक शास्त्र सभा में शास्त्र वाँचने के पूर्व भगवान कुन्दकुन्द का नाम तो लिया जाता था, किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार आदि अध्यात्म की चर्चा करनेवाले विरले ही थे। आज भी दि. जैन विद्वानों में भी समयसार का अध्ययन करनेवाले विरले हैं। हमने स्वयं समयसार तब पढ़ा जव श्री कानजी स्वामी के कारण ही समयसार की चर्चा का विस्तार हुआ। अन्यथा हम भी समयसारी कहकर ब्र. शीतलप्रसादजी की हँसी उड़ाया करते थे। यदि कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो दिगम्वर जैन समाज में भी कुन्दकुन्द के साहित्य का प्रचार न होता।"[१]

पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी का हम जैसे उन लाखों लोगों पर अनन्त-अनन्त उपकार है, जिन्होंने उनके मुख से समयसार आदि ग्रन्थों पर

---

१. जैन सन्देश, ४ नवम्वर १९७६, सम्पादकीय

प्रवचन सुने हैं, और समझ में न आने पर अपनी शंकाओं का सहज समाधान प्राप्त किया है।

आज वे हमारे बीच नहीं हैं, पर उनके वे प्रवचन जो उन्होंने अपने जीवनकाल में अनवरत रूप से किये थे, हमें टेपों के रूप में उपलब्ध हैं। आज वे प्रवचन ही हमारे सर्वस्व हैं।

यद्यपि पूज्य गुरुदेवश्री के हजारों प्रवचन प्रकाशित रूप में भी हमें उपलब्ध थे, और हैं भी; फिर भी यह आवश्यकता गुरुदेवश्री की उपस्थिति में भी निरन्तर अनुभव की जा रही थी कि उनके उपलब्ध समस्त प्रवचन प्रकाशित होने चाहिए। एक तो टेप सबको सहज सुलभ नहीं होते, दूसरे लम्बे काल तक उनकी सुरक्षा संदिग्ध रहती है। हमारी यह निधि पूर्ण सुरक्षित हो जाने के साथ-साथ जन-जन की पहुँच के भीतर हो जानी चाहिए — इसकारण सम्पूर्ण प्रवचनों के प्रकाशन की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी।

परिणामस्वरूप पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में ही श्री कुन्दकुन्द परमागम प्रवचन ट्रस्ट की स्थापना हुई। उक्त ट्रस्ट ने बड़ी ही तत्परता से अपना काम आरम्भ किया और बहुत ही कम समय में 'प्रवचनरत्नाकर' नाम से सर्वप्रथम 'समयसार' परमागम पर १८वीं बार हुये प्रवचनों का प्रकाशन आरम्भ किया। चूँकि गुरुदेवश्री के मूलप्रवचन अधिकांश गुजराती भाषा में ही हैं, अतः उनका प्रकाशन भी सर्वप्रथम गुजराती भाषा में ही आरम्भ हुआ। २६ अप्रेल, १९८० ई. को बम्बई (मलाड) में आयोजित पूज्य गुरुदेवश्री की ९१वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर प्रवचनरत्नाकर का प्रथम भाग गुजराती भाषा में प्रकाशित होकर आ गया था तथा पूज्य गुरुदेवश्री को प्रत्यक्षरूप से समर्पित किया गया था।

उसी अवसर पर इसके हिन्दी प्रकाशन की चर्चा आरम्भ हुई। पर्याप्त ऊहापोह के उपरान्त इसके हिन्दी अनुवाद का कार्य पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल को, सम्पादन का कार्य मुझे एवं प्रकाशन का भार पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट को सौंपा गया।

गुरुदेवश्री के मंगल-आशीर्वाद से ही स्थापित अनेक तत्त्वप्रचार

कारण यद्यपि मैं इस स्थिति में नहीं था कि कोई नया भार लूँ, क्योंकि इसकारण मेरा स्वयं का अध्ययन, मनन, चिन्तन एवं लेखन अवरुद्ध होता है; तथापि गुरुदेवश्री के प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करने के इस सुअवसर का लोभ-संवरण मुझसे नहीं हो सका।

इसके सम्पादन में मैंने आत्मधर्म के सम्पादन से प्राप्त अनुभव का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। आत्मधर्म में पाँच वर्ष से लगातार प्रतिमाह गुरुदेवश्री के लगभग २०-२२ पृष्ठ तो दे ही रहा हूँ। उनके सम्पादन से गुरुदेवश्री के प्रतिपाद्य और प्रतिपादन शैली से मेरा घनिष्ठ परिचय हो गया है। इसकारण मुझे यद्यपि इसके सम्पादन में अधिक श्रम नहीं उठाना पड़ा है; तथापि इसके सम्पादन में मुझे अभूतपूर्व वचनातीत लाभ मिला है। गुरुदेवश्री के हृदय को अन्तर से जानने का अवसर मिला है। जो लाभ उनकी वाणी को पढ़ने और सुनने से भी सम्भव न हुआ था, वह लाभ इसके सम्पादन से प्राप्त हुआ है। इसका कारण यह है कि उपयोग की स्थिरता जितनी इसके सम्पादन के काल में रही है, उतनी सहज पढ़ने या सुनने में नहीं रहती है। जितनी गहराई में जाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र के मर्म को खोला है, उतनी गहराई में उपयोग के न पहुँच पाने से वह मर्म सहज पकड़ में नहीं आता है। अपने इस अनुभव के आधार पर तत्त्वप्रेमी पाठकों से अनुरोध करना चाहूँगा कि वे यदि इस रत्नाकर के रत्न पाना चाहते हैं तो उपयोग को सूक्ष्म कर, स्थिर कर इसका स्वाध्याय करें, अन्यथा उनके हाथ कुछ न लगेगा।

इसके सम्पादन में गुजराती में प्रकाशित 'प्रवचनरत्नाकर' के मूल माल को अक्षुण्ण रखते हुए कुछ आवश्यक परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये गए हैं। उनका उल्लेख करना इसलिए आवश्यक है कि जिससे गुजराती से मिलान करके अध्ययन करनेवाले पाठकों को कोई असुविधा न हो।

सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात तो यह है कि गुजराती में जीवाजीवाधिकार को तीन भागों में बाँटा गया है, जबकि हिन्दी प्रवचनरत्नाकर में दो भागों में ही विभाजित किया गया है। इस विभाजन में विषयवस्तु को तो ध्यान में रखा ही गया है, साथ में यह भी उचित लगा कि इतने विशाल ग्रन्थ का जो कि अनेक भागों में प्रकाशित किया जाना है, प्रत्येक भाग कम से कम लगभग चार सौ पृष्ठों का तो होना ही चाहिए। छोटे-छोटे वाल्यूम बनाने

में विषयवस्तु तो बार-बार टूटती ही है, साथ में जिल्द का अनावश्यक खर्च भी बढ़ता है।

प्रवचन की भाषा में अनावश्यक टेढ़ें भी बहुत होती हैं तथा पुनरुक्ति भी बहुत पाई जाती हैं। सामान्य लोगों को भी सरलता से समझ में आ जाय — इस दृष्टि से जहाँ तक सम्भव हुआ, वाक्यों का गठन सीधा व सरल कर दिया गया है; पर इस प्रक्रिया में गुरुदेवश्री के प्रवचन की टोन समाप्त न हो जावे — इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। पुनरुक्ति भी कम की गई है, पर बहुत कम। जहाँ बहुत अधिक पिष्ट-पेषण था वहाँ ही कुछ कम किया गया है।

गुजराती का एक पेज हिन्दी के भी प्राय: एक पेज में ही आ गया है। ग्रंथ की साइज का अन्तर अक्षरों की साइज के अन्तर से समायोजित हो गया है।

हिन्दी प्रकाशन में मूल ग्रन्थ संस्कृत व हिन्दी टीका सहित दिया गया है, जबकि गुजराती में संस्कृत टीका नहीं दी गई है। साथ में हिन्दी पद्यानुवाद भी दिया गया है। और भी छोटी-छोटी बहुतसी बातें हैं, जिनका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे सब अध्ययन करने पर पैनी दृष्टिवाले पाठकों को सहज समझ में आ जावेंगी।

मैंने इस अनुवाद को मूल से मिलान करके बहुत गहराई से देखा है। इसके मर्म की गहराई को पाने के लिए भी, और इसके प्रामाणिक प्रकाशन के लिए भी। फिर भी छद्मस्थों से त्रुटियाँ रह जाना असम्भव नहीं है। अत: सुधी पाठकों से सावधानीपूर्वक अध्ययन करने का अनुरोध है।

प्रकाशन सम्बन्धी छोटी-छोटी त्रुटियों की उपेक्षा की अपेक्षा के साथ-साथ सविनय यह अनुरोध है कि यदि कोई भावसम्बन्धी भूल दिखाई दे तो मुझे सुझाने की अनुकम्पा अवश्य करें, जिससे आगामी संस्करणों में सुधार किया जा सके।

— (डॉ.) हुकमचन्द भारिल्ल

अनुवादक की ओर से

जब परमपूज्य आचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों पर हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के गूढ़, गम्भीर और गहनतम, सूक्ष्म, तलस्पर्शी प्रवचनों का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद करने के लिए मुझसे कहा गया तो मैं असमंजस में पड़ गया। मेरी स्थिति साँप-छछूँदर जैसी हो गई। मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि यह प्रस्ताव भी मेरे पास कभी आ सकता है।

अब एक ओर तो मेरे सामने यह मंगलकारी, भवतापहारी, कल्याणकारी, आत्मविशुद्धि में निमित्तभूत कार्य करने का स्वर्ण अवसर था, जो छोड़ा भी नहीं जा रहा था; तो दूसरी ओर इस महान कार्य को आद्योपान्त निर्वाह करने की बड़ी भारी जिम्मेदारी। और मेरी दृष्टि में यह केवल भाषा परिवर्तन का सवाल ही नहीं था, बल्कि आगम के अभिप्राय को सुरक्षित रखते हुए, गुरुदेवश्री की सूक्ष्म कथनी के भावों का अनुगमन करते हुए, प्रांजल हिन्दी भाषा में उसकी सहज व सरल अभिव्यक्ति होना मैं आवश्यक मानता हूँ। अन्यथा थोड़ी-सी चूक में ही अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करके तथा दूरगामी आत्म-लाभ के सुफल का विचार कर प्रारंभिक परिश्रम और कठिनाइयों की परवाह न करके 'गुरुदेवश्री के मंगल आशीर्वाद से सब अच्छा ही होगा' — यह सोचकर अन्ततोगत्त्वा मैंने इस काम को अपने हाथ में ले लिया था। इस कार्यभार को संभालने में एक संबल यह भी था कि इस हिन्दी प्रवचन-रत्नाकर ग्रन्थमाला के प्रकाशन का कार्य पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर ने ही संभाला था और सम्पादन का कार्य डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल को सौंपा जा रहा था।

यद्यपि गुजराती भाषा पर मेरा कोई विशेष अधिकार नहीं है, तथापि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रसाद से उनके गुजराती प्रवचन सुनते-सुनते एवं उन्हीं के प्रवचनों से सम्बन्धित सत्साहित्य पढ़ते-पढ़ते उनकी शैली और भावों से सुपरिचित हो जाने से मुझे इस अनुवाद में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। प्रारम्भ में एक-दो भागों में जहाँ कहीं गुजराती भाषा का भाव समझ

में नहीं आया, वहाँ गुजराती-हिन्दी शब्दकोष के सहारे उसके भाव को स्पष्ट करता रहा हूँ। वाद के अनुवाद कार्य में तो वह भी कठिनाई नहीं हुई।

इस अनुवाद से मुझे जो आशातीत लाभ मिला, उसे मैं व्यक्त नहीं कर सकता। पूज्य गुरुदेवश्री के अभिप्राय को तथा समयसार के गम्भीर रहस्यों को — जो गुरुदेवश्री ने खोले हैं — उन्हें गहराई से समझने का अवसर मिला। गुरुदेवश्री के माध्यम से भगवत कुन्दकुन्दाचार्य और अमृतचन्द्राचार्यदेव के सूक्ष्म भावों तक पहुँचने में सहायता मिली। इस काम में आत्म-सन्तोष मिला, आनन्द भी आया; अतः यह कार्य भारभूत न होकर स्वान्तःसुखाय बन गया। आत्मशान्ति व सन्तोष ही गुरुदेवश्री का परम प्रसाद है और यही जिनवाणी की सेवा का सुफल है।

अनुवाद में गुरुदेवश्री के अभिप्राय को अक्षुण्ण रखा गया है। प्रवचनों का अनुवाद मुख्यतः शाब्दिक है, किन्तु हिन्दी वाक्यविन्यास की दृष्टि से वाक्यों का गठन हिन्दी भाषा के अनुरूप करने का प्रयत्न रहा है तथा अति आवश्यक यत्किंचित् परिवर्तन भी हुए हैं, किन्तु उनसे विषय-वस्तु और भावों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया है। जब पाठक धारा-प्रवाहरूप से इसका अध्ययन करेंगे तो भाषा की दृष्टि से भी उन्हें साहित्यिक गद्य का आनन्द आयेगा और विषयवस्तु समझने में भी सुगमता रहेगी।

यद्यपि इसके अनुवाद में मैंने पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से काम किया है, फिर भी 'को न विमुह्य निशास्त्रसंमुद्रे' की लोकोक्ति के अनुसार कहीं स्खलना हुई हो तो ध्यान आकर्षित करने का सानुरोध आग्रह है।

सभी पाठकगण इस ग्रन्थ का पुनः पुनः पारायण करके पूरा-पूरा लाभ उठायेंगे — ऐसी आशा और अपेक्षा है।

— रतनचन्द भारिल्ल

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१.	श्री वीरेन्द्र एस शाह, मद्रास	५०००.००
२.	श्रीमती नन्दूबाई ध. प. श्री बाबूलालजी भोसा, भीलवाड़ा	११०१.००
३.	श्री चाँदमलजी गदिया, भीलवाड़ा	११००.००
४.	श्री प्रवीणभाई वोरा, मद्रास	१०००.००
५.	श्री महेन्द्रभाई मणीलाल भालाणी, मुम्बई	१०००.००
६.	कु. प्रीति जैन सुपुत्री अशोककुमारजी जैन, कलकत्ता	१०००.००
७.	श्री विमलकुमारजी जैन 'नीरू केमिकल्स', दिल्ली	१०००.००
८.	स्व. श्री मयूरभाई सिंघवी हस्ते सुशीलावेन सिंघवी, मुम्बई	१०००.००
९.	श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	१०००.००
१०.	श्री श्रीपालजी जैन, उदयपुर	१०००.००
११.	श्रीकुन्दकुन्द दिगम्बर जैन मुमुक्ष मण्डल, मुम्बई	१०००.००
१२.	पाण्डे श्रीराजाराम मिट्ठानीबाई, फिरोजाबाद	१०००.००
१३.	श्रीमती साकरवेन हँसराजभाई भारो, मुम्बई	१०००.००
१४.	श्री पन्नालालजी, शान्तिलालजी जैन, मुम्बई	१०००.००
१५.	श्री प्रकाशचन्दजी गम्भीरमल जैन (सेमारीवाले), अहमदबाद	७५१.००
१६.	श्री प्रेमचन्दजी जैन, जयपुर	५०१.००
१७.	श्रीमती प्रेमलता जैन ध.प. श्री धनकुमारजी अजमेरा, उज्जैन	५०१.००
१८.	श्री माँगीलालजी मिट्ठालालजी वोरा, मिण्डार	५०१.००
१९.	श्रीमती कनकमाला जैन ध.प. श्री शान्तिलालजी जैन, नागदा	५००.००
२०.	श्री उल्लासभाई एम जोबालिया, मुम्बई	५००.००
२१.	श्रीमती इन्द्रिरा आर मेहता, मुम्बई	५००.००
२२.	श्री महावीरप्रसादजी सरावगी, कलकत्ता	५००.००
२३.	श्री नरेन्द्रकुमारजी धीरेन्द्रकुमारजी जैन, कलकत्ता	५००.००
२४.	श्रीमती भँवरीबाई घीसालालजी छाबड़ा, सीकरवाले	५००.००
२५.	श्री माणकलालजी ठाकुरिया, उदयपुर	५००.००
२६.	श्रीमती राजेश जयन्तीलाल दोशी, मुम्बई	५००.००

२७.	श्री नितिनभाई, मुम्बई	५००.००
२८.	श्री कैलाशचन्दजी जैन, वापी	५००.००
२९.	श्री कमलकुमार राय जैन, वापी	५००.००
३०.	श्रीमती सुशीलाबेन शान्तिलालजी जैन, मुम्बई	५००.००
३१.	श्री मोहनलालजी लुहाड़िया, भीलवाड़ा	५००.००
३२.	श्री गुलाबचन्दजी शाह, भीलवाड़ा	५००.००
३३.	श्री विनोदकुमारजी अजमेरा, भीलवाड़ा	५००.००
३४.	श्रीमती निर्मलादेवी ध.प. महावीरजी चौधरी, भीलवाड़ा	५००.००
३५.	श्री राकेशजी सेठी इम्फालवाले, भीलवाड़ा	५००.००
३६.	श्रीमती अंजनादेवी ध.प. माणकचंदजी कासलीवाल, भीलवाड़ा	५००.००
३७.	श्रीमती नरकुलबाई ध.प. स्व. किशनचंदजी गंगवाल, भीलवाड़ा	५००.००
३८.	श्री सागरमलजी टोंग्या, भीलवाड़ा	५००.००
३९.	श्री सोहनलालजी भोसा, भीलवाड़ा	५००.००
४०.	श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध. प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	२५१.००
४१.	ब्र. श्री हीरालाल खुशालचन्दजी दोशी, माण्डवे	२५१.००
४२.	श्री प्रहलादकुमारजी जैन, भीलवाड़ा	२५०.००
४३.	श्री अजितकुमारजी शान्तिलालजी चौधरी, भीलवाड़ा	२०१.००
४४.	श्री माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी	२०१.००
४५.	श्री सुरेशचन्दजी सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर	२०१.००
४६.	श्री कुन्दकुन्द मूलचन्द फैमिली चै. ट्रस्ट, अजमेर	२००.००
४७.	श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	१५१.००
४८.	श्री केवलचन्दजी जैन, गुना	१०१.००
४९.	श्रीमती सुशीला गोधा ध.प. नाथूलालजी गोधा, कोटावाले	१०१.००
५०.	श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	१०१.००
५१.	श्री नथमलजी झाँझरी, जयपुर	१००.००
	कुल राशि	३३०६४.००

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम् ।

(मन्दाक्रान्ता)

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चि-
ष्टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥ १९३ ॥

(दोहा)

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम ।
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम ॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि - "अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।"

मोक्षतत्त्व के स्वाँग के निकल जाने के बाद सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रंगभूमि में जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष - ये आठ स्वाँग आये; उनका नृत्य हुआ और वे अपना-अपना स्वरूप बताकर निकल गये। अब सर्व स्वाँगों के दूर होने पर एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, मंगलरूप से ज्ञानपुञ्ज आत्मा की महिमा का काव्य कहते हैं :—

श्लोकार्थ : [**अखिलान् कर्तृ-भोक्तृ-आदि-भावान् सम्यक् प्रलयम् नीत्वा**] समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके [**प्रतिपदम्**] पद पद पर (अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से होने वाली प्रत्येक पर्याय में) [**बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः दूरीभूतः**

] बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ, [शुद्धः शुद्धः] शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादि मल तथा आवरण से रहित,) [स्वरस-विसर-आपूर्ण-पुण्य-अचल-अर्चिः] जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के (ज्ञान रस के, ज्ञानचेतनारूपी रस के) विस्तार से परिपूर्ण है ऐसा, और [टंकोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा] जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है ऐसा यह, [अयं ज्ञानपुञ्जः स्फूर्जति] ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।

भावार्थ : शुद्धनय का विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भावों से रहित है, बन्धमोक्ष की रचना से रहित है, परद्रव्य से और परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से शुद्ध है, निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है। ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है॥ १९३॥

कलश १९३ पर प्रवचन

अहा...... । जिस धर्मी जीव की दृष्टि अपने स्वयं के अन्दर विराजमान त्रिकाली, शुद्ध, एक चैतन्य स्वरूप भगवान आत्मा पर पहुँच गई है तथा जिसकी दृष्टि में पर्याय में होने वाले दया-दान, व्रत-भक्ति आदि रागादि भावों का कर्ता-भोक्तापन नहीं रहा है, उस धर्मी जीव के कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक पर्याय में वन्ध-मोक्ष की रचना नहीं होती और वह सम्पूर्ण रूप से शुद्ध होकर ज्ञान-चेतना रस से भरपूर ज्ञानपुंज भगवान आत्मा को प्रगट कर लेता है।

वह चैतन्यभावस्वरूप वस्तु अन्दर में प्रत्येक पर्याय में वंध-मोक्ष की रचना से रहित है, त्रिकाली ध्रुव द्रव्यस्वरूप आत्मा वंध-मोक्ष की रचना से दूर ही वर्तता है। चैतन्यमय भगवान आत्मा बंध व मोक्ष दोनों दशाओं की रचना से रहित है।

मिथ्यात्व का पहला गुणस्थान हो अथवा अयोग केवली का चौंदहवाँ गुणस्थान हो, नरक दशा हो या तिर्यंच, मनुष्य दशा हो; भगवान आत्मा प्रत्येक पर्याय की रचना से रहित है। आत्मा तो अकेला चैतन्य द्रव्य है, सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु पर्याय से त्रिकाल भिन्न है।

इस देह में रहने वाला भगवान आत्मा देह से और द्रव्य कर्मों से तो भिन्न है ही, भगवान आत्मा की एक समय की दशा में हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना आदि पाप के तथा दया-दान, व्रतादि पुण्य के जो भाव होते हैं, उनसे भी भिन्न वस्तु है।

आ हा हा……। जो चौदह गुणस्थानों से भिन्न है – ऐसे अपने शुद्ध आत्मा को स्वीकार करके उसी में लीन होने पर पर्याय में से मलिनता नाश होती है और निर्मलता उत्पन्न होती है। बस इसी का नाम धर्म और मोक्ष का मार्ग है।

कलश में "शुद्धः शुद्धः" ऐसा कहा है न? उसका अर्थ ही यह है कि आत्मद्रव्य ध्रुववस्तु अन्दर में रागादि मैल से रहित परमपवित्र है, अत्यन्त शुद्ध है। यद्यपि वह त्रिकाली आत्मद्रव्यज्ञानानन्दरस से भरा हुआ है, परन्तु यह जीव उसके भान बिना अनन्त काल से चौरासी में अवतार धारण करके दुःखी हो रहा है। अनंत अनन्त भवों में अकथनीय वेदना से पीड़ित हो रहा है। अनन्तानन्त काल में यह जीव अनन्त बार तो नग्न दिगम्बर साधु तक हो चुका है, फिर भी इसने अपने उस ध्रुव त्रिकाली आत्मा को नहीं पहचाना, जो इन विकारी भावों से भिन्न शुद्ध एक चैतन्यरस से भरा हुआ है। उस शुद्धात्म स्वरूप की दृष्टि नहीं की, उस सच्चिदानन्द की मूर्ति आत्मप्रभु को जानने, पहचानने एवं उस पर दृष्टि केन्द्रित करने की दरकार नहीं की; इस कारण आज तक उस ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की उपलब्धि नहीं हुई। अरे भाई! अन्तर्दृष्टि के बिना अज्ञानी की सारी बाह्य क्रियायें निरर्थक हैं।

यहाँ कहते हैं कि भगवान परम पवित्र, अचल, निजानन्द रस से भरपूर है। इसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है। अहाहा…… ! भगवान आत्मा अपने स्वरूप से सदा अविचलित एक शुद्ध ज्ञानप्रकाश का पुंज है, स्वानुभवगम्य है, स्वसंवेद्य है।

जगतजन ऐसे भगवान आत्मा के स्वरूप को तो जानते नहीं हैं और बाह्य व्रत, तप, दान, भक्ति आदि को ही धर्म मानकर इन्हीं में अटक गये हैं। जबकि ये सब तो शुभराग की क्रियायें हैं। इन स्थूल राग की क्रियाओं से अतीन्द्रिय सूक्ष्म चैतन्य महाप्रभु कैसे प्राप्त हो सकता है? ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा

स्थूल शुभराग के भाव से जाना ही नहीं जा सकता। राग तो क्या ? चौदह गुण-स्थान आदि के पर्याय भेद से ही भिन्न भगवान आत्मा एक मात्र स्वानुभव में - स्वसंवेदन ज्ञान में ही प्रगट होता है, जाना जाता है। ऐसा ही इसका स्वभाव है।

प्रश्न : यह ठीक है, पर गुणस्थानादि पर्यायें रहतीं तो आत्मा में ही हैं न?

समाधान : हाँ, पर्यायें कहीं चली नहीं जातीं। परंतु पर्यायें पर्यायों में ही रहती हैं और यहाँ तो त्रिकाली द्रव्यस्वभाव शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु की बात है। इसलिये कहते हैं कि अरे भाई ! यह स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी व नारकी आदि का शरीर (संयोगी अवस्था) को मत देख ! यह शरीर तो जड़ है और तीन लोक का नाथ भगवान आत्मा अन्दर में इन सब संयोग व संयोगी भावों से भिन्नपने विराज रहा है।

इसप्रकार प्रत्येक पर्याय में पर्याय से भिन्न चैतन्य रस का पुंज प्रभु आत्मा गुणस्थान आदि के भेदों से भिन्न ही है और वह स्वभाव के आश्रय से ही प्रगट होता है।

कलश १९३ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्धनय का विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा कर्ता-भोक्तापने के भाव से रहित है, बंध-मोक्ष की रचना से रहित है।

अहा! ज्ञायकस्वभावी ज्ञान का पुंज कर्तृत्व-भोक्तृत्व भावों से रहित प्रज्ञा-ब्रह्मस्वरूप प्रभु आत्मा शुद्धनय का विषय है।

देखो, शरीर, मन, वाणी आदि परद्रव्य का करना व भोगना तो इस शुद्ध आत्मद्रव्य को है ही नहीं, इससे भी आगे इस आत्मा की समय-समय की पर्यायों में जो दया-दान आदि व हिंसादि के शुभाशुभ विकल्प उठते हैं, उन विकल्पों का करना व भोगना भी इस शुद्ध आत्मद्रव्य के स्वभाव में नहीं है।

आत्मद्रव्य का ऐसा स्वभाव ही नहीं है, उसमें ऐसा कोई गुण या शक्ति ही नहीं है कि जिससे वह राग को करे और राग को भोगे। स्वभाव से ही शुद्ध आत्मवस्तु कर्ता-भोक्ता के भावों से रहित है।

शुद्ध आत्मद्रव्य चिदानन्दघन प्रभु बंध-मोक्ष की रचना से भी रहित है।

देखो, भगवान आत्मा शरीर-मन-वाणी-इन्द्रिय और देव-गुरु-शास्त्र आदि परवस्तु से तो भिन्न है ही, परवस्तु के निमित्त से हुये पुण्य-पापरूप शुभाशुभ भावों से भी भिन्न है।

आनन्द का सागर चैतन्य मूर्ति प्रभु इन सबसे भिन्न है, इस कारण शुद्ध है तथा वह आत्मा अपने स्वरस से पूर्ण देदीप्यमान ज्योतिरूप है।

आ हा हा······! एक कलश में ही आचार्यदेव ने कितना तत्त्व (रस) भर दिया है। कहते हैं कि - भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य की पूर्ण देदीप्यमान ज्योतिरूप निजरस से भरा त्रिकाल ध्रुव-ध्रुव प्रवाह रूप है।

अरे ! अपनी वस्तु कितनी महिमावंत है, कितनी कल्याणकारी है; इसकी खबर न होने से यह अज्ञानी जीव अनन्त काल से संसार में भ्रमण कर रहा है। अनन्त बार तो यह मनुष्य भी हुआ, फिर भी इसने अपने निज वैभव सम्पन्न स्वरूप को जानने- पहचानने की परवाह नहीं की, गर्ज नहीं की। धर्म के नाम पर व्रत, तप, भक्ति-पूजा आदि क्रियायें करके अपने को धर्मात्मा मानता रहा। पर सचमुच धर्म की तो अभी शुरूआत ही नहीं हुई। अपने को जाने बिना धर्म हो भी कहाँ से ? यदि ये सब क्रियाएँ कषायों की मन्दता में हों तो पुण्यबन्ध अवश्य होता है; पर इन शुभभाव स्वरूप बाह्य क्रियाओं से धर्म तो किंचित् भी नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि - ऐसे पुण्य के भावों से भी सच्चिदानन्दमय ज्ञानपुंज प्रभु आत्मा भिन्न वस्तु है और वह स्वानुभव से प्रगट होती है।

(अनुष्टुभ्)

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः॥ १९४॥

अब सर्वविशुद्ध ज्ञान को प्रगट करते हैं। उसमें प्रथम, 'आत्मा कर्ता-भोक्ता भाव से रहित है' इस अर्थ का, आगामी गाथाओं का सूचक श्लोक कहते हैं :

श्लोकार्थ : [कर्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः न] कर्तृत्व इस चित्स्वरूप आत्मा का स्वभाव नहीं है, **[वेदयितृत्ववत्]** जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है। **[अज्ञानात् एव अयं कर्ता]** वह अज्ञान से ही कर्ता है, **[तद्-अभावात् अकारकः]** *अज्ञान का अभाव होने पर अकर्ता है॥ १९४॥*

कलश १९४ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

अनन्त गुणों से भरपूर चित्स्वरूप भगवान आत्मा में ऐसा कोई गुण व स्वभाव ही नहीं है कि जिससे वह राग को करे या भोगे। अतः जिस तरह रागादि का भोक्तापन इसका स्वभाव नहीं है; उसी तरह राग के करने का भी इसका स्वभाव नहीं है।

परंतु जिसकी ऐसी मान्यता हो कि चाय, कॉफी या बीड़ी, सिगरेट पीने से स्फूर्ति आ जाती है, बेचैनी कम हो जाती है; उसके हृदय में पर के अकर्तृत्व व अभोक्तृत्व की बात कैसे बैठे?

किसी की समझ में बैठे या न बैठे; परंतु बात तो ऐसी ही है। यही बात चौकस है कि भगवान आत्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। उसकी एक समय की पर्याय के अस्तित्व में जो दया-दान-भक्ति-पूजा आदि का राग होता है, उस रागभाव का वह मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, कर्ता-भोक्ता नहीं।

अहा! इस चित्स्वरूप आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि जहाँ इसकी अन्तर्दृष्टि हुई, वहीं स्वयं को जानने वाली ज्ञान पर्याय राग को भी जानती है। पर वह राग सम्बन्धी ज्ञान पर्याय भी अपनी स्वयं प्रकाश के सामर्थ्य से अपने

कारण हुई है। उस ज्ञान पर्याय का कर्ता आत्मा पर या राग का कर्ता कदापि नहीं है।

(भाई! अज्ञान से ही आत्मा को पर का कर्ता व भोक्ता कहा जाता है। अज्ञान का अभाव होने पर आत्मा सदैव अकर्ता ही है।)

आत्मा स्वभाव से तो अकर्ता ही है, परंतु जब ये स्वभाव का भान करें, तभी न इसे यह बात समझ में आयेगी। जब तक राग की रुचि है, तब तक तो अज्ञान ही है। और अज्ञान भाव से ही यह रागादि का कर्ता है। स्वभाव की रुचि से जब अज्ञान का अभाव हो तब अकर्ता होता है। इसलिये अपनी राग की रुचि को छोड़कर आत्मा में रुचि उत्पन्न करो।

भाई! राग की रुचि रखकर अज्ञानी जीव चाहे कितना भी दुर्द्धर तप, व्रत आदि आचरण करे तो भी शास्त्र में उसे नपुंसक ही कहा जाता है; (क्योंकि जिस तरह नपुंसक के संतान नहीं होती), (उसी तरह राग की रुचिवालों को भी धर्मरूपी संतति (पर्याय) उत्पन्न नहीं होती।)

अतः पवित्रता के पिण्ड ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी प्रभु आत्मा को पर्याय में कर्तापना होना कलंक है। इसलिये हे भाई ! राग की रुचि छोड़कर स्वभाव की रुचि करो। उससे अज्ञान का अभाव होकर पर्याय में प्रत्यक्ष-साक्षात् अकर्ता हो जायेगा।

समयसार गाथा ३०८ से ३११

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टांतपुरस्सरमाख्याति —

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धि दु ण दीसदे अण्णा ॥ ३११ ॥

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत् ।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।
तं जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥ ३०९ ॥
न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।
उत्पादयति न किंचिदपि कारणमपि तेन न स भवति ॥ ३१० ॥
कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।
उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥ ३११ ॥

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव; न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कङ्कणादिपरिणामैः काञ्चनवत्। एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति; तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति। अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते।

अब आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, उनसे जान अनन्य वो ।
है जगत में कटकादि, पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों ॥ ३०८ ॥

जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रों विषैं जिनवर कहे ।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से ॥ ३०९ ॥
उपजै न आत्मा कोइ से, इससे न आत्मा कार्य है ।
उपजावता नहिं कोइ को, इससे न कारण भी बने ॥ ३१० ॥
रे ! कर्म आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के ।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धि दिखै ॥ ३११ ॥

गाथार्थ : [यत् द्रव्य] जो द्रव्य [गुणैः] जिन गुणों से [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [तैः] उन गुणों से [तत्] उसे [अनन्यत् जानीहि] अनन्य जानो; [यथा] जैसे [इह] जगत में [कटकादिभिः पर्यायैः तु] कड़ा इत्यादि पर्यायों से [कनकम्] सुवर्ण [अनन्यत्] अनन्य है वैसे।

[जीवस्य अजीवस्य तु] जीव और अजीव के [ये परिणामाः तु] जो परिणाम [सूत्रे दर्शिताः] सूत्र में बताये हैं, [तैः] उन परिणामों से [तं जीवम् अजीवं वा] उस जीव अथवा अजीव को [अनन्यं विजानीहि] अनन्य जानो।

[यस्मात्] क्योंकि [कुतश्चिद् अपि] किसी से भी [न उत्पन्नः] उत्पन्न नहीं हुआ [तेन] इसलिये [सः आत्मा] वह आत्मा [कार्यं न] (किसी का) कार्य नहीं है, [किंचिद् अपि] और किसी को [न उत्पादयति] उत्पन्न नहीं करता [तेन] इसलिये [सः] वह [कारणम् अपि] (किसी का) कारण भी [न भवति] नहीं है।

[नियमात्] नियम से [कर्म प्रतीत्य] कर्म के आश्रय से (-कर्म का अवलम्बन लेकर) [कर्ता] कर्ता होता है; [तथा च] और [कर्तारं प्रतीत्य] कर्ता के आश्रय से [कर्माणि उत्पद्यंते] कर्म उत्पन्न होते हैं; [अन्या तु] अन्य किसी प्रकार से [सिद्धिः] कर्ताकर्म की सिद्धि [न दृश्यते] नहीं देखी जाती।

टीका : प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसीप्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होने वाले ऐसे) सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्यकारण भाव के) सिद्ध न होने पर, अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता; और उसके (-अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्त्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्षतया (अन्यद्रव्य से निरपेक्षतया, स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से जीव के अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिये जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

भावार्थ : सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं; वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ताकर्मसंबंध नहीं है। इसलिये जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसीप्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है।

गाथा ३०८ से ३११ एवं टीका पर प्रवचन

अब अगली तीन गाथाओं में आत्मा का अकर्तापन दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं।

''प्रथम तो जीव अपने क्रमबद्ध परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं ......''

मूल संस्कृत में ''तावत्'' शब्द पड़ा है, जिसका अर्थ है ''प्रथम तो'' अर्थात् मूल में बात यह है कि जीव में प्रत्येक समय जो पर्याय होती है, वह क्रमबद्ध है। ऐसी प्रति समय होने वाली त्रिकाल की सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं। जिसतरह माला में मनका अपने-अपने निर्धारित स्थान पर होते हैं उन्हें आगे-पीछे नहीं किया जा सकता; उसीप्रकार जीव द्रव्य में प्रतिसमय होने वाली त्रिकाल की सभी पर्यायें, जिसका जो काल है, वे सब अपने-अपने में ही उत्पन्न होतीं हैं, उन्हें आगे-पीछे नहीं किया जा सकता। इसप्रकार प्रत्येक जीव की सभी पर्यायें अपने-अपने काल में क्रमबद्ध ही उत्पन्न होती हैं, आगे-पीछे नहीं।

जैन शासन का यह अद्भुत सिद्धान्त जिनके समझ में नहीं आता, वे कहते हैं कि ''पर्यायें एक के बाद एक होती हैं — यह तो बराबर है, परंतु अमुक पर्याय के बाद अमुक पर्याय ही होगी — ऐसी क्रमबद्धता कैसे हो सकती है?

उन्हें समझाते हैं कि "द्रव्य में जो पर्याय जिस काल में होने योग्य होती है, वही पर्याय उस काल में क्रमबद्ध रूप से होती है।"

देखो न! यहाँ टीका में भी आचार्य अमृतचन्द कहते हैं -

"जीवो हि तावत् क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानत्वात् जीव एव, नो अजीव ....। यहाँ जो "क्रमनियमित" शब्द है, उससे क्रम तो सिद्ध है ही, साथ ही क्रम से नियमित यह भी स्पष्ट है। "क्रमनियमित" शब्द यह बताता है कि द्रव्य के इस समय होने योग्य यही पर्याय होगी - ऐसा निश्चित है।

यहाँ पूछते हैं कि भाई। तू भगवान सर्वज्ञदेव को मानता है या नहीं?

अहाहा ....! तीन काल तीन लोक को एक समय में एक साथ प्रत्यक्ष जानने वाले भगवान सर्वज्ञदेव को यदि तू मानता है तो प्रत्येक द्रव्य में समस्त पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं - ऐसा स्वतः सिद्ध हो जाता है। भगवान सर्वज्ञदेव के ज्ञान में सभी द्रव्यों की तीनों कालों की पर्यायों का क्रम निश्चित है।

यहाँ शिष्य पुनः पूछता है कि - यह तो ठीक है, परन्तु इसतरह सभी पर्यायों को क्रमबद्ध मानने पर धर्म करने के लिये पुरुषार्थ करने की बात ही नहीं ठहरती है? क्या ऐसी मान्यता से पुरुषार्थ का लोप नहीं हो जायेगा?

समाधान : भाई! 'क्रमबद्ध' का निर्णय करने वाले की दृष्टि त्रिकाली शुद्ध एक निज ज्ञायक स्वभावी आत्मा पर होती है। भाई! क्रमबद्ध का निर्णय पर्याय के आश्रय से नहीं होता। जब ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि जाये तभी क्रमबद्ध का निर्णय होता है। क्रमबद्ध का निर्णय त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकतत्व के आश्रय का पुरुषार्थ करने पर ही होता है और इसी का नाम धर्म का सम्यक् पुरुषार्थ है।

इससे हम देखते हैं कि क्रमबद्ध के निर्णय से पुरुषार्थ का लोप नहीं होता; बल्कि जीवन में सम्यक् पुरुषार्थ का उदय ही क्रमबद्ध के निर्णय से होता है। एक तो 'क्रमबद्ध' के निर्णय में कर्ताबुद्धि टूट जाती है तथा स्वभाव के प्रति सम्यक् पुरुषार्थ जागृत हो जाता है।

देखो, यहाँ पहले जीव की पर्यायों की बात कही है। जीव जाननहार ज्ञायक तत्व है न ? अपनी जो भी पर्यायें होती हैं, वह उनका जाननहार ज्ञाता-दृष्टा है, इसलिये प्रथम जीव की बात करके तत्पश्चात् अजीव की बात की है।

अजीव में भी पर्यायें तो सब क्रमबद्ध ही होती हैं, परन्तु जड़ पदार्थों को उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है, उसका जाननहार भी जीव ही है। जीवों को जब आत्मज्ञान होता है, तब वे जानते हैं कि अपने में जो क्रमबद्ध पर्यायें होती हैं, मैं उनका ज्ञाता हूँ तथा जड़ में (अजीव में) जो पर्यायें होती हैं, उनका भी मैं ज्ञाता-दृष्टा ही हूँ, कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ।

अहा! जिनको त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकस्वभाव की अन्तर्दृष्टि हुई है, उन जीवों को पर्याय में भूमिकानुसार जो अपने क्रमबद्ध में रागादि भाव होते हैं, उनका कर्तापना उन्हें नहीं होता। वे उन भावों के मात्र ज्ञाता ही रहते हैं, केवल साक्षी भाव से उन्हें जानते ही हैं। अहो! ज्ञानी जनों की, धर्मी पुरुषों की ऐसी ही कोई अलौकिक अन्तर्दशा हो जाती है। इसके विपरीत अज्ञानी जीव अपने निज ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव मात्र आत्मा को नहीं जानते, इस कारण क्रमबद्ध पर्यायों में जो-जो रागादि भाव होते हैं, वे इन भावों के कर्ता बनते हैं। इस कारण वे दीर्घ संसार में रखड़ते हैं।

ऐसे जीवों को सम्बोधित करते हुये कहते हैं कि अरे भाई! तेरा अनन्त काल इस चतुर्गति परिभ्रमण में ही बीता है। चौरासी लाख योनियों की प्रत्येक योनि में अनन्त-अनन्त बार जन्म-मरण हुआ है पर आज तक तूने इस भवभ्रमण से छूटने का कभी विचार ही नहीं किया।

अपने स्वरूप के भान बिना जीव नरक, तिर्यंच, कीड़ा-मकोड़ा तथा पृथ्वीकाय आदि निकृष्ट योनियों में जन्म-मरण करता है।

भाई! आचार्यदेव तेरे इस भयंकर दुःख को दूर करने का उपाय बताते हैं। वे कहते हैं - "प्रथम तो जीव क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं" यह मूल मुद्दे की बात है। भगवान आत्मा अनन्त गुणों का वास्तु (गोदाम) है, वस्तुरूप से तो आत्मा पर्यायों से भिन्न ही है। ऐसा होते हुये भी उसका पर्याय रूप से जो परिणमन होता है, वह व्यवस्थित है, अवस्थायें क्रमबद्ध होती हैं, वे आगे-पीछे या अव्यवस्थित नहीं हैं। जिसतरह मोती की माला में अपने-अपने स्थानों में बिंधे हुये मोतियों को आगे-पीछे करें तो माला टूटे नहीं यह संभव नहीं है; उसीतरह द्रव्य में अपने-अपने

अवसर में स्वकाल में प्रकट होने वाली पर्यायों में यदि क्रमभंग हो जाय अर्थात् पर्यायों को किसी के प्रयासों से आगे-पीछे कर दिया जाये तो माला की भांति द्रव्य ही बिखर जायेगा, द्रव्य की सत्ता ही नहीं रहेगी।

कहने का तात्पर्य यह है कि अपने-अपने अवसरों में - स्वकाल में प्रगट होने वाली पर्यायों को यदि कोई अपनी इच्छानुसार समय के पूर्व या समय के बाद आगे-पीछे करना माने तो उसकी यह मान्यता ही विपरीत है, मिथ्या है। वास्तव में तो द्रव्य में जो पर्यायें जिस समय होनी होती हैं, वे उसी समय होती हैं।

ध्यान रहे, क्रमबद्धपर्याय का स्वरूप सुनकर यदि कोई स्वच्छन्दता से पाप का पोषण करे तो यह उसका अज्ञान है और सिद्धान्त का दुरुपयोग है, क्योंकि यह सिद्धान्त तो स्वच्छंदता को मिटाने वाला है।

मानो कि एक बालक ने गुस्से में आकर दूसरे बालक के गाल पर जोर की थप्पड़ जड़ दी। देखने वाले मध्यस्थ व्यक्ति ने थप्पड़ मारने वाले को डाँट-फटकार लगाते हुये पूछा कि तुमने इस निर्दोष बालक को थप्पड़ क्यों मारा? उत्तर में वह थप्पड़ लगाने वाला बालक कहता है कि - "जिस काल में, जिसके निमित्त से जो होने वाला था, वही हुआ। मैंने इसमें किया ही क्या है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर ही क्या सकता है?" तो उस बालक द्वारा ऐसा कहना किसी भी दृष्टि से सही नहीं है। यद्यपि शरीर में उस समय जो क्रिया होनी थी, वही हुई परन्तु उसकी क्रमबद्ध में जो मारने का भाव हुआ, उस भाव का कर्ता तो बालक स्वयं ही है न? क्योंकि वह स्वयं क्रोध भाव से परिणमित हुआ है। जो जिस भाव से परिणमित होता है, वह उस भाव का कर्ता अवश्य होता है। वह बालक स्वयं तो थप्पड़ मारने के भाव से कर्ता होकर परिणमित हुआ है और दोष से बचने के लिये क्रमबद्ध की आड़ लेता है, तो वह पूर्ण स्वच्छन्दी मिथ्यादृष्टि है। उसे क्रमबद्ध का यथार्थ ज्ञान व श्रद्धा नहीं है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा वाले व्यक्ति का व्यवहार स्वच्छन्द नहीं होता।

भगवान की वाणी का सार तो एक मात्र वीतरागता है। पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका में कहा है कि - विस्तार से विराम लो, जयवंत वर्ते वीतरागता, जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्र तात्पर्यभूत है।

अतः हमें यह विचार करना चाहिए कि वीतरागता कैसे प्रगट हो? अरे! एकमात्र त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायक की दृष्टि ही वीतरागता प्रगट होने का साधन है।

यदि कोई क्रमबद्ध की आड़ लेकर कहे कि वीतरागता की पर्याय जिस काल में उत्पन्न होना होगी, उसी काल में वह उत्पन्न होगी। सो यद्यपि वात तो ऐसी ही है, परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसा निर्णय किसके सम्मुख होकर किया है? जिसने त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायकस्वरूपी आत्मा के सन्मुख होकर अपने स्वरूप का निर्णय किया, उसको तो क्रमबद्ध का यथार्थ निर्णय व श्रद्धा हो ही जाती है तथा उसी की क्रमबद्धपर्याय में वीतरागता होती है।

जो स्वयं राग की रुचि तो छोड़ते नहीं हैं और दूसरों से सुन-सुनाकर ऊपर-ऊपर से क्रमबद्ध की वातें करने लगते हैं कि - "जब जो होना होगा, सो होगा" - ऐसा कहने वाले भी घोर मिथ्यादृष्टि हैं। उनके क्रमबद्ध में तो राग का ही अज्ञानमय परिणमन हुआ करता है।

देखो, सम्पूर्ण आत्मवस्तु द्रव्य-पर्याय स्वरूप है। उसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुणों से रचित त्रिकाली ध्रुव जो द्रव्यमात्र है, वह तो द्रव्य है तथा प्रति समय उत्पादव्यय रूप पलटती जो अवस्थायें हैं, वे पर्यायें हैं। इन द्रव्य-गुण पर्याय में गुण अक्रम अर्थात् एक साथ रहने वाले हैं, सहवर्ती हैं और पर्यायें क्रमवर्ती हैं। वे पर्यायें एक के वाद एक होतीं हुईं क्रमबद्ध होतीं हैं।

तात्पर्य यह है कि जीव में जो पर्यायें जिस समय होनी होती हैं, वे अपने स्व-अवसर में ही प्रकट होतीं हैं। वर्तमान में जो पर्याय प्रगट होती है, वही उस पर्याय की उत्पत्ति का काल है। उस पर्याय का वही जन्मक्षण है। प्रत्येक समय में उत्पन्न होने वाली सभी पर्यायें अपने जन्मक्षण में ही होतीं हैं। यद्यपि वात सूक्ष्म है, पर सर्वज्ञदेव के द्वारा जानी, देखी और कही हुई वात है।

इसमें दो मुख्य मुद्दे विद्यमान हैं :

१. जीव की जिस समय जो पर्याय होनी होती है, वही होती है। यही उनकी काललब्धि है।

२. जो पर्याय होती है, वह बाह्य निमितों से, अपने द्रव्य गुणों से और अपनी पूर्व पर्यायों के व्यय से भी निरपेक्ष है। तात्पर्य यह है कि उस पर्याय को निमित्तादि किसी पर की अपेक्षा है ही नहीं; अपने द्रव्य व गुणों की भी अपेक्षा नहीं है तथा पूर्व पर्याय के व्यय की भी अपेक्षा नहीं है। अत: जीव की एक समय की पर्याय जो विकार रूप से परिणमित होती है, वह अपने स्वतंत्र षट् कारकों से स्वतंत्र रूप से परिणमित होती है, यह बात पंचास्तिकाय में भी आई है।

जीव की जो पर्याय होती है, वह भी जीव ही है अर्थात् जीव का कर्ता जीव ही है। अन्य द्रव्य नहीं, जड़कर्म नहीं। जड़कर्म की पर्याय जड़कर्म के कारण क्रमबद्ध होती है और जीव की पर्याय जीव के कारण क्रमबद्ध होती है। द्रव्य स्वयं ही अपनी पर्याय को करता है। चाहे जीव की विकारी पर्यायें हों या समकित आदि निर्विकारी पर्यायें हों, सभी पर्यायें जो जिस क्रम में होनी होती हैं, वे पर्यायें उसी क्रम में होती हैं तथा उनमें कर्म आदि किसी भी पर कारकों की अपेक्षा नहीं है।

अहो! कुन्द-कुन्द आदि जैसे आचार्य भगवान केवली के आड़तिया बनकर उनका माल जगत के जीवों को दे रहे हैं। वे कहते हैं - अरे प्रभु! थोड़ा विचार तो कर ! सर्वज्ञदेव ने जीव की जो पर्याय जिस समय होनी देखी है, उस समय वही पर्याय होती है तथा वह स्वत: से ही होती है, उसमें किसी भी अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। और तो और उसे पूर्व पर्याय के व्यय की भी अपेक्षा नहीं है।

देखो, भगवान केवली सर्वज्ञदेव के नाम से क्रमबद्ध पर्याय को सिद्ध करना भी पर के सहारे से सिद्ध करने की बात है तथा पूर्व पर्याय के व्ययपूर्वक वर्तमान पर्याय को सिद्ध करना भी पर से ही सिद्ध करने की बात है; क्योंकि पूर्व पर्याय वर्तमान पर्याय की अपेक्षा पर ही है। वास्तव में तो जिससमय जो विकारी-अविकारी पर्याय प्रगट होती है, उस काल में वह अपने कर्ता, कर्म, करण आदि षट् कारकों से स्वयं प्रगट होती है।

अहो! यह अलौकिक सिद्धान्त है कि — जीव अपनी क्रमबद्ध एक-एक पर्याय के षट्कारक से अपनी उस-उस पर्याय रूप स्वयं से उपजता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं।

देखो, त्रिकाली शुद्ध जीववस्तु ध्रुव अपरिणामी है, उसमें क्रिया नहीं है। पर उसमें जो वर्तमान पर्याय है, वह उसकी बदलती अवस्था है। वही वर्तमान में बदलती दशा क्रमबद्ध है। मूल टीका में जो "क्रमनियमित" शब्द आया है। उसी का यहाँ क्रमबद्ध अर्थ किया है।

तात्पर्य यह है कि जीव की अनादि-अनन्त जो त्रिकालवर्ती पर्यायें हैं, वे प्रत्येक अपने-अपने स्वकाल में क्रमनियमित, क्रमबद्ध प्रगट होती हैं। जीव की वे प्रत्येक पर्यायें, बदलती दशायें जीव ही हैं अजीव नहीं; क्योंकि उन उत्पन्न होती हुई पर्यायों में जीव ही तन्मय है, अजीव नहीं।

प्रश्न : एक ओर तो ऐसा कहा जाता है कि — जीव तो अपनी पर्यायों का भी कर्ता नहीं है और यहाँ यह कहा जा रहा है कि जीव के परिणाम जीव ही हैं। ये दोनों बातें एक साथ कैसे सम्भव हो सकती हैं?

उत्तर : हाँ, संभव है। समयसार गाथा ३२० में भी ऐसा कहा है कि पर्यायों का कर्ता जीव नहीं है। पर्यायें अपने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप षट् कारकों के परिणमन से स्वयं स्वतः अपने स्वकाल में उत्पन्न होतीं हैं। वहाँ द्रव्य से पर्याय को भिन्न बताने का प्रयोजन है। त्रिकाली द्रव्य स्वभाव की सिद्धि करना है न? इसलिये वहाँ कहा है कि द्रव्य पर्याय का कर्ता नहीं है। आत्मा का अक्रिय एकरूप द्रव्यस्वभाव है।

तथा यहाँ यह बताना प्रयोजनभूत है कि कोई भी परद्रव्य किसी भी अन्य द्रव्य की पर्यायों के कर्ता नहीं हैं। अतः यहाँ द्रव्य व पर्याय को अभेद करके बात की है कि "जीव क्रमबद्ध रूप अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं। जीव की पर्यायें जीवस्वरूप ही हैं। ऐसी ही वस्तुस्थिति है।

भाई! कथन में जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे यथार्थ - उसी अपेक्षा से समझना चाहिये। आजकल इस विषय में कुछ लोगों ने बिना सोचे-विचारे गड़बड़ी कर रखी है। उन लोगों का कहना है कि क्रमबद्धपर्याय मानने पर पुरुषार्थ का लोप हो जायेगा; क्योंकि सब कुछ नियत होने पर जीव को करने को रह ही क्या जाता है?

उनसे कहते हैं कि "भाई! वस्तुव्यवस्था तो नियत व स्वाधीन ही है। तू इस वस्तुव्यवस्था में फेरफार करने की चेष्टा को पुरुषार्थ कहता है; परन्तु यह पुरुषार्थ नहीं है। यह तो तुम्हारा मिथ्या विकल्प है। वास्तव में तो द्रव्य की पर्याय अपने स्वकाल में, पर के कर्तापन के बिना स्वतंत्र स्वाधीनपने क्रमबद्ध रूप से अपने से ही उत्पन्न होती है। जिसने ऐसी श्रद्धा की, वही सच्चा पुरुषार्थी है; क्योंकि ऐसा मानने वाले पर से निवृत्त होकर स्वसन्मुख होते हैं। वास्तव में स्वसन्मुख होना और स्व में स्थित रहना ही सम्यक् पुरुषार्थ है।

प्रश्न : राजवार्तिक आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में तो दो कारणों से कार्य की निष्पत्ति की बात कही है। उसका क्या अर्थ है?

उत्तर : भाई! वहाँ तो उपादान कारण के साथ सहचर रूप से उपस्थित रहने वाले निमित्त कारण का ज्ञान कराया गया है। वस्तुतः निमित्त कारण कोई वास्तविक कारण नहीं है। वास्तव में तो जिस समय जो पर्याय होती है, वह पर्याय ही उस समय का सत् है। वह किसी के द्वारा आगे-पीछे नहीं की जा सकती। कोई भी पर्याय पर के कारण तो होती ही नहीं है, उसे अपनी पूर्व पर्याय की भी अपेक्षा नहीं है।

कार्तिकेयानुपेक्षा में ऐसा आया है कि "पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य कारण और उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य कार्य" - पर यह भी व्यवहार की बात है।

प्रश्न : ये बड़े-बड़े मन्दिर बनाये, मूर्तियाँ स्थापित कीं, इतना सारा साहित्य प्रकाशित कराकर सस्ते दामों में घर-घर पहुँचाने का काम हुआ - यह सब कौन करता है?

उत्तर : अरे भाई! प्रत्येक पर्याय या कार्य की व्यवस्था करने वाले अपने अपने द्रव्य के परमाणु हैं। उन्हें न जीव करता है, न कराता है। अतः द्रव्य के किये बिना ही उन-उन अवस्थाओं की व्यवस्था स्वतंत्र रूप से उन्हीं से उनके अपने स्वकाल में होती है।

पर के कारण तो उत्पाद होता ही नहीं, व्यय के कारण भी उत्पाद नहीं होता। उत्पाद से ही उत्पाद होता है। उत्पादरूप से उत्पाद होने का वही स्वकाल है और द्रव्य ही अपनी तत्समय की योग्यता से वहाँ उपजता है।

समयसारकलश में चौथे कलश की टीका में आया है कि — "सम्यक्त्व वस्तु यत्न साध्य नहीं है, सहज रूप है।" वहाँ विशेष बात यह कही है कि — "जीव का संसार में भ्रमण करते-करते जब अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल शेष रहता है, वे तभी सम्यक्त्व प्राप्त करने योग्य होते हैं। इसी का नाम काललब्धि है। यद्यपि सम्यक्त्व रूप जीवद्रव्य परिणमता है, तथापि काललब्धि बिना करोड़ों उपाय करने पर भी जीव सम्यक्त्व रूप से परिणमने योग्य नहीं होता — ऐसा नियम है। इससे सिद्ध है कि सम्यक्त्व यत्नसाध्य नहीं है, सहजरूप है।"

इसके पहले कलश टीका में ही यह भी आया है कि — "यह जीव इतने काल बाद मोक्ष जायेगा - ऐसी केवलज्ञान में नोंध है। देखो, क्या कहा? कहा है कि — "यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष पायेगा - ऐसी नोंध केवलज्ञान में है। तात्पर्य यह है कि इस जीव को इस काल में सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और केवलज्ञान होगा - इसप्रकार इसकी बहुत-सी पर्यायें केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होतीं हैं। अहा! जिस समय जिस द्रव्य की जो पर्याय जिस प्रकार होने योग्य है, वे सभी पर्यायें एक ही साथ केवलज्ञान में प्रत्यक्ष ज्ञात होती हैं। अहो! केवलज्ञान की कोई ऐसी ही अद्भुत सामर्थ्य होती है। "केवलज्ञान में अंकित है" ऐसा जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि केवलज्ञानी की एक समय की पर्याय में तीनकाल के समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय एक ही साथ प्रत्यक्ष जाने जाते हैं।

अहाहा ....! वस्तु की भूत, वर्तमान व भविष्य की जो पर्यायें जिस रीति से हुई हैं, हो रही हैं, और होंगी - उन समस्त पर्यायों को केवलज्ञान एक साथ जानता है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं एवं मानते हैं कि — "जो भविष्य की पर्यायें अभी हुई ही नहीं हैं, उन्हें केवलज्ञान अभी कैसे जान सकता है? जब वे होंगी तब जानेगा।" परन्तु उनका ऐसा कहना व मानना मिथ्या है। केवलज्ञान के बारे में जो ऐसा सोचता है, उसका यह सोचना बिल्कुल सही नहीं है। वह केवलज्ञान का स्वरूप ही नहीं समझा है।

उससे कहते हैं - अरे भगवान ! जरा सुन तो सही। क्षायिक ज्ञान किसे कहते हैं ? प्रवचनसार की ४७वीं गाथा की टीका में आचार्य कहते हैं —

'अति विस्तार से वस हो, अनिवारित जिसका फैलाव है, ऐसा प्रकाशवंत होने से क्षायिक ज्ञान अवश्यमेव सर्व, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा जानता है।'

भाई! भविष्य की जो पर्यायें जिस समय जिस प्रकार से होंगी, उन सवको केवलज्ञान वर्तमान में प्रत्यक्ष जानता है। जव मतिज्ञान श्रुतज्ञान पर आधारित ज्योतिषज्ञान, निमित्तज्ञान एवं अवधिज्ञान के आधार पर भविष्य की घोषणायें आये दिन हुआ करती हैं तो क्या केवलज्ञान क्षयोपशम ज्ञानों से भी गया वीता होगा, जो भविष्य की पर्यायों को वर्तमान में नहीं जान सकेगा ? अतः केवलज्ञान के वारे में ऐसा विचार रखना सर्वथा गलत है।

जिन्हें केवलज्ञान का स्वरूप ही स्वीकृत नहीं, उन्हें क्रमवद्धपर्याय भी समझ में नहीं आ सकती।

"सम्यकत्व यत्नसाध्य नहीं, सहजरूप है" - ऐसा जो कलश टीका में कहा है, वह कथन पुरुषार्थ को गौण करके काललब्धि की मुख्यता से कहा गया है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन के तो पाँचों समवाय एक साथ ही होते हैं। काललब्धि के साथ पुरुषार्थ भी होता ही है।

स्थानकवासी लोग भी यही कहते थे - "भगवान ने जव हमें समकित होना देखा होगा, तभी तो होगा। — ऐसा मानने पर पुरुषार्थ का लोप होता प्रतीत होता है, जव सभी कुछ नक्की है तो फिर अपने पुरुषार्थ का क्या काम ? इस तरह मानने पर तो पुरुषार्थ का लोप हो ही जाएगा न?"

उनसे मैंने कहा था, "हाँ, इतना कहना तो पूर्ण सच है न ! कि भगवान का केवलज्ञान एक समय में तीन लोक व तीन काल को प्रत्यक्ष जानता है। अव यहाँ प्रश्न यह है कि उस केवलज्ञान की इस प्रकार अनन्त सामर्थ्य को तुम हृदय से मानते हो या नहीं? यदि केवलज्ञान के ऐसे स्वरूप को ही तुम नहीं मानते तव तो 'भगवान ने जो देखा है वही होगा' - ऐसी वात तुम किस आधार से कह सकते हो? तथा यदि तुम्हें केवलज्ञान की त्रिकाल व तीन लोक को जानने की सामर्थ्य स्वीकृत है तो प्रश्न यह उठता है कि — यह स्वीकृति तुमने किसकी साक्षीपूर्वक की ? यदि केवलज्ञानस्वभावी शुद्ध एक चिन्मूर्ति निज आत्मद्रव्य के सन्मुख होकर इस वात को स्वीकार किया है, तव तो यह

वात यथार्थ ही है और इसी निर्णय व निश्चय करने का नाम पुरुषार्थ है, अतः पुरुषार्थ की सिद्धि स्वतः हो ही जाती है।

अहा··· ! जो जीव अन्तर्मुख होकर अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करते हैं, उन्हें पुरुषार्थ के बारे मे शंका रहती ही नहीं; क्योंकि उनके तो पुरुषार्थ की धारा भी क्रमवद्धपर्याय के अन्तर्गत प्रारंभ हो ही गई है।

तुम्हें पता नहीं कि — केवलज्ञान की एक समय की पर्याय की ताकत कितनी है ? अरे भाई! केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में इतनी अनंत सामर्थ्य है कि उसमें अनन्त केवली, अनन्त सिद्ध और अनन्त निगोद के समस्त संसारी जीव वर्तमान में प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं। केवलज्ञान की ऐसी कोई अद्‌भुत ताकत है। अहा! ऐसे केवलज्ञान की सत्ता जगत में है। उसकी स्वीकृति पर्याय या पर के अवलंबन से नहीं होती, किंतु अपने त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञानस्वभाव के ही अवलम्वन से उस केवलज्ञान की सत्ता की स्वीकृति होती है।

अहा ! जिसकी दृष्टि पर्याय पर से हटकर शुद्ध एक ज्ञानस्वभाव का अवलंवन लेती है, उसे ही सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकृत होती है। उसके ज्ञानस्वभाव के पुरुषार्थ का क्रम भी प्रारंभ हो जाता है तथा काललब्धि आदि पाँचों समवाय हो जाते हैं। भाई ! सर्वज्ञ की सत्ता का और क्रमवद्धपर्याय का यथार्थ निर्णय अपने ज्ञानस्वभाव के लक्ष्य से ही होता है और इसी का नाम धर्म है।

यहाँ कहते हैं कि जीव अपने क्रमनियमित परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है ,अजीव नहीं। यहाँ अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ कह कर पर से पूर्ण निरपेक्ष कहा है।

इस वात को सुन कर यदि किसी को ऐसी शंका हो कि 'कार्य तो निमित्त व उपादान – दोनों कारणों से होता है, फिर यहाँ ऐसा एकान्त कथन क्यों किया है ?'

इसका समाधान यह है कि — 'वास्तविक वात तो यही है कि जो भी कार्य होता है, वह उपादान की तत्समय की योग्यता से ही होता है। निमित्त का कथन तो अनुकूल निमित्तों का यथार्थ ज्ञान कराने के लिये किया जाता है। यह दर्शाना भी अति आवश्यक है कि कार्य के निष्पन्न होने में सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध होता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में मोक्षमार्ग के प्रकरण में इसी प्रकार का स्पष्टीकरण करते हुये लिखा है मोक्षमार्ग दो नहीं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा है, वह तो निश्चय मोक्षमार्ग है तथा जो मोक्षमार्ग तो नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है; उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहना व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है अर्थात् सच्चा निरूपण तो निश्चय तथा उपचार निरूपण वह व्यवहार। इसप्रकार निरूपण की अपेक्षा दो प्रकार का मोक्षमार्ग जानना। दोनों भिन्न-भिन्न दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।

इसीप्रकार यहाँ समझना चाहिये कि — वस्तुतः तो जीवद्रव्य की जिस समय जो अवस्था होती है, उसका कर्ता वही जीव है अन्य नहीं है। किन्तु तत्वार्थराजवार्तिक आदि में जो दो कारणों से कार्य होने का कथन है, वह तो प्रमाण का ज्ञान कराने के लिये निश्चय की बात को ध्यान में रखते हुये व्यवहार से कथन किया है। निश्चय की बात को दृष्टि में रखते हुये व्यवहार का ज्ञान करे तो ही वह प्रमाणज्ञान है। निश्चय की बात का यदि निषेध करके एकान्ततः अकेले व्यवहार की बात कहे, अकेला व्यवहार का ही ज्ञान करे तो वह मिथ्याज्ञान है।

इसप्रकार जीव दूसरों का कर्ता बने बिना ही मात्र अपने परिणामों का ही कर्ता है। जहाँ ऐसा कहा हो कि अन्य वस्तुयें भी कार्य के सम्पन्न होने में सहायक होतीं हैं, उस कथन का अर्थ यही है कि कार्य के काल में वे वस्तुएँ तदनुकूल निमित्त रूप में वहाँ उपस्थित थीं। उन अन्य वस्तुओं का कार्य के सम्पन्न होने में निज उपादान की भाँति कारणपना संभव नहीं है। उनके कारण जीव के परिणाम होते हों - ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।

भाई! सत् स्वरूप वस्तु का जैसा स्वरूप हो, जैसी उसकी पर्यायगत योग्यता हो, वैसी ही प्रतीति करे तो ही सच्ची प्रतीति है। जीव की कोई भी पर्याय अपने स्व-काल से आगे-पीछे और अपने निश्चित परिणमन से पलट कर अन्य प्रकार होना कभी संभव नहीं है।

ऐसी स्थिति में पर (निमित्त) क्या कर सकता है? कुछ भी नहीं कर सकता। अतः यह तो भगवान केवली की कही हुई परम सत्यार्थ बात है।

अव कहते हैं कि — इसीप्रकार अजीव भी अपने क्रमवद्ध परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं। अजीव पुद्‌गलादि में भी प्रगट होती हुई तीनों कालों की पर्यायें अपने स्वकाल में प्रगट होतीं हुईं क्रमबद्ध ही हैं।

कोई चित्रकार या मूर्तिकार जो चित्ताकर्षक चित्र या मूर्ति वनाता है, उसे अपने कर्तृत्व का ऐसा अभिमान हो जाता है कि 'यह इतनी सुन्दर मूर्ति या चित्र मैंने वनाया है। मेरे जैसा अन्य कोई कलाकार नहीं है'। उसके इस मिथ्या अहंक्रार को तोड़ने हेतु यहाँ आचार्य कहते हैं कि उन चित्र व मूर्ति रूप अजीव परमाणुओं की अवस्था अपने स्वतंत्र उन्हीं परमाणुओं की तत्समय की योग्यता से हुई है। कलाकारों द्वारा वह सुन्दर चित्र व मूर्तियों की रचना नहीं हुई है तथा तूलिका या छैनी-हथौड़ा आदि से भी उनका निर्माण नहीं हुआ है।

देखो, दो या दो से अधिक परमाणुओं के स्कन्ध बनते हैं। उनमें दो गुण स्निग्ध वाले परमाणु जब चार गुण स्निग्ध वाले परमाणुओं के साथ मिलते हैं, तब वे परमाणु चार गुण स्निग्धता वाले हो जाते हैं। उन परमाणुओं में वह चार गुण स्निग्धवाली पर्याय उस समय स्वयं से ही जो जिस रूप होनी थी, वही हुई है। उनका कर्ता अन्य परमाणु नहीं है।

वे चार गुण स्निग्धवाले परमाणुओं से जिन दो गुण स्निग्ध वाले परमाणु, मिलकर चारगुण स्निग्ध पर्याय धारक हुये हैं, वे अपनी उस समय की योग्यता से हुये हैं, चार गुण स्निग्धमय परमाणुओं के कारण नहीं।

दो गुण, तीन गुण, चार गुण, असंख्यात गुण, अनंत गुणरूप स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की पर्यायें जिस समय जो होनी हों, स्वयं से ही होती हैं। अन्य परमाणुओं के कारण वे पर्यायें नहीं होतीं। अन्य परमाणुओं का वहाँ कोई असर या प्रभाव नहीं पड़ता। समय-समय की पर्याय जिस काल में जो होनी होगी, उस काल में वही होती है। उनके परिणमन में अन्य की अपेक्षा नहीं रहती। इस तरह पर्याय का परिणमन भी पर से पूर्ण निरपेक्ष है, द्रव्य-गुण की निरपेक्षता की तो वात ही क्या करें? त्रिकाली द्रव्य व गुण तो पूर्ण निरपेक्ष व स्वतंत्र हैं ही। ऐसे परम निरपेक्ष तत्व पर दृष्टि जाना ही वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त को समझने का, क्रमवद्धपर्याय को समझने का फल है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में छहों द्रव्यों की प्रति समय वर्तती पर्यायों को काललब्धि कहा है।

जिस समय जिस द्रव्य में जो पर्याय हो, वही उसकी काललब्धि है।

प्रश्न : पानी अग्नि से उष्ण होता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है, फिर ऐसा कैसे कह सकते हैं कि प्रत्येक पर्याय पर से संपूर्णतया निरपेक्ष है। उष्ण जल अग्नि की अपेक्षा रखता है या नहीं?

समाधान : भाई! जो संयोग की दृष्टि से देखेगा, उसे तो ऐसा ही दिखाई देगा। वस्तु के सहज परिणमनस्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो यथार्थ ज्ञात होगा कि — पानी ही अपने क्रमबद्ध परिणमन से उत्पन्न होता हुआ उष्ण पर्याय रूप है, उसे उष्ण रूप होने में अग्नि की कोई अपेक्षा या परमुखापेक्षता नहीं है। उस उष्ण होती पर्याय को अग्नि की पराधीनता नहीं है। उस पानी का उष्ण होने का वह स्वकाल है। हाँ, उस काल में अग्नि है अवश्य, पर अग्नि अपनी स्वतंत्र-सत्ता से है, उसने पानी को उष्ण करने के लिये अपने अस्तित्व को छोड़कर पानी की पर्याय में प्रवेश नहीं किया है। एक सत्ता दूसरी सत्ता में जाय - ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है।

एक द्रव्य का तो अन्य द्रव्य में अत्यन्ताभाव पड़ा है तथा एक पुद्गल की पर्याय का दूसरे पुद्गल की पर्याय में अन्योन्याभाव है। फिर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य कैसे कर सकता है?

इस हिसाब से अग्नि और पानी के बीच में अन्योन्याभाव है। वे परस्पर में प्रवेश नहीं करते।

देखो ! शास्त्र में आता है कि भगवान की दिव्यध्वनि १२-१२ योजन तक सुनाई देती है। मनुष्य, देव व तिर्यंच — तीनों गतियों के जीव दिव्यध्वनि सुनने समोशरण में पहुँचते हैं। यह दिव्यध्वनि निरक्षरी होती है। फिर भी सभी श्रोता अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। वहाँ बैठे पशु भी अपनी भाषा में समझ जाते हैं। वे उस ओंकारध्वनि में भी यही कहते हैं कि उस काल में उस रूप से होने योग्य भाषा वर्गणा का क्रमबद्ध परिणमन है। भाषा वर्गणा का ध्वनि

रूप से परिणमन का वही स्वकाल था, इसीकारण वह भाषा दिव्यध्वनि रूप से परिणमी है। भगवान तो उस दिव्यध्वनि के खिरने में निमित्त मात्र हैं।

अरे! अज्ञानी जीव तो जहाँ-तहाँ अपना कर्तापना मानकर मिथ्या अभिमान ही किया करता है। जिसप्रकार गाड़ी के नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा भ्रम पालता है कि "मैं गाड़ी खींचता हूँ"। उसीतरह अज्ञानी जीव घर-कुटुम्ब के पालन-पोषण तथा धनार्जन आदि के कारोबार रूप पर की क्रियाओं में अपना कर्तृत्व स्थापित करता है। जबकि ये सब तो जड़ की क्रियायें हैं। इनमें चेतन का तो प्रवेश ही संभव नहीं है, फिर यह जीव उन जड़ पदार्थों का कर्ता कैसे हो सकता है?

डाक्टर रोगी को इन्जेक्शन लगाये, दवा देवे और उससे रोगी का रोग मिट जाये तो डाक्टर ऐसा मानने लगता है कि — मैंने रोग ठीक कर दिया; पर उसकी यह मान्यता अज्ञान है, भ्रम है; क्योंकि रोग की और निरोगता की अवस्थाओं को शरीर के परमाणु स्वयं अपने क्रमबद्ध रूप से करते हैं। डाक्टर का तो उस रोगी के शरीर में अत्यन्त अभाव है।

प्रवचनसार की १९०वीं गाथा में कहा है कि — 'मैं शरीर, मन, वाणी नहीं हूँ, शरीर, मन, वाणी का कारण भी नहीं हूँ, उनका कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ तथा कर्ता का अनुमोदक भी नहीं हूँ।'

अहाहा ......! शरीर-मन-वाणी की जो-जो क्रियायें - अवस्थायें होती हैं, वे जीव के कारण नहीं होती। उन जड़ की अवस्थाओं का जीव कर्ता नहीं, कारयिता नहीं, कर्ता का अनुमोदक भी नहीं है - ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

जो इस सिद्धान्त को समझ लेगा, उसका अभिमान उड़ जायेगा।

देखा, उपवास करने वाले अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि हमने आहार-पानी का त्याग किया है। जबकि भगवान आत्मा में परद्रव्य का ग्रहण-त्याग होता ही नहीं है। वह तो त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति से सम्पन्न है। उसमें न परद्रव्य का ग्रहण है, न त्याग है। ज्ञानी को ऐसी श्रद्धा है। अतः व्रत-उपवास करता हुआ भी उसे आहारादि के त्याग के कर्तृत्व से अभिमान नहीं होता। वह जानता है कि उपवास के काल में आहारादि का आत्मा के संयोग में आने की योग्यता

ही नहीं होती। अजीव की क्रिया-अवस्था अजीव से ही अपने क्रमवद्ध में होती है, जीव उसमें कुछ नहीं करता।

जिसतरह सोने का कंकण आदि पर्यायों के साथ तादात्म्य है, उसीप्रकार सर्वद्रव्यों का अपने-अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। अपने परिणामों से उत्पन्न होते हुए द्रव्य के उन परिणामों का कर्ता अन्य द्रव्य नहीं है, वह द्रव्य स्वयं ही है।

जीव भी अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है। अजीव के साथ जीव का कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता; क्योंकि सर्वद्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता।

प्रश्न : जीव परजीवों की रक्षा करता है, मदद करता है, धन कमाता है। परस्पर में एक दूसरे का उपकार-अपकार करते हुये प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, अतः इन सवसे इन्कार कैसे किया जा सकता है?

समाधान : भाई! जैसा अपने कार्य में तादात्म्य है, वैसा पर के कार्य में तादात्म्य नहीं होता और पर में तादात्म्य हुये विना वह पर का कर्ता नहीं हो सकता। सर्व परद्रव्यों का अन्य परद्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है।

अहाहा.......! भगवान आत्मा अनंत गुणों का धाम प्रभु अनादि-अनंत ध्रुव चैतन्य तत्व है। भगवान सर्वज्ञदेव ने देखा और कहा है कि - जीव पदार्थ प्रति समय अपने क्रमवद्ध परिणाम से उत्पन्न होता हुआ जीव है।

यहाँ कहते हैं कि अपने परिणामों से उत्पन्न होते हुये जीव का अजीव के साथ कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता।

जो जड़ शरीर में शरीर मन, वाणी के कार्य होते हैं, हाथ-पैर हिलाते हैं, वाणी वोलते हैं, आँखों की पलकें झपकती हैं, वे सव जड़ के स्वतंत्र परिणमन हैं, उन्हें जीव नहीं करता; क्योंकि सभी जड़-चेतन द्रव्यों का एक दूसरे के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है।

आश्चर्यचकित होते हुये आचार्य कहते हैं कि जैन कुल में जन्मे, जैनधर्म जैसा वस्तु की स्वतंत्रता का दिग्दर्शक दर्शन पाया, फिर भी यह पता नहीं हो

पाया कि जिनेन्द्र परमेश्वर क्या कहते हैं? उनकी दिव्यध्वनि का सार क्या है? तो आँखों व कानों वाले होते हुये भी अंधे व बहरे ही हैं। यदि यह जन्म यों ही चला गया, तो पुन: ये आँखें व कान भी नहीं मिलेंगे।

देखो, निगोद में अनंत जीव हैं, लहसुन व आलू की एक कणिका में असंख्य औदारिक शरीर हैं, उन प्रत्येक औदारिक शरीर में भी अनंत निगोदिया जीव हैं। वे प्रत्येक जीव अपने-अपने परिणाम से उत्पन्न होते हुये परिणमन करते हैं। उनका दूसरे जीवों के साथ अथवा दूसरे द्रव्यों के परिणामों के साथ कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होता।

उत्पाद्य अर्थात् कार्य तथा उत्पादक अर्थात् कारण। देखो, जैसे माटी में से घड़ा उत्पन्न होता है तो घड़ा माटी का उत्पाद्य है, कार्य है। माटी उसकी उत्पादक है, कारण है। कुम्हार घड़े का उत्पादक तथा घड़ा कुम्हार का उत्पाद्य नहीं है।

इसीप्रकार एक जीव को दूसरे जीव की रक्षा का भाव हुआ, उसने अपनी भावना के अनुसार प्रयत्न भी किया, उस प्रयत्न काल में वह जीव बच गया तो अज्ञानी ऐसा मानने लगता है कि — मैंने जीव की रक्षा की।'

कार्य-कारणभाव का विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध या कार्य-कारण सम्बन्ध दो पृथक् द्रव्यों के साथ लागू ही नहीं पड़ता। कार्य-कारण सम्बन्ध एक ही द्रव्य में लागू होता है।

देखो, एक जीव को दूसरे मरते हुये जीव की दया पालने या रक्षा करने का भाव हुआ, उसीसमय उस जीव की रक्षा हो गई अर्थात् वह मरणासन्न जीव बच गया। यहाँ कार्य-कारण की खोज करें तो अन्य जीव की रक्षा होना अर्थात् उसका जीवित रहना - यह कार्य है, उस कार्य का कर्ता कौन? दया पालने वाला जीव या जो जीवित रहा उसकी उपादानगत योग्यता ?

यहाँ आचार्य कहते हैं कि इस कार्य का कर्ता रक्षा करने के भाव वाला जीव नहीं है, एक जीव के दयाभाव के कारण दूसरा जीव बचे - ऐसा तीन काल में भी संभव नहीं है।

भगवान जिनेन्द्रदेव ने अपने केवलज्ञान में जाति अपेक्षा छह तथा संख्या अपेक्षा अनंतानन्त द्रव्य देखे हैं। जीव अनन्त हैं, पुद्गलद्रव्य अनन्तानन्त हैं, धर्म, अधर्म व आकाश एक-एक हैं और कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। उन सम्पूर्ण अनंत द्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक अथवा कार्य-कारण भाव का अभाव है। जीव के गमन करने रूप कार्य का कारण जीव की स्वयं की क्रियावती शक्ति व तत्समय की उस रूप परिणमन होने की योग्यता ही है। धर्म द्रव्य को कारण कहना तो निमित्त सापेक्ष स्थूल कथन है।

वस्तुत: तो जीव की गमन क्रिया का कारण अन्य द्रव्य होता ही नहीं है।

प्रश्न : नियमसार में तो ऐसा लिखा है कि कालद्रव्य के बिना किसी भी द्रव्य का परिणमन नहीं होता। उस कथन का क्या अभिप्राय है?

समाधान : अरे भाई! वहाँ तो काल द्रव्य की सत्ता सिद्ध करने के लिये निमित्त का ज्ञान कराया है। वहाँ द्रव्यों का परिणमन सिद्ध नहीं करना है। वास्तव में तो द्रव्यत्व गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य में निरन्तर सहज ही परिणमन होता है। परिणमन द्रव्य का सहज स्वभाव है। इस कारण प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय जो-जो परिणमन होता है, वह सब द्रव्य का उत्पाद्य है और वे द्रव्य ही परिणामों के उत्पादक हैं, काल द्रव्य या धर्मादि अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यों के कार्यों के उत्पादक नहीं हैं। अन्य द्रव्यों के परिणमन में काल द्रव्य नियम रूप निमित्त होने से ऐसा कहा जाता है कि "काल द्रव्य के बिना परिणमन नहीं होता।" परन्तु वस्तुत: कालद्रव्य अन्य द्रव्यों का उत्पादक कारण नहीं है।

भाई! वास्तव में तो भगवान ने जैसा स्वरूप देखा है, वैसा ही कहा है।

ईश्वरवादियों के मतानुसार ईश्वर को तो जगत का कर्ता न मानें और शरीर की पर्याय का कर्ता जीव को मानें तो यह झूठ ही है। जिसतरह ईश्वर कर्ता नहीं है, उसी भाँति कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य की अपने-अपने समय में होने वाली प्रत्येक पर्याय स्वतंत्र है और वे सभी पर्यायें अपने नियत समय में ही होतीं हैं, अन्य समयों में नहीं - ऐसा क्रमबद्ध का नियम समझाने के लिये आचार्यदेव यहाँ अकर्तापना सिद्ध करते हैं।

अज्ञानी को भगवान की प्रतिमा देखकर जो शुभभाव होता है, वह शुभभाव उत्पाद्य व भगवान की प्रतिमा उसका उत्पादक - दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में ऐसा उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध नहीं होता। परद्रव्य की होती हुई दशा का कर्ता तू नहीं और तेरी होती हुई दशा का कर्ता कोई अन्य द्रव्य नहीं होता। दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों में कर्ता-कर्म व कारण-कार्य सम्बन्ध होता ही नहीं है।

अहाहा ……! भगवान आत्मा शुद्ध एक चैतन्यमात्र वस्तु है। वह अपनी ही निर्मल चैतन्य की पर्याय रूप से उत्पन्न होती है। ऐसा ही अभेदरूप कारण-कार्य सम्बन्ध है। आत्मा कर्ता व शुद्ध रत्नत्रय का वीतरागी परिणाम उसका कर्म - ऐसा कारण-कार्य है। कारण-कार्य एक ही वस्तु में होता है, दो भिन्न भिन्न वस्तुओं में नहीं।

अजीव कर्म के क्षय, उपशम आदि के साथ जीव का कारण-कार्य नहीं है। पर जीवों को मार सके, जीवित रख सके, दाल-भात, रोटी-शाक आदि पर पदार्थों का परिणमन (कार्य) जीव कर ही नहीं सकता।

किसान हल चलाता है, मजदूर माल ढोता है, व्यापारी सोना-चाँदी आदि का व्यापार करता है, इत्यादि जड़ द्रव्यों में उत्पन्न होता हुआ जड़ का कार्य जीव करे - ऐसा जड़ द्रव्य के साथ जीव का कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता।

जीव मात्र अपने परिणाम को करता है, अजीव के परिणाम को नहीं। रागादि भाव जो होते हैं, वस्तुतः तो वे भी अजीव ही हैं। इस दृष्टि से जीव जो अपने ज्ञाताभाव से परिणमता है, उपजता है - यह तो इष्ट ही है।

कलश टीका में १०८वें कलश में पण्डित श्री राजमलजी ने कहा है - "यहाँ कोई जानेगा कि शुभाशुभक्रियारूप जो चारित्र है, आचरण है, वह जिस प्रकार करने योग्य नहीं है, उसीप्रकार निषेध करने योग्य भी नहीं है। फिर उसका निषेध क्यों करते हैं?

उस कथन का समाधान यह है कि - निषेध करने योग्य है; क्योंकि वह व्यवहार चारित्र होते हुये भी दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है, इस कारण विषय कषाय की भांति ही क्रियारूप चारित्र भी निषिद्ध है।"

प्रश्न : तो क्या समकिती जीवों को एवं मुनिराजों को वह शुभभाव रूप व्यवहारचारित्र होता ही नहीं है?

उत्तर : होता है, मुनिराज तक के शुभभाव होते हैं; किन्तु वे हैं तो दुष्ट-अनिष्ट एवं घातक ही; क्योंकि वे स्वभाव की निराकुल शान्ति का घात करते हैं।

भाई ! शुभभावों का होना बिल्कुल जुदी बात है और उसे हित का कारण मानकर अपना कर्तव्य मानना, उपादेय मानना जुदी बात है।

प्राथमिक भूमिका में या साधक की दशा में पुण्यभावों का सर्वथा अभाव भले ही न हों, परन्तु ये शुभाशुभभाव क्षय करने लायक हैं, हेय हैं — ऐसी दृष्टि, श्रद्धा तो चौथे गुणस्थान से ही ज्ञानी को हो जाती है।

अज्ञानी को एकान्ततः कर्मधारा ही होती है तथा केवली भगवान को अकेली ज्ञानधारा होती है, जबकि साधक दशा में समकिती से लेकर मुनिराज तक सबको दोनों ही धारायें होतीं हैं। निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र-रूप ज्ञानधारा और शुभाशुभरूप कर्मधारा। इसप्रकार ये दोनों धारायें ज्ञानी के एक साथ होतीं हैं।

किन्तु यहाँ ज्ञातव्य यह है कि — कर्मधारा बंध का ही कारण है। एक मात्र ज्ञानधारा ही अबंध का कारण है। इसीलिये तो कहा है कि — क्रियारूप चारित्र विषय-कषाय की भांति ही निषिद्ध है। जो दृष्टि में शुभभाव को आदरणीय मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

भाई! धर्मात्मा जीवों को पाप से बचने के लिये शुभभाव आते हैं, परन्तु धर्मी जीव उन्हें भला या आदरणीय नहीं मानते। बल्कि वे तो उन्हें भोगोपभोग सामग्री की प्राप्ति के हेतु होने से अनर्थ की जड़ समझ कर हेय रूप ही मानते हैं। पंचास्तिकाय ग्रन्थ में भी पुण्यभाव को अनर्थ का ही कारण कहा है।

शास्त्र में ऐसा कथन आता है कि पहले पाप टालने पर ही पुण्य टलता है। पर यह तो आचरण की अपेक्षा बात कही है। श्रद्धा में तो पुण्य-पाप भाव एक-सा ही हेय होता है।

पुण्य-पाप के दोनों ही भाव विभाव हैं, चाण्डालनी के पुत्र हैं। भले एक ब्राह्मण के कुल में पला हो, पर हैं तो चाण्डाल ही।

वे दोनों आस्रव व बंधतत्व हैं।

वे दोनों ही भाव जड़ (पुद्‌गलमय) हैं तथा इनका फल भी पुद्‌गल हैं।

यहाँ कहते हैं कि जीव का एक ज्ञानानंद स्वभाव है। वह अपने स्वभाव की पर्यायपने उत्पन्न होता है, यह तो बराबर है; परन्तु राग के परिणाम से उत्पन्न होता हो या राग के परिणाम के कारण हो - ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है।

अहाहा ....! अपने अन्दर शुद्ध एक चैतन्य प्रकाशमय प्रभु विराजता है। उसे उपादेय मानकर जिसने उस भगवान आत्मा का अनुभव किया, वही कल्याण के पथ में है। भले वर्तमान में किंचित राग हो तो भी उससे उसे कुछ भी हानि नहीं होती; क्योंकि उसके प्रति ज्ञानी का स्वामित्व ही नहीं होता।

अरे भाई! जरा सोचो! विचार करो! क्षण में पर्याय पलटते ही हम कहाँ, किस योनि में जा पड़ेंगे? किस कूकरी, सूकरी के पेट में चले जायेंगे? अपने ही बनाये भवन की किसी नाली के कीड़े या खाट के खटमल बन जायेंगे तब क्या होगा?

ये महल मकान ये ठाट-बाट जो हमने पाप कर-करके संग्रह किये हैं और परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान में जो हमारा काल बीत रहा है, यदि इसी स्थिति में साँस रुक गई तो फिर हमारी क्या दुर्दशा होगी? जरा विचार तो कर!

भाई! पाप की ओर से आँख बंद करने से काम नहीं चलेगा। पुण्य के योग से कदाचित् पाँच-पचास लाख का संयोग मिल भी गया तो क्या हो गया? ये कुछ काम नहीं आते।

अन्दर में जो शाश्वत महान चैतन्य देव विराजता है, उसका अनुभव यदि वर्तमान में नहीं किया और जीवन यों ही चला गया तो अनंत काल तक अनन्त दुःख भोगने पड़ेंगे। अतः समय रहते आत्मा का अनुभव करने का पुरुषार्थ कर!

अहाहा ....! यहाँ कहते हैं कि सर्वद्रव्यों का अन्यद्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है। भाई! यहाँ तीन काल व तीन लोक के अनन्त पदार्थों का कारण-कार्य का स्वरूप संक्षेप में बताया है। लोक में जो परोपकार की, देश सेवा की, समाज सेवा की बातें कही जाती हैं, वे सब व्यवहार के कथन हैं, उनमें कुछ भी दम नहीं है। ऐसे अभिनन्दन के शब्द

सुनकर फूलना नहीं चाहिये; क्योंकि अन्यद्रव्य का काम कोई कैसे कर सकता है? हमने भी किसी का कुछ नहीं किया। अतः इस वाग्जाल के मिथ्या भ्रम में न स्वयं पड़ें, न दूसरों को पड़ने दें।

जैनधर्म के अनुसार शुद्ध एक ज्ञायकभाव के आश्रय से निर्मल रत्नत्रय के परिणाम प्रगट करना, शुद्धोपयोगरूप परिणमना ही जैनधर्म की यथार्थ सेवा है। दया-दान आदि व्यवहार धर्म की प्रभावना के कामों को धर्म की सेवा तो कथन मात्र है; क्योंकि दो भिन्न द्रव्यों का उत्पाद्य-उत्पादक संबंध ही नहीं है। जड़ के कार्य का चेतनद्रव्य कर्ता बने - ऐसा कार्य-कारण भाव बन ही नहीं सकता। समयसार कलशटीका के १०९वें कलश में कहा है कि "शुद्ध वस्तु मात्र, उसकी स्वरूपनिष्पत्ति, उस स्वरूप निष्पत्ति से उत्पन्न हुआ स्वरूपाचरण चारित्र ही मोक्षमार्ग है, इस बात में संदेह नहीं है।"

वहाँ स्वरूपाचरण चारित्र संबंधी विशेष बात कहकर अन्त में कहा है — "तीनों कालों में विशेष शुद्ध चेतना के परिणमनरूप स्वरूपाचरण चारित्र ही आत्मद्रव्य का निजस्वरूप है। शुभाशुभ क्रिया के समान उपाधिरूप नहीं है। इसकारण स्वरूपाचरणचारित्र एक जीवद्रव्यस्वरूप ही है। निजानन्द रस में लीन रहकर उसी में रमना स्वरूपाचरणचारित्र है। दया, दान, व्रत, तप, भक्ति आदि राग स्वरूपाचरण नहीं है; क्योंकि ये रागादिभाव जीवद्रव्यरूप नहीं हैं, अन्य द्रव्य हैं। इसप्रकार जीव द्रव्य व अन्य द्रव्य रूप राग में परस्पर कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होता।

अब आगे कहते हैं कि — इनमें कार्य-कारण भाव सिद्ध नहीं होने पर अजीव का एवं जीव का कर्त्ताकर्मपना भी सिद्ध नहीं होता। अतः शरीर की हलन-चलन रूप क्रिया का कर्ता जीव को मानना ठीक नहीं है। जिसप्रकार आँखें मात्र पर को देखती ही हैं; वे किसी का कुछ करती नहीं हैं; उसीप्रकार जीव पर को मात्र जान सकता है, पर का कुछ भी कार्य कर नहीं सकता, करता ही नहीं है।

यह बात विस्तार से ३२०वीं गाथा में भी आने वाली है।

अतः अजीव को जीव का कर्मपना सिद्ध नहीं होता। ज्ञानावरणादि कर्मों का जो वन्ध होता है, वह जीव का कार्य नहीं है। अरे! ये पुण्य व पाप के भाव दया-दान-व्रत आदि के विकल्प जो होते हैं, वे वस्तुतः जीव के हैं ही नहीं। अतः वे निश्चय से जीव के सिद्ध कैसे हो सकते हैं? क्योंकि विकारी परिणामों में चैतन्य का अभाव है। निश्चय से वे विकारी परिणाम अरूपी व अचेतन हैं। अहा! काया व कषाय को अपनी चीज़ मानकर जो महाव्रतादि पालता है; उसकी यह मान्यता मिथ्याभाव है। वस्तुतः ये महाव्रतादि के परिणाम अचेतन हैं।

अव यह स्पष्टीकरण करते हैं कि — शरीर व कर्म आदि अजीव द्रव्य की पर्यायों को जीव करे - ऐसा जीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता; क्योंकि वे शरीरादि के पौद्‌गलिक परमाणु अपनी तत् तत्-समय की स्वतंत्र योग्यता के अनुसार ही परिणमित होते हैं। वस्तुतः कर्ता-कर्म की सिद्धि परद्रव्य से सर्वथा निरपेक्ष अपने-अपने द्रव्य में ही है।

अहाहा ...... । प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्य की सहाय या अपेक्षा विना ही अपने परिणामों को करता है। ऐसी ही वस्तुस्थिति है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा होने से जीव को अजीव का कर्तापना सिद्ध नहीं होता। इसलिये जीव परद्रव्य का अकर्ता ही सिद्ध है।

प्रश्न : भगवान महावीर को केवलज्ञान होने के वाद भी ६६ दिन तक, जव तक गौतम गणधर नहीं आये, तव तक उनकी दिव्य ध्वनि नहीं खिरी और गौतम के आते ही दिव्यध्वनि खिरने लगी। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि भगवान की दिव्यध्वनि न होने में एवं होने में गौतम की अनुपस्थिति व उपस्थिति ही मुख्य कारण रही? ऐसी स्थिति में गौतमगणधर को ही दिव्यध्वनि का कर्ता क्यों न माना जाये?

समाधान : भाई! दिव्यध्वनि भाषा वर्गणा का काम है। उस कार्य के कर्ता भाषा के परमाणु हैं। उसमें गौतम गणधर का क्या काम? गौतम गणधर को कर्ता मानना तो वहुत दूर। वस्तुतः देखा जाये तो भगवान महावीर भी उस दिव्यध्वनि के कर्ता नहीं हैं; क्योंकि दिव्यध्वनि के कर्ता तो भाषा वर्गणा के

परमाणु अपने स्वचतुष्टय की स्वतंत्र योग्यता से वाणी रूप परिणमित हुये हैं। उन्हें न गौतम की अपेक्षा थी और न भगवान महावीर स्वामी की ही अपेक्षा थी। उनका अपना स्वतंत्र स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव) है, जो वाणी रूप परिणमा है।

हाँ, दिव्यध्वनि का खिरना व गणधर की उपस्थिति का समकाल होने से सहज निमित्त-नैमित्तिकपना देखकर व्यवहार से ऐसा कहा जाने लगा कि गणधर के कारण महावीर भगवान की दिव्यध्वनि खिरी।

भाई! यह तो सिद्ध ही है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में, सारे जगत में अनन्त पदार्थों की प्रत्येक पर्याय अपनी क्रमबद्ध के अनुसार ही होती है, उसमें अन्य द्रव्य, गुण व पर्याय की किंचित् भी कोई अपेक्षा नहीं है।

अन्य वस्तु है ही नहीं, यह बात भी नहीं है, वस्तु है; परन्तु वस्तु को कार्यरूप से परिणत होने में अन्य वस्तु की अपेक्षा बिल्कुल नहीं है।

अहा! ऐसा अन्य द्रव्य से निरपेक्ष कर्ता-कर्म का स्वरूप होने से जीव को अजीव का कर्ता-कर्मपना सिद्ध नहीं होता।

यद्यपि तत्वार्थराजवार्तिक में कार्य के दो कारणों की बात आती है; परन्तु वहाँ तो कार्य के समय अन्य कौन-सी वस्तु निमित्त रूप से उपस्थित होती है - इस बात का ज्ञान कराया गया है।

देखो, भगवान की वाणी सुनकर किसी एक जीव ने स्व का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट किया। वहाँ स्वद्रव्य का आश्रय कारण है और सम्यग्दर्शन होना कार्य है। इसप्रकार कर्ता-कर्म है तथा भगवान की वाणी तो उसमें मात्र बाह्य निमित्त है। सम्यग्दर्शन होना वाणी का कार्य नहीं है तथा वाणी के कारण वह सम्यग्दर्शन रूप कार्य हुआ है - ऐसा भी नहीं है।

तात्पर्य यह है कि अजीव में जो कार्य होता है, उसका कर्ता जीव नहीं होता है।

जीव में जो कार्य होता है, उसका कर्ता अजीव नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य के कार्य में अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं होती। प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय अपने स्वकाल में परद्रव्य से सर्वथा निरपेक्ष प्रगट होती है।

प्रश्न : आप ऐसा कहते हैं जबकि शास्त्रों में तो ऐसा भी आता है कि वज्रवृषभनाराचसंहनन और मनुष्यगति वालों को ही केवलज्ञान होता है। इस कथन का क्या तात्पर्य है?

उत्तर : शास्त्रों में जो भी ऐसे कथन आते हैं; उन सब कथनों में निमित्त-नैमित्तिक का ज्ञान कराने की अपेक्षा है। वस्तुत: बात यह है कि केवलज्ञान होने का कारण तो उस रूप से परिणमित जीव स्वयं ही है तथा केवलज्ञान जीव का कार्य है।

अरे! संहनन आदि तो दूर रहो, केवलज्ञान प्रगट होने में केवलज्ञान के पूर्व की ज्ञान पर्यायों की भी अपेक्षा नहीं होती। वास्तव में तो केवलज्ञान प्रगट होने का जो क्रमबद्धपने स्वकाल है, उसी काल में केवलज्ञान की पर्याय सहज ही स्वत: प्रगट होती है।

अहा! प्रत्येक जड़ व चेतन वस्तु में प्रत्येक समय उसके क्रमबद्धपने जो-जो परिणाम होते हैं, उनको किसी भी परवस्तु की – निमित्त की अपेक्षा नहीं है। उस पर्याय के कार्यकाल में भले ही निमित्त हो, पर उस कार्य के लिये निमित्त की अपेक्षा नहीं होती, निमित्त के कारण वह कार्य निष्पन्न नहीं होता।

द्रव्य में गुण सहवर्ती होते हैं, अनंतगुण द्रव्य में एक साथ रहते हैं। पर्यायें भी प्रवाह रूप से एक के बाद एक अपने क्रम में प्रगट होतीं हैं। ध्यान रहे, एक के बाद एक होते हुए भी इतना विशेष है कि जिस समय जो पर्याय होनी निश्चित है, उस समय वही पर्याय प्रगट होती है। द्रव्य में पर्याय की ऐसी प्रवाहधारा क्रमनियमित चलती है। जिस तरह दायें पैर के बाद बायाँ, और बायें के बाद दायाँ पैर चलता है। पंचाध्यायी में इसे क्रमपद कहा है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में द्रव्य की जिस समय जो पर्याय प्रगट होती है, उसे इसकी काललब्धि कहा है। छहों द्रव्यों में काललब्धि है – ऐसा वहाँ कहा है।

प्रवचनसार की गाथा १०२ में इसी बात को अपनी-अपनी पर्यायों का जन्मक्षण कहा है।

यहाँ यह बताना चाहते हैं कि आत्मा परद्रव्यों से भिन्न अपने परिणामों का कर्ता है, और पर का अकर्ता है।

यहाँ यह बात नहीं लेना कि — पर्याय की कर्ता पर्याय है; पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है। यद्यपि यह बात पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में कही है। वहाँ यह कहा है कि पर्याय का कर्ता द्रव्य नहीं है, बल्कि पर्याय ही पर्याय की कर्ता है, पर्याय ही कर्म है, करण है। पर्याय का सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण भी स्वयं पर्याय है। इसप्रकार पर्याय स्वयं ही अपने षट् कारकों से परिणमती है। परन्तु यहाँ यह बात ही जुदी है। यहाँ तो यह कहा है कि अपने परिणामों से उपजता हुआ द्रव्य स्वयं ही उनमें तन्मय है, अन्य द्रव्य में नहीं। इसलिये द्रव्य स्वयं अपने परिणामों का कर्ता है, अन्य द्रव्य उसका कर्ता नहीं।

जीवद्रव्य की ज्ञान गुण की एक समय की पर्याय (केवलज्ञान) छहों द्रव्यों को जानती है, स्वद्रव्य को भी जानती है। पर वह केवलज्ञान पर्याय जिसतरह स्वद्रव्य में तद्रूप है, वैसी अन्य द्रव्य में तद्रूप नहीं है। वह केवलज्ञान पर्याय छह द्रव्यों के साथ एक-मेक नहीं है। छह द्रव्य उस पर्याय में प्रविष्ट नहीं होते। इसलिये छह द्रव्यों का कर्ता ज्ञान नहीं है; आत्मा नहीं है। आत्मा तो अपने ज्ञान परिणामों का कर्ता है, परद्रव्यों का कर्ता नहीं है।

अहा! प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु अपने क्रमनियमित उपजते परिणामों से उस समय तद्रूप है तथा पर से पृथक् है। जीव के परिणाम में जीव तद्रूप है तथा अजीव से पृथक् है और अजीव के परिणामों से अजीव तद्रूप है, वह जीव से पृथक् है।

इसप्रकार जीव अपने परिणामों का कर्ता है और अजीव का अकर्ता है। उसीप्रकार जगत के अनंत द्रव्य अनन्तपने से तीनों काल रहते हैं। भाई! जीव अपने परिणाम को भी तथा अन्यद्रव्य के परिणाम को भी करे - ऐसा पदार्थों का स्वरूप नहीं है। इस कारण जीव पर का अकर्ता ही ठहरता है।

गाथा ३०८ से ३११ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु का समय-समय में होने वाला परिणाम भिन्न-भिन्न है तथा उन परिणामों का कर्ता अपना-अपना द्रव्य स्वयं ही है। वह परिणाम अपने-अपने

उन-उन द्रव्यों का कर्म है। अन्य द्रव्य कर्ता व अन्य द्रव्य का परिणाम कर्म हो - ऐसा कर्ता-कर्म सम्बन्ध वाला वस्तु का स्वरूप ही नहीं है।

यदि हम एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मानें अथवा एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता होवे तो दोनों मिलकर एक हो जायेंगे और अनंत द्रव्यों का अस्तित्व स्वतंत्र नहीं रह सकेगा। पर ऐसा होता नहीं है। इसलिए निश्चय से किसी एक द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध है ही नहीं। कुम्भकार ने घड़ा बनाया - ऐसा व्यवहार से जो कहा जाता है, सो यह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा जाता है। वस्तुत: देखा जाये तो कुंभकार घड़े का कर्ता नहीं है तथा घड़ा कुम्भकार का कर्म नहीं है। यह निश्चयार्थ है। इसीप्रकार एक द्रव्य का निश्चय से अन्य द्रव्य के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

अब कहते हैं कि भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप है। ऐसे निश्चय स्वरूप को जिसने जाना, अनुभव किया उस जीव को पर्याय में जो किंचित् राग होता है, उसे वह मात्र जानता है। वहाँ जो ज्ञान की पर्याय राग को जानती है, वह ज्ञान ही उसका कर्म है तथा आत्मा उस ज्ञान का कर्ता है। राग आत्मा का कर्म और आत्मा राग का कर्ता - ऐसा नहीं है। तथा राग कर्ता व ज्ञान कर्म - ऐसा भी नहीं है।

इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग ऐसा मानते हैं कि शुभ राग या पुण्य भाव करते-करते आत्मज्ञान हो जायेगा। उनका यह मानना सर्वथा विपरीत है; क्योंकि राग कर्ता व ज्ञान उस राग का कर्म - यह मान्यता ही मिथ्या है।

४७ शक्तियों में एक अकार्यकारणत्व शक्ति कही है। वहाँ कहा है कि आत्मा राग का कार्य भी नहीं और आत्मा राग का कारण भी नहीं। यह अकार्य कारण शक्ति का कार्य है।

अहा! ज्ञाता-दृष्टास्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि होने पर वह पर का व राग का कर्ता नहीं होता, अकर्ता रहता है, ज्ञाता-दृष्टा रहता है।

यही जिनवाणी का प्रयोजन है और जिनागम का सार है और इसी का नाम जैनधर्म है।

'इस प्रकार जीव अकर्ता है तथापि उसे बन्ध होता है सो यह अज्ञान की महिमा है' इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :–

(शिखरिणी)

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥ १९५ ॥

श्लोकार्थ : [**स्वरसतः विशुद्ध**] जो निजरस से विशुद्ध है, और [**स्फुरत्-चित्-ज्योतिर्भिः छुरित-भुवन्-आभोग-भवनः**] जिसकी स्फुरायमान होती हुई चैतन्यज्योतियों के द्वारा लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है ऐसा जिसका स्वभाव है, [**अयं जीवः**] ऐसा यह जीव [**इति**] पूर्वोक्त प्रकार से (परद्रव्य का तथा परभावों का) [**अकर्ता स्थितः**] अकर्ता सिद्ध हुआ, [**तथापि**] तथापि [**अस्य**] उसे [**इह**] इस जगत में [**प्रकृतिभिः**] कर्म प्रकृतियों के साथ [**यद् असौ बन्धः किल स्यात्**] जो यह (प्रगट) बन्ध होता है। [**सः खलु अज्ञानस्य कः अपि गहनः महिमा स्फुरति**] सो वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान है।

भावार्थ : जिसका ज्ञान सर्व ज्ञेयों में व्याप्त होने वाला है, ऐसा यह जीव शुद्धनय से परद्रव्य का कर्ता नहीं है; तथापि उसे कर्म का बन्ध होता है — यह अज्ञान की कोई ऐसी गहन महिमा है, जिसका पार नहीं पाया जाता ॥ १९५ ॥

कलश १९५ पर प्रवचन

इस कलश में कहते हैं कि भगवान आत्मा स्वयं निजरस से अर्थात् सहज ज्ञानानन्द रस से विशुद्ध है, पवित्र है, निर्मल है।

अहाहा........! अपने स्वभाव से ही आत्मा निर्मलानन्द है, पवित्र है। तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञान व आनन्द रूप रहे और राग रूप न हो - ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है।

यह जीव अनादि काल से चार गति व चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करके दुःख उठा रहा है। इसके दुःख के विषय में क्या कहें? कहना संभव ही नहीं है, परन्तु वह दुःख इसका स्वभाव नहीं है। दुःख के भाव रूप होना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

यह शरीर कर्म वगैरह तो जड़ माटी धूल है। अन्दर में पुण्य-पाप के जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे राग हैं, वे विकल्प शुद्ध अंतः तत्व से भिन्न हैं। भाई नवतत्व सब भिन्न-भिन्न हैं। अजीवतत्व अजीवपने है, पुण्यतत्व पुण्यरूप है और पापतत्व पापरूप है। इन सबसे जुदा भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञायकभावपने है, निजरस से विशुद्ध है।

देखा! यह आत्मा स्वभाव से अकर्ता होते हुए भी कर्ता कैसे हो जाता है? - यह बात चल रही है। यहाँ कहा है कि — आत्मा निजरस से अर्थात् स्वभाव से राग रहित है, निर्मल है। ऐसी स्फुरायमान होती हुई निर्मल चैतन्य ज्योति से इस आत्मा का विस्तार समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है। भगवान आत्मा तीन लोक व तीन काल में जितने भी अनन्तानन्त द्रव्य गुण पर्याय हैं, उन समस्त को क्षणभर में जानने की शक्ति वाला आत्मा सर्वज्ञ स्वभावी तो है; परन्तु लोकालोक की किसी वस्तु में किंचित् भी फेर-फार कर सके - ऐसी योग्यता आत्मा में नहीं है। तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा अकर्तास्वभावी है।

यहाँ इस कलश में अपने आत्मा की अनन्त सामर्थ्य का भान कराते हुए कह रहे हैं कि " भगवान आत्मा अन्दर में निजरस से स्फुरायमान चैतन्यज्योति के विस्तार से सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के स्वभाव वाला है, किन्तु किसी भी परद्रव्य का कुछ करे - ऐसा स्वभाव आत्मा का नहीं है अर्थात् आत्मा अकर्ता स्वभावी है। इसप्रकार यद्यपि जीव परद्रव्य का तथा परभावों का अकर्ता सिद्ध होता है तो भी इस जगत में आत्मा को कर्म प्रकृति के साथ बन्ध होता है - यह कोई अज्ञान की ही गहन महिमा है।

सर्वज्ञस्वभावी होते हुए भी अपने निज-स्वभाव के भान बिना अनन्त भूतकाल से इसने दया-दान व्रतादि के राग को अपनी चीज माना। इन्हें लाभप्रद माना, इन्हें अपना कर्तव्य माना। बस यही इसका अज्ञान है। इस अज्ञान से ही बन्ध होता है। इसके विपरीत ज्ञाता-दृष्टारूप ज्ञानभाव अबंध रूप है।

बस यहाँ यही सिद्ध किया गया है कि यह अज्ञान भाव ही बन्ध है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का पुंज त्रिकाल एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी वस्तु है। उसे दृष्टि में अपने रूप स्वीकार करना ज्ञान भाव है और यही आत्मज्ञान अबन्धरूप है।

अहा! अपनी ऐसी त्रिकाल विद्यमान वस्तु को न मानकर, स्वीकार न करके उसे अन्यथा मान लेना आत्मघात है। यही भाव हिंसा है। इसी से जीव को बंध होता है, जो कि चार गति में रखड़ने का कारण है।

बापू! यह बात इस समय नहीं समझोगे तो फिर ऐसा सुअवसर पुनः कब प्राप्त होगा, अभी तो एक साथ सब बनाव बन गये हैं।

छहढाला में पण्डित दौलतराम करुणा करके कहते हैं -

यह मानुष पर्याय, सुकुल सुनवो जिनवाणी
इह विध गये न मिले, सुमणि ज्यों उदधि समानी ।

भाई! यह देह तो देखते ही देखते छूट जायेगी और हमारा आत्मा स्वरूप के भान बिना कहाँ चला जायेगा, हम भवसमुद्र में कहाँ समा जायेंगे। पता ही नहीं चलेगा।

यहाँ बड़े करोड़पति सेठ हैं. परन्तु यदि रागादि की ममता में ही देह छूट गई तो मर कर पशु हो जायेंगे, कीड़े-मकोड़ों की किसी ऐसी तुच्छ पर्याय में चले जायेंगे। जिसे कोई जीव मानने को भी तैयार नहीं होता। पैरों तले रोंध दिये जायेंगे। क्या तुझे भवभ्रमण से जरा भी भय नहीं लगता।

यदि सचमुच संसार से भय लगा है तो अपनी इस अज्ञान की मान्यता को छोड़ो। स्वरूप के भान बिना, सम्यग्दर्शन बिना महाव्रतादि राग की क्रिया को अपनी (आत्मा की) क्रिया मानना अज्ञान है। इस अज्ञान का सेवन करते-करते कभी भव का अन्त नहीं आयेगा।

प्रश्न : राजवार्तिक में ऐसा आया है कि किसी ने द्रव्यलिंग धारण किया हो, पाँच महाव्रतों का पालन करता हो, — ऐसा मिथ्यादृष्टि भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है। इस कथन का क्या तात्पर्य है?

समाधान : पंचमहाव्रत के कारण सम्यग्दर्शन होता है — ऐसा उस कथन का अभिप्राय नहीं है। वहाँ उस कथन का तो यह अर्थ है कि द्रव्यलिंग की

भूमिका में अर्थात् बाहर में २८ मूलगुणों का पालन करते हुये कोई प्रथमगुणस्थानवर्ती मुनिराज यदि अपनी पर की ओर लगी दृष्टि को फेर कर अन्त:स्वभाव का आश्रय कर लेते हैं तो उन्हें सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है। द्रव्यलिंग की उपस्थिति में सम्यग्दर्शन होने का विरोध नहीं है। यहाँ समझने की बात तो यह है कि द्रव्यलिंग सम्यग्दर्शन का नियामक कारण नहीं है। बापू! ऐसा द्रव्यलिंग व मुनिवेश तो हम-तुम-सबने अनन्तबार धारण किया; किन्तु सम्यग्दर्शन अब तक नहीं हुआ। अन्यथा यहाँ हमारा-तुम्हारा जन्म ही नहीं होता। कभी का मोक्ष हो गया होता।

भाई! ये सब तो राग की मन्दता की क्रियायें हैं। ये न धर्म हैं, न धर्म के कारण हैं। राग की पूर्ण उपेक्षा करके स्वद्रव्य की अपेक्षा करे तो ही जीव समकित आदि धर्म प्राप्त कर सकता है। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है।

जिसप्रकार हिरण की नाभि में कस्तूरी हैं, परन्तु उसे भान नहीं है कि यह सुगंध तो मेरे में ही है, अत: कस्तूरी की सुगंध का लोभी वह मृग कस्तूरी को खोजने के लिये जंगल में दौड़-दौड़ कर दम तोड़ देता है। उसीप्रकार यह आत्मा स्वयं सुख का सागर है, इसमें ज्ञान व आनन्द लबालब भरा है, परन्तु इसे अपने निज वैभव का पता न होने से यह सुख की खोज में संसार वन में मारा-मारा फिरता है और जन्म-मरण के दु:ख भोगता रहता है।

अब आचार्य व्यंग्य में कहते हैं कि यह अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान हो रही है। अहा! स्वयं देखने-जानने के स्वभाववाला भगवान आत्मा स्वयं त्रिकाल विद्यमान है, तो भी यह स्वयं को पहचानता नहीं है। राग के पर्यायरूप अंश को अपना स्वरूप मानकर अज्ञानभाव से वर्तता है। उस अज्ञान से इसे नवीन बन्ध हुआ करता है।

कलश १९५ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा ज्ञान स्वरूप है, जानना इसका स्वभाव है। ज्ञान लोकालोक में जाता नहीं है; किन्तु भगवान आत्मा लोकालोक को अपने ज्ञान में जान लेता है - ऐसा स्व-पर-प्रकाशक आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा वस्तु है — इसका अर्थ यह है कि जिसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुण एकरूपपने बसते हैं। ऐसा अनन्त गुणों का वास्तु (घर) होने से भगवान आत्मा को वस्तु कहते हैं। ऐसे निजघर की महिमा आना, उसकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। उसी का ज्ञान वास्तविक ज्ञान है और उसी में निवास करना चारित्र है। शेष जो शुभाशुभ परिणाम हैं, वे सब अंधकार हैं; क्योंकि उनमें चैतन्य के प्रकाश का अभाव है। दया-दान-व्रत आदि का राग अंधकार है; क्योंकि उसमें चैतन्य का प्रकाश नहीं है।

स्वभाव की दृष्टि से देखें तो दया-दान आदि के विकल्पों का कर्ता भगवान आत्मा नहीं है। आत्मा पर द्रव्यों का कर्ता तो है ही नहीं, परद्रव्य के लक्ष्य से होने वाले शुभाशुभ विकल्पों का कर्ता भी वास्तव में नहीं है; क्योंकि आत्मा तो शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है।

अहा! आत्मा अकेला चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर है। जो ऐसे आत्मा की प्रतीति नहीं करता है; उसे अज्ञान के कारण राग व जड़ कर्मों का सम्बन्ध होता है। इसप्रकार वह चार गति में परिभ्रमण करता है।

अरे! अज्ञानी को अपने ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा की कभी महिमा नहीं आई। अपने स्वरूप का भान किये बिना अन्य किसी प्रकार से अज्ञान का अन्त नहीं आ सकता। अज्ञान में रहकर कोई अज्ञान का पार नहीं पा सकता। जब चिदानन्दघन प्रभु आत्मा का ज्ञान और अनुभव होता है तब ज्ञानभाव होने पर बन्ध नहीं होता तथा उस स्थिति में उसे भव का परिभ्रमण भी नहीं रहता।

समयसार गाथा ३१२ से ३१३

चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ ॥
एवं बंघो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे ॥ ३१३ ॥

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥ ३१२ ॥
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत् ।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥ ३१३ ॥

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति; प्रकृतिरपि चेतयितृ-निमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति। एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृ-कर्मभावाभावेप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः, ततः संसारः, तत एव च तयोः कर्तृकर्म-व्यवहारः।

(अब अज्ञान की इस महिमा को प्रगट करते हैं:)

पर जीव प्रकृती के निमित्त जु, उपजता नशता अरे !
अरू प्रकृति का जीव के निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है ॥ ३१२ ॥
अन्योन्य के जु निमित्त से यों, बंध दोनों का बने ।
इस जीव प्रकृती उभय का, संसार इससे होय है ॥ ३१३ ॥

गाथार्थ : [चेतयिता तु] चेतक अर्थात् आत्मा [प्रकृत्यर्थम्] प्रकृति के निमित्त से [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [विनश्यति] और नष्ट होता है, [प्रकृतिः अपि] तथा प्रकृति भी [चेतकार्थम्] चेतक अर्थात् आत्मा के निमित्त से [उत्पद्यते] उत्पन्न होती है [विनश्यति] तथा नष्ट होती है । [एवं] इस प्रकार [अन्योन्यप्रत्ययात्] परस्पर निमित्त से [द्वयोः अपि] दोनों का -

[**आत्मनः प्रकृतेः च**] आत्मा का और प्रकृति का [**बन्धः तु भवेत्**] बन्ध होता है, [**तेन**] और इससे [**संसारः**] संसार [**जायते**] उत्पन्न होता है।

टीका : यह आत्मा, (उसे) अनादि संसार से ही (अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से दूसरे का और अपना एकत्व का अध्यास करने से कर्ता होता हुआ, प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है; प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति - विनाश को प्राप्त होती है (अर्थात् आत्मा के परिणामानुसार परिणमित होती है)। इस प्रकार - यद्यपि वे आत्मा और प्रकृति के कर्ताकर्मभाव का अभाव है, तथापि - परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से दोनों के बन्ध देखा जाता है, इससे संसार है और इसी से उनके (आत्मा और प्रकृति के) कर्ताकर्म का व्यवहार है।

भावार्थ : आत्मा के और ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतिओं के परमार्थ से कर्ता-कर्मभाव का अभाव है, तथापि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव के कारण बन्ध होता है, इससे संसार है और इसी से कर्ताकर्मपने का व्यवहार है।

गाथा ३१२-३१३ एवं टीका पर प्रवचन

यह आत्मा अन्दर से अनंत गुणों से भरा भगवान है; परन्तु इस संसारी अज्ञानी जीवों को अनादि से ही स्व-पर के भिन्न-भिन्न सुनिश्चित स्व-लक्षणों की पहचान नहीं है, भेदज्ञान नहीं है। अपना आत्मा चैतन्यस्वभावी है व रागादि विभाव भाव जड़ कर्म प्रकृति के लक्ष्य से हुए जड़ स्वरूप अचेतन भाव हैं। ऐसी स्व-पर की स्वभाव-विभाव की जो प्रगट भिन्नता है, संसारी प्राणी को इसका ज्ञान नहीं है। इस कारण स्व-पर में एकत्व का अध्यास करके दोनों में ही अपनेपन का भ्रम पालकर विभाव भावों का कर्ता बनकर कर्म प्रकृति के निमित्त से जन्म-मरण करता रहता है।

चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञानानन्द स्वभावी होते हुए भी विकृत रागादि भावों का कर्ता क्यों व कैसे होता है?

इस प्रश्न का समाधान करते हुये कहते हैं कि — त्रिकाली शुद्ध चैतन्य स्वभाव और वर्तमान मलिन विभाव भावों के बीच अनादि से ही भेदज्ञान न

होने से अज्ञानी जीव रागादि भावों का कर्ता होता है। कर्मों के कारण कर्ता नहीं होता; किन्तु स्व-पर में एकत्व के अध्यास से अज्ञानी जीव क्षणिक भावों का कर्ता होता है।

आत्मा स्वयं अपने अज्ञान से कर्म प्रकृति के अधीन होकर विकार का कर्ता बनकर जन्म-मरण करता है।

यदि जीव अपने शुद्ध एक ज्ञाता स्वभाव के अधीन होकर स्वाधीनपने परिणमन करे तो निर्विकारी होता है, निर्मल वीतरागी दशा प्रगट होती है।

परन्तु अज्ञानी जीव को स्वभाव-विभाव में एकत्व का अध्यास हो रहा है। विकार मेरा है, मैं विकार स्वरूप हूँ - अनादि से ही ऐसी मान्यता हो रही है, इस कारण स्वभाव की दृष्टि का तो अभाव रहा ही है और कर्मोदय के अधीन होकर रागादि विकार का कर्ता भी बना हुआ है।

देखो, यहाँ प्रथम चार गाथाओं में जीव का अकर्तापना सिद्ध किया है। अब प्रश्न उठता है कि यह जीव रागादि का कर्ता कैसे बनता है?

उत्तर में कह रहे हैं जब जीव स्वभाव का आलंबन छोड़कर कर्मप्रकृतियों के अधीन होकर परिणमन करता है, तब वह विकार भावों का कर्ता होकर उत्पन्न विनष्ट होता है।

अहा! शुद्ध उपादान के बिना परवस्तुओं के अधीन होकर जो अशुद्ध उपादानरूप परिणमते हैं, वे अशुद्धता के - रागादि अज्ञानमय भावों के कर्ता होते हैं।

जगतजन दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-यात्रा आदि शुभ राग के परिणमन से धर्म होना मानते हैं, परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्या है; क्योंकि ऐसी मान्यता तो राग के साथ एकत्व के अध्यास वाली है। अहा! स्वभाव की रुचि और स्वभाव की ओर का झुकाव नहीं होने से अज्ञानी जीव कर्मोदय के प्रति झुकाव करके विकाररूप परिणमते हैं और उस विकार के कर्ता बनते हैं। जबकि राग का कर्ता बने - ऐसा जीव का स्वभाव नहीं है। फिर भी जीव राग के साथ एकत्वबुद्धि के कारण अपने में हुये दीर्घ संसार के कारणभूत राग का कर्ता बनता है।

जीव में एक वैभाविक शक्ति है। यह शक्ति त्रिकाल है। सिद्ध भगवान में भी वैभाविक शक्ति है, किन्तु सिद्ध भगवान विभावरूप परिणमते नहीं हैं; क्योंकि सिद्धदशा में वह वैभाविक शक्ति भी स्वभाव रूप ही परिणमने लगती है। यह वैभाविक शक्ति जीव व पुद्गल में ही होती है। शेष चार द्रव्यों में नहीं होती। इस कारण उनका विभाव रूप परिणमन कभी भी नहीं होता। वैभाविक शक्ति विकार रूप परिणमाये - ऐसा इसका अर्थ नहीं है, बल्कि विभाव का अर्थ विशेष भाव भी होता है यहाँ यही (विशेष भाव) अर्थ अभीष्ट है। वैभाविक शक्ति भी आत्मा का स्वभाव भाव है। अज्ञानी अपने ऐसे निज स्वभाव को नहीं जानने से निमित्ताधीन विकार का कर्ता बनता है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी विकारी भावों का कर्ता होता हुआ कर्म प्रकृति के निमित्त से जन्म-मरण को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव स्वयं पर का या विकार का कर्ता बन कर स्वयं विकारभाव से उत्पन्न विनष्ट होता है और कर्म प्रकृतियों का उदय उसमें निमित्त मात्र होता है। कर्म प्रकृति जीव में विकार नहीं कराती। जीव स्वयं ही कर्म प्रकृति के उदयाधीन होकर विकाररूप से परिणमन करता है। विकाररूप से उत्पन्न-विनष्ट होना अज्ञानी जीव का स्वयं का कार्य है। उसका कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, उसके विकाररूप उत्पन्न-विनष्ट होने में कर्म प्रकृतियों का कोई कार्य नहीं है। वे तो मात्र निमित्तरूप से उपस्थित रहतीं हैं।

अब कहते हैं कि कर्मप्रकृतियों का आत्मा के साथ मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है।

पहले यह कहा था कि — "अज्ञानी जीव राग का कर्ता होकर कर्म प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त करता है।" अब कहते हैं कि — "जड़ कर्म की प्रकृतियाँ भी आत्मा के राग आदि परिणामों के निमित्त से उत्पन्न-विनष्ट होती हैं।

प्रकृतियों का जो नवीन बन्ध होता है, उसमें आत्मा के विकारी परिणाम निमित्त मात्र होते हैं, वे विकारी परिणाम प्रकृतिबन्ध के कर्ता नहीं होते। जीव

के विकारी परिणाम कर्ता व जड़कर्म का बन्ध कर्म – ऐसा कर्ताकर्म सम्बन्ध जीव व जड़कर्मों के साथ तीनकाल में कभी भी संभव नहीं है। जड़कर्म प्रकृतियाँ अपनी पर्यायगत योग्यता से बँधती हैं, उसमें आत्मा का विकारी परिणाम निमित्त मात्र होता है। जिसप्रकार जब जीव के विकारी परिणाम अपनी तत्समय की योग्यता से होते हैं और उनमें पूर्वबद्ध कर्मों का उदय निमित्त मात्र होता है, उसीप्रकार नवीन कर्म प्रकृतियों के बँधने में जीव के विकारी परिणाम निमित्त होते हैं। एक दूसरे में कर्ता-कर्म भाव नहीं है, मात्र निमित्त-नैमित्तिक भाव है।

प्रवचनसार के ४७ नयों में एक ईश्वर नय और एक अनीश्वर नय की बात आती है। वहाँ कहा है कि आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता भोगने वाला है। धाय की दुकान पर दूध पिलाये जाने वाले राहगीर के बालक की भाँति।

जिस तरह राहगीर का बालक स्वयं धाय माता (पैसे लेकर दूधमुँहे बालक को अपना स्तनपान कराने वाली नारी) के अधीन होकर दूध पीता है, उसी तरह आत्मा स्वयं कर्म के अधीन होकर विकार करता है, कर्म विकार नहीं कराता।

धर्मी पुरुष स्वाश्रय से स्वाधीनपने निराकुल आनन्द को यथेष्ट भोगता हुआ अपने किंचित् राग के वशीभूत होकर कर्मोदय के आधीन होने से स्वयं पराधीन होता है।

यहाँ कहते हैं कि यद्यपि कर्म प्रकृति भी आत्मा के विकारी परिणामों के निमित्त से उत्पत्ति विनाश को प्राप्त करती है। परंतु कर्म प्रकृति बन्धभाव से तो स्वयं ही परिणमती है; उस काल में आत्मा के मिथ्यात्वादि परिणमन तो उसमें निमित्त मात्र होते हैं।

इसप्रकार आत्मा व कर्म प्रकृति के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से दोनों के बंध देखने में आता है; किन्तु वहाँ दोनों में कर्ताकर्म भाव का अभाव है। जब आत्मा अपने क्रमबद्ध परिणामों से परिणमित होता हुआ विकारी भाव रूप से उत्पन्न होता है, तब कर्मोदय उसमें निमित्त है तथा जब कर्म प्रकृति अपने

क्रमवद्ध परिणामों से परिणमित होती हुई वंधभाव से उत्पन्न होती है, तव आत्मा के विकारी भाव उसमें निमित्त होते हैं। वस ऐसा परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से दोनों के वंध होता है। भाई! जो भी कार्य उत्पन्न होता है उसमें दूसरी वस्तु निमित्त अवश्य होती है; किन्तु निमित्त से कार्य नहीं होता।

पूर्ववद्ध जड़ कर्म प्रकृति के उदय के निमित्त से हुये आत्मा के विकारी-भाव भाववन्ध हैं तथा जड़ कर्म प्रकृतियों का वँधना द्रव्यवंध है। इनमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संवंध तो है, परन्तु कर्ता-कर्म संवंध नहीं है। रागादि भाववन्ध धर्म का कारण रूप अवंध परिणाम नहीं है। अवंध परिणाम तो अवंधस्वरूपी भगवान आत्मा के, स्व के आश्रय से होता है और यही मोक्ष का मार्ग है।

पूर्ववद्ध कर्म प्रकृतियों के उदय के निमित्त से जो विकारी भाव उत्पन्न होते हैं, वे भाववंध हैं। वे नवीन कर्म प्रकृतियों के वंध में निमित्त हैं। इसप्रकार संसारी आत्मा व कर्म प्रकृतियों के परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव से विकार रूप परिणमन होता है और उससे संसार में रुकता है तथा इसी अपेक्षा से उनमें कर्ता-कर्म का व्यवहार है। निश्चय से तो आत्मा के साथ कर्म प्रकृतियों का कर्ता-कर्म संवंध ही नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की अपने-अपने स्वकाल में जो पर्याय क्रमवद्ध होनी हो, वही होती है। उसे निमित्तरूप परद्रव्य की तो वात ही क्या कहें ? स्वयं आत्मा (स्वद्रव्य रूप उपादान) भी आगे-पीछे नहीं कर सकता। परन्तु अपने क्रमवद्ध रूप से जो विकारी परिणमन होता है, उसमें कर्मों का उदय निमित्त रूप होता अवश्य है तथा उस विकार के निमित्त से कर्म का वन्ध भी होता है। इन दोनों में नवीन निमित्त-नैमित्तिक संवंध है। इस कारण व्यवहार नाम से उन दोनों में कर्ताकर्म का व्यवहार है, परन्तु ऐसा कहना परमार्थ नहीं है। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

गाथा ३१२-३१३ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, आत्मा व कर्म प्रकृतियों के परमार्थ से परस्पर कोई कर्ताकर्म संवध नहीं है। जीव में जो विकार होता है, उसका कर्ता जड़ कर्म एवं आत्मा का विकार

जड़ कर्मों का कार्य - ऐसा कतई नहीं है। तथा विकारी परिणाम कर्ता और नवीन कर्मों का बन्ध उस विकारी परिणामों का कार्य — ऐसा भी नहीं है।

आत्मा और कर्म प्रकृतियों में परमार्थ से कर्ता-कर्म संबध नहीं है तो भी परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव के कारण बंध होता है, और उससे संसार है; व चार गति का परिभ्रमण होता है।

समयसार गाथा ३२० के भावार्थ में कहा है - मिथ्यात्व ही संसार है। मिथ्यात्व का अभाव होने के बाद संसार का अभाव नियम से हो ही जाता है। फिर संसार से पार होने में लम्बा काल नहीं लगता। संसार-सिंधु विन्दुवत् अल्प रह जाता है। सिन्धु के समक्ष बिन्दु की क्या गिनती? तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने पर भी अविरत, प्रमाद आदि का थोड़ा-सा दोष रह जाता है, परन्तु वह तो समुद्र में बिन्दु के समान है तथा वह भी अल्पकाल में ही अपने क्रम में नष्ट होने वाला ही है। एक मिथ्यात्व ही महादोष है, यही संसार है।

देखो, कर्मोदय के कारण विकार होना मानना तो मूल में ही भूल है। विकार अपने षट्कारकों से स्वयं के कारण होता है, निमित्त से नहीं। तथा अपने द्रव्य-गुणों से भी नहीं। प्रभु! द्रव्य, गुण व पर्याय - तीनों ही स्वतंत्र हैं।

१. द्रव्य तो त्रिकाल अकृत्रिम है। उसका कर्ता अन्य कोई नहीं है; इसलिये द्रव्य स्वतंत्र है।
२. द्रव्य में रहने वाले गुण भी त्रिकाल अकृत्रिम हैं, अतः वे भी स्वतंत्र हैं।
३. इसीप्रकार इन द्रव्य व गुणों की पर्यायें भी एक-एक समय की सहज सत् हैं, स्वयं से ही होतीं हैं। इसलिये ये भी स्वतंत्र हैं।

जब त्रिकाली द्रव्यस्वभाव के आश्रय के कारण सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट हुई, उस समय दर्शनमोह कर्म प्रकृति का अवश्य ही अभाव होता है, किन्तु दर्शनमोह के अभाव के कारण सम्यग्दर्शन नहीं होता। बल्कि दोनों कार्य अपनी-अपनी योग्यता से स्वतंत्र होते हैं, दोनों का मात्र समकाल एवं सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, कर्ता-कर्म संबंध नहीं है। जब एक द्रव्य में परिणाम रूप कार्य होता है, तब उसे अन्य द्रव्य की कोई अपेक्षा नहीं होती। लोगों को अज्ञान या मिथ्यात्व के कारण पर के साथ कर्ता-कर्म का अध्यास (भ्रम) हो रहा है। यही संसार परिभ्रमण का मूल कारण है।

समयसार गाथा ३१४-३१५

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुञ्चए ।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ ॥ ३१४ ॥
जदा विमुंचए चेदा कम्मफलमणंतयं ।
तदा विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी ॥ ३१५ ॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुंचति ।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥ ३१४ ॥
यदा विमुंचति चेतयिता कर्मफलमनंतकम् ।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥ ३१५ ॥

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंध-निमित्तं न मुंचति, तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या चासंयतो भवति; तावदेव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति। यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुंचति, तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति; तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति।

(अब यह कहते हैं कि 'जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनाशनां न छोड़े तब तक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयत है':)

उत्पाद-व्यय प्रकृतिनिमित्त जु, जब हि तक नहिं परितजे ।
अज्ञानि, मिथ्यात्वी, असंयत, तब हि तक वो जीव रहे ॥ ३१४ ॥
ये आतमा जब ही करम का, फल अनंता परितजे ।
ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वो हि कर्मविमुक्त है ॥ ३१५ ॥

गाथार्थ : [यावत्] जबतक [एषः चेतयिता] यह आत्मा [प्रकृत्यर्थं] प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनशना [न एव विमुञ्चति] नहीं छोड़ता, [तावत्] तबतक वह [अज्ञायकः] अज्ञायक (अज्ञानी) है, [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि है, [असंयतः भवेत्] असंयत है।

[यदा] जब [चेतयिता] आत्मा [अनन्तकम् कर्मफलम्] अनन्त कर्म फल को [विमुञ्चति] छोड़ता है, [तदा] तब वह [ज्ञायकः] ज्ञायक है, [दर्शकः] दर्शक है, [मुनिः] मुनि है, [विमुक्तः भवति] विमुक्त अर्थात् बन्ध से रहित है।

टीका : जब तक यह आत्मा (स्व-पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से, प्रकृति के स्वभाव को - जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है उसको नहीं छोड़ता, तब तक स्वपर के एकत्वज्ञान से अज्ञायक (-अज्ञानी) है, स्वपर के एकत्वदर्शन से (एकत्वरूप श्रद्धान से) मिथ्यादृष्टि है और स्वपर की एकत्वपरिणति से असंयत है; और तभी तक पर के तथा अपने एकत्व का अध्यास करने से कर्ता है और जब यही आत्मा (अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों के ज्ञान के (भेदज्ञान के) कारण प्रकृति के स्वभाव को - जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है उसको — छोड़ता है, तबतक स्वपर के विभाग ज्ञान से (भेदज्ञान से) ज्ञायक है, स्वपर के विभाग दर्शन से (भेददर्शन से) दर्शक है और स्वपर की विभाग परिणति से (भेदपरिणति से) संयत है; और तभी स्व-पर के एकत्व का अध्यास न करने से अकर्ता है।

भावार्थ : जबतक यह आत्मा स्व-पर के लक्षण को नहीं जानता तबतक वह भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित होता है; इसप्रकार मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर, कर्ता होकर, कर्म का बन्ध करता है और जब आत्मा को भेदज्ञान होता है; तब वह कर्ता नहीं होता, इसलिये कर्म का बन्ध नहीं करता, ज्ञाता-दृष्टारूप से परिणमित होता है।

गाथा ३१४-३१५ एवं टीका पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जब तक जीव यह मान्यता नहीं छोड़ता कि मेरा जन्म-मरण कर्म प्रकृति के उदयानुसार ही होता है, अर्थात् मेरी उत्पत्ति व विनाश कर्म के कारण होता है। तब तक वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है।

संसारी जीव को अनादि से ही स्व-पर के निश्चित स्व-लक्षणों का ज्ञान नहीं है। इस कारण अनादि से ही निमित्ताधीन रहा है। स्वाधीनता प्रगट हुई ही नहीं। ऐसी स्थिति में कर्म प्रकृतियों के उदयाधीन होकर उसके जो भाव होते हैं, वे नवीन कर्म बंध के कारण बनते हैं। जब तक जीव कर्म प्रकृतियों की अधीनता नहीं छोड़ता तब तक वह स्व-पर के एकत्व के कारण अज्ञानी रहता है।

निमित्ताधीन होकर परिणमने से विकार ही होता है। चाहे वे भले ही दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभ परिणाम ही क्यों न हों। वे भी तो स्वभाव से विरुद्ध भिन्न होने से विकारी भाव ही हैं। चैतन्य प्रभु स्वभाव से तो विकार से भिन्न ही हैं; परन्तु जब तक जीव उन दोनों की भिन्नता नहीं जानता, तब तक जीव अज्ञानी ही है। यहाँ कहते हैं कि जो जीव ऐसा मानते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय हो जाता है, वे अज्ञानी हैं।

यहाँ पहले ज्ञान की अपेक्षा से बात की है, दृष्टि की अपेक्षा नहीं; क्योंकि अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप को ज्ञान में जाने बिना श्रद्धा किसकी करें ? १७-१८वीं गाथा में भी यही कहा है कि पहले जानो! जाने हुये का श्रद्धान करो, तत्पश्चात् उसी में स्थिर हो जाओ, लीन हो जाओ। मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा है कि निजशुद्ध चैतन्य स्वरूप को जाने बिना श्रद्धा किसकी करना ? जाने बिना किया श्रद्धान तो गधे के सींग की श्रद्धा के समान है। इन सब कथनों से यही सिद्ध होता है कि जब तक जीव अपने बन्ध के निमित्तभूत प्रकृति के स्वभाव को छोड़ता नहीं है तब तक स्व-पर के एकत्व के अध्यास से अज्ञायक ही है तथा स्व-पर का भेदज्ञान न होने से जब तक प्रकृति स्वभाव को छोड़ता नहीं है, तब तक स्व-पर के एकत्व दर्शन से - एकपने की श्रद्धा से मिथ्यादृष्टि है।

तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा शुद्ध एक ज्ञानानंदस्वभावी प्रभु नित्य है तथा शुभाशुभ विकल्पों की जो विकृत वृत्तियाँ उठती हैं, वे सब कर्म प्रकृति के स्वभाव हैं। जब तक जीव इन बंध की निमित्तभूत कर्म प्रकृति के स्वभावों को नहीं छोड़ता तब तक स्व-पर के एकत्व श्रद्धान से मिथ्यादृष्टि है।

भाई! दया, दान, व्रत आदि शुभ राग से लाभ मानने वाले जीव शुभ भाव को 'स्व' मानते हैं; जो कि विकारी होने से स्व की सीमा में नहीं आते। अतः स्व-पर के एकत्व श्रद्धान से वे भी मिथ्यादृष्टि हैं।

भाई! पंच महाव्रत पालन करने के विकल्प राग हैं, और वे प्रकृति के स्वभाव हैं, जीव के स्वभाव भाव नहीं हैं। भले ही कोई नग्न दिगम्बर साधु हो गया हो, महाव्रतादि मूल गुणों का निर्दोष पालन भी करता हो; किन्तु उन व्रतादि रूप शुभ भावों से आत्मा का धर्म होना मानता हो तो वह स्व-पर के एकत्व श्रद्धान के कारण मिथ्यादृष्टि है।

भाई! सर्वज्ञ परमात्मा का मार्ग अलौकिक है, जगत से निराला है। जगत शुभ राग में धर्म मानता है, जब कि भगवान केवली का मार्ग वीतराग भाव स्वरूप है। यहाँ कहते हैं कि जो वीतराग स्वभावी आत्मा को और कर्म प्रकृति के विकार को स्वभाव मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। अहा! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति संबंधी व्यवहार में शुभ विकल्प करते-करते निश्चय सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मानुभूति होगी - ऐसा मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। अरे बापू! ऐसे शुभ विकल्प तो इस जीव ने अनन्तों बार किये हैं; किन्तु विकल्पों से भिन्न निर्विकल्प चैतन्य चमत्कार प्रभु आत्मा का दर्शन-श्रद्धान किये बिना सम्यग्दर्शन नहीं हुआ।

अरे! जैन सम्प्रदाय में जन्म तो ले लिया, परन्तु जैन परमेश्वर का कहा जैन तत्त्व क्या है? इस बात की खबर नहीं। भगवान आत्मा स्वयं जिन स्वरूप है। कहा भी है -

"जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म,
इसी वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म ॥

अहा हा! भगवान आत्मा जिन स्वरूप अर्थात् परम वीतराग स्वरूप है। यदि ऐसा न हो तो वीतरागता कहाँ से प्रगट हो? क्या वीतरागता व्यवहार से आती है? अहा हा...! आत्मा स्वभाव से ही जिनस्वरूप - वीतरागस्वरूप, आनन्दस्वरूप, ईश्वरस्वरूप है। उसे जब तक रागस्वरूप माने, राग के साथ एकमेक माने; तब तक जीव मिथ्यादृष्टि है।

ओहो! जीव का स्फटिक मणि के समान निर्मल स्वभाव है तथा पुण्य-पाप का मलिन भाव कर्म प्रकृति का स्वभाव है, जीव का नहीं। भाई! निश्चय से राग पुद्‌गल का स्वभाव है, क्योंकि राग कर्म प्रकृति के संग में उत्पन्न हुआ औपाधिक भाव है और वह कर्म प्रकृति के अभाव होते ही निकल जाता है। भगवान सिद्ध परमात्मा के राग होता ही नहीं है। अतः स्पष्ट है कि राग जीव का स्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्‌गल प्रकृति का स्वभाव है।

ऐसा होते हुये भी राग व अपने स्वभाव को जब तक जीव एकमेकपने से मानता है तब तक जीव मिथ्यादृष्टि है। भाई! भगवान ने भी पुण्य-पाप के अभावरूप एक वीतराग भाव को ही धर्म कहा है। तथा वे अज्ञानी जीव स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत है; अर्थात् राग के साथ एकमेक होकर प्रवर्तन करने के कारण असंयत हैं। वे व्रती नहीं हैं, संयमी नहीं हैं, समकिती भी नहीं हैं। बिना सम्यग्दर्शन के जहाँ तक अकेली रागमय परिणति है, वहाँ तक जीव असंयत है।

इसप्रकार इस प्रकरण में तीन बातें आईं -

१. जब तक स्व-पर का ज्ञान नहीं है, तब तक अज्ञानी है।
२. स्व-पर के एकत्व श्रद्धान से जीव मिथ्यादृष्टि है।
३. स्वपरिणति को छोड़कर पुण्य-पाप की परिणति रूप परिणमन करने के कारण वह असंयत है।

अहो! निर्मलानन्द का नाथ भगवान आत्मा शुद्ध, एक ज्ञानस्वभावमय है। जो ऐसे शुद्धात्मा के आश्रय से अपने स्वरूप में प्रवर्तन करता है, वह ज्ञानी है तथा उसकी वह परिणति ज्ञानमय परिणति है। इससे भिन्न अपने को राग रूप जाने, माने व वैसा ही परिणमन करे तो वह उसकी रागमय परिणति है, स्व-पर की एकत्वमय परिणति है। शुभ राग को भला जानकर दया, दान, व्रतादि के आचरण रूप प्रवर्तन करना परपरिणति है। इस रागमय परिणति को स्व-पर की एकत्व परिणति कहा है। जब तक जीव स्व-पर की एकत्व परिणति रूप परिणमता है तब तक वह असंयत है।

प्रवचनसार की गाथा २३६ में कहा है कि "जिन जीवों को स्व-पर का भेदज्ञान नहीं है, उनके भले ही कदाचित् पाँच इन्द्रियों के विषयों का संयोग देखने में नहीं आता हो, छहकाय के जीवों की द्रव्य हिंसा दिखाई नहीं देती हो और सम्पूर्ण जीवन संयममय दिखाई देता हो; तथापि काय व कषाय के साथ एकता बुद्धिवाले जीवों को वस्तुतः पाँच इन्द्रियों के विषय की अभिलाषा का निरोध नहीं है, हिंसादि पापों का जरा भी अभाव नहीं है। इसप्रकार उन जीवों की परभाव से बिल्कुल भी निवृत्ति नहीं है। वे स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत ही है।

अपना आत्मा तो एक ज्ञानस्वभाव ही है। उसे छोड़ कर जो राग के साथ एकत्व रूप से प्रवृत्त होता है, उसे स्व-पर की एकत्व परिणति कहा है। स्व पर की एकत्वपरिणति का अर्थ ज्ञान व राग की मिली-जुली परिणति नहीं है। ज्ञान की परिणति तो आत्मा के ज्ञान स्वभाव के आश्रय से होती है, उसमें राग की परिणति नहीं होती तथा राग की परिणति कर्म प्रकृति के स्वभाव के आधीन है, उसमें ज्ञान की परिणति नहीं है।

प्रश्न : आपने दोनों परिणतियों को भिन्न-भिन्न कहा सो यह तो ठीक, पर ज्ञानी के राग तो होता है न?

उत्तर : हाँ ज्ञानी (समकिती) को राग होता है, परन्तु उसको स्व-पर के एकत्वरूप राग परिणति नहीं होती, मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहता है। वह राग में स्वामित्व नहीं करता।

यहाँ जो स्व-पर के एकत्व की बात की है, वह तो मिथ्यादृष्टि के असंयम की बात की है। जो ऐसा मानता है कि "राग ही मैं हूँ" वह राग की एकत्व परिणति से असंयत है।

अब कहते हैं कि "तबतक ही वह पर के व अपने एकत्व के अध्यास से कर्ता है।"

अहा! भगवान आत्मा का तो एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, परन्तु अज्ञानी को स्व-पर के एकत्व का अध्यास हो गया है। राग को अपना स्वभाव मानने

की अज्ञानी को आदत पड़ गई है। जवतक इसे यह अध्यास रहेगा, तवतक इसे पर का कर्तृत्व रहेगा ही।

भाई! वीतरागी धर्म कोई अपूर्व वस्तु है। जो इसने आजतक किया ही नहीं है। पंच महाव्रत तथा दया, दान, आदि के शुभभाव तो पूर्व में अनंत वार किये। फलस्वरूप अनंतकाल वाद एक मनुष्य भव मिलता है, ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव इसे अनंत वार मिला, इससे भी असंख्यातगुणे अर्थात् अनंत वार देव पर्यायों में गया। जव इतने वार मनुष्य व देव हुआ तो क्या विना शुभ भाव हुये ही ये भव मिल गये होंगे ? अतः पुण्य भावों की अपूर्वता नहीं है, किन्तु यदि तू एक वार ज्ञानस्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन प्रगट करले तो यह अवश्य ही अपूर्व वात होगी।

यदि यह वात अभी नहीं समझ सका तो पर्याय तो छूटने ही वाली है, फिर कव समझेगा ? यह पर्याय छूटते ही यदि हम निगोदादि तिर्यंच पर्याय में चले गये तो वहाँ अनंतकाल तक रहना होगा, तव फिर आत्मा को कव और कैसे समझेगा ?

भाई! लहसुन और आलू आदि जमींकंद के एक सवसे छोटे टुकड़े में असंख्य औदारिक शरीर होते हैं, और एक-एक औदारिक शरीर में अनंत सिद्धों से भी अनंत गुणे अनंत निगोदिया जीव होते हैं। इस संसारी जीव के दुःख की क्या वात करें?

स्व-पर के एकत्वरूप अध्यास के कारण ही जीव को ऐसे अकथनीय दुःख भोगने पड़े हैं। जव तक इसके स्व-पर के एकत्व रूप अध्यास है, तव तक जीव राग को अपना मानकर परद्रव्यों का एवं राग का कर्ता वना रहता है, यही इसके जन्म-मरण रूप दुःख का वीज है।

उपर्युक्त ज्ञायक, दर्शक एवं संयत के तीन वोलों से यह सिद्ध करते हैं कि जीव राग का अकर्ता है। "कर्म प्रकृति के उदय से हुये भावकर्म का स्वभाव रागरूप होने से दुःखस्वरूप है। एक समय की कृत्रिम उपाधि है। इसके विपरीत मैं परमानन्दमय शुद्ध चैतन्यस्वरूप त्रिकाल निरुपाधि तत्व हूँ।"

इसप्रकार आत्मा व राग दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षणों का ज्ञान होने पर भेदज्ञान होता है। ऐसा भेदज्ञान होने पर जीव प्रकृतिजन्य विभाव भावों को छोड़ देता है और स्व-पर के भेदविज्ञान से ज्ञायक हो जाता है।

ये पुण्य-पाप के भाव कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न हुये हैं, इसकारण वे प्रकृति के स्वभाव हैं, आत्मा के नहीं है। - ऐसा जिसको अन्तर में भेदज्ञान हुआ, वह प्रकृति के स्वभाव को छोड़ देता है और तव वह स्व-पर के विभाग से ज्ञानी होता है।

भाई! यह समझे विना हम सव की जिंदगी पशुओं के समान वीत रही है।

यहाँ कहते हैं कि यद्यपि ज्ञानी के राग होता है, परन्तु उसकी दृष्टि में राग प्रकृति का स्वभाव होने से हेय हो गया है और अपने ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में उपादेय वुद्धि हो गई है।

देखो! शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि अढाई द्वीप के वाहर असंख्य पशु ऐसे हैं जो नवतत्त्वों के नाम तक नहीं जानते, फिर भी समकिती हैं, पंचम गुण स्थानवर्ती श्रावकों की भूमिका में आरूढ़ हैं। अहा! जिसने जानने वाले ज्ञायक आत्मा को जान लिया उसने सव कुछ जान लिया है, वही ज्ञायक है, ज्ञानी है तथा वही ज्ञायक स्व-पर के विभाग दर्शन से (भेद दर्शन से) दर्शक है, सम्यक् दृष्टि है। देव-शास्त्र-गुरु व सात तत्वों को मानने रूप जो व्यवहार सम्यग्दर्शन है, चिदानन्दघन आत्मा व राग में भेद ज्ञान हुये विना मात्र ऐसे व्यवहार सम्यग्दर्शन से कोई समकिती नहीं हो जाता। समकिती को राग से भिन्नत्व तथा चिदानन्दघनस्वभावी आत्मा में एकत्व होना अनिवार्य है। तभी वह सच्चा समकिती है, दर्शक है।

जिसे राग की रुचि है, जो राग का कर्ता होकर परिणमता है, ऐसे रागी जीवों को शास्त्र में नपुंसक कहा है; क्योंकि जिसतरह नपुंसक के पुत्र नहीं होता, उसीप्रकार शुभाशुभ राग को अपना माननेवालों के धर्म की संतति नहीं होती है, सम्यग्दर्शन नहीं होता तथा स्व-पर की विभाग परिणति से ही आत्मा संयत है। राग परिणति व ज्ञान परिणति - दोनों भिन्न हैं। राग परिणति प्रकृति

का स्वभाव है तथा ज्ञान परिणति ज्ञानस्वभाव रूप है। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। वहाँ राग रहित निर्मल ज्ञान परिणति मेरा स्वरूप है और राग परिणति मेरा स्वरूप नहीं है। ऐसी स्व-पर की विभाग परिणति से जीव संयत है। ऐसे भेदज्ञान बिना मात्र नग्न होने से तथा बाहर में महाव्रतादि पालने से मुनि या संयत नाम नहीं पाता।

इसप्रकार उपर्युक्त ज्ञायक, दर्शक व संयत - इन तीन बोलों का स्पष्टीकरण हुआ।

देखो, जहाँ तक स्व-पर के एकत्व का अध्यास था, तब तक जीव अज्ञानी और कर्ता था, किन्तु स्व-पर के एकत्व का अध्यास दूर होने पर वह ज्ञानी होकर अकर्ता हो जाता है। चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा का भान होकर जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ, वहीं वह राग का अकर्ता हो जाता है। भले राग विद्यमान रहे, तो भी वह उसका अकर्ता अर्थात् ज्ञाता ही है। बस इसी का नाम धर्म व मोक्षमार्ग है।

गाथा ३१४-३१५ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, आत्मा का लक्षण ज्ञान है और कर्म प्रकृतियों का लक्षण राग है, बन्ध है। राग शुभ हो या अशुभ दोनों ही प्रकार का राग कर्म प्रकृति का स्वभाव हैं, जीव का नहीं। जीव का तो एक ज्ञानस्वभाव है। इस प्रकार जब तक दोनों को भिन्न-भिन्न नहीं जानता तब तक जीव के भेदज्ञान का अभाव है और तभी तक वह कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमन करता है।

इसप्रकार भेदज्ञान के अभाव में जीव प्रकृति के स्वभाव रागादि रूप परिणमता है, पुण्य-पाप रूप परिणमता है तथा इसी कारण मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी और असंयमी होता हुआ कर्ता होकर कर्म का बन्ध करता है।

प्रश्न : ज्ञानी के भी तो राग होता देखते हैं न? फिर इसे भी मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी व असंयमी क्यों नहीं कहा?

उत्तर : हाँ, ज्ञानी के भी राग होता है, परन्तु वह अपनी ज्ञान परिणति से भिन्न पड़ गया है। ज्ञानी इन रागादि को अपने से भिन्नपने जानता है। जैसे कि

गेहूँ में कंकड़ गेहूँ से भिन्न हैं। अज्ञानी दोनों को एकमेक करके देखता है। प्रकृति के स्वभाव को अपना स्वभाव समझकर परिणमता है। इस कारण वह मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी व असंयमी होकर कर्तावुद्धि से कर्मवन्ध करता है।

अब कहते हैं कि - जव जीव को ऐसा भेदज्ञान होता है कि "मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी प्रभु आत्मा हूँ और यह राग प्रकृति का स्वभाव है तथा मेरे से सर्वथा भिन्न है" तव वह ज्ञानी होकर राग का कर्ता नहीं होता। ज्ञानी के राग होता है, परन्तु उसे राग का स्वामित्व नहीं रहता।

"इसीप्रकार भोक्तृत्व भी आत्माका स्वभाव नहीं है" इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं :—

(अनुष्टुभ्)

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः ।
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥ १९६ ॥

श्लोकार्थ : [**कर्तृत्ववत्**] कर्तृत्व की भाँति [**भोक्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः स्मृतः न**] भोक्तृत्व भी इस चैतन्य का (चित्स्वरूप आत्मा का) स्वभाव नहीं कहा है। [**अज्ञानात् एव अयं भोक्ता**] वह अज्ञान से ही भोक्ता है, [**तद् अभावात् अवेदकः**] अज्ञान का अभाव होने पर वह अभोक्ता है॥ १९६ ॥

कलश १९६ पर प्रवचन

जिसप्रकार शुभाशुभ राग का कर्तृत्व भगवान आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसीप्रकार इन भावों का भोक्तृत्व भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

देखो, यद्यपि समकिती चक्रवर्ती के ९६ हजार रानियाँ एवं छह खण्ड का राज्य व भोगोपभोग की विभूति होती है तथा उसे राज्य का एवं उस भोगोपभोग सामग्री का राग भी होता है; तथापि वह राग के भोक्तापन का जो वेदन है, वह मेरा स्वरूप नहीं है - ऐसा मानता है।

जव तक जीव को राग व ज्ञान का भेदज्ञान नहीं है, तव तक अज्ञान से ही वह भोक्ता है। जब राग व आत्मा का परस्पर भेदज्ञान हो जाता है, तभी से उसके राग और हर्ष-विषाद के भावों का भोक्तृत्व छूट जाता है।

लोगों को वाहर से देखने में ऐसा लगता है कि वह भोगों को भोगता है; परन्तु वास्तव में ज्ञानी राग व हर्ष-शोक के भावों को भोगता नहीं है। अव उसके कर्तृत्व की भाँति भोक्तृत्व का अभिप्राय भी छूट गया है। अब उसे कर्तृत्व व भोक्तृत्व आदि के सभी भाव जहर की भाँति लगने लगे हैं।

अहा! अब जव ज्ञानी को द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों से अधिक अपना ज्ञानस्वभाव स्व-पने प्रतिभासित होने लगा है तो वह राग व हर्ष शोकादि के भावों को कैसे भोग सकता है? आनंद का भण्डार ज्ञानानन्दस्वभावी निज परमात्मद्रव्य से जिसने स्नेह किया है, वह विषयादि में रति कैसे कर सकता है?

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि ॥ ३१६ ॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते ।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥ ३१६ ॥

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या व प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते । ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात् स्वपरयोर्विभागज्ञानेन, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतया अनुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव, न पुनः तस्याहंतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेदयते ।

अव इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं —

अज्ञानी स्थित प्रकृति स्वभाव सु, कर्मफल को वेदता ।
अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहिं भोगता ॥ ३१६ ॥

गाथार्थ : [अज्ञानी] अज्ञानी [प्रकृतिस्वभावस्थितः तु] प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हुआ [कर्मफलं] कर्मफल को [वेदयते] वेदता (भोगता) है [पुनः ज्ञानी] और ज्ञानी तो [उदितं कर्मफलं] उदय में आये हुए (उदयागत) कर्मफल को [जानाति] जानता है, [न वेदयते] भोगता नहीं है ।

टीका : अज्ञानी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण स्वपर के एकत्वज्ञान से, स्वपर के एकत्वदर्शन से और स्वपर की एकत्वपरिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से प्रकृति के स्वभाव को भी 'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को भी 'यह मैं हूँ' इसप्रकार अनुभवन करता हुआ) कर्मफल को वेदता-भोगता है; और ज्ञानी तो शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव के कारण स्वपर के विभागज्ञान से, स्वपर के विभागदर्शन से और स्वपर की विभागपरिणति से प्रकृति के स्वभाव से निवृत (- दूरवर्ती)

होने से शुद्ध आत्मा के स्वभाव को — एक को ही 'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ उदित कर्मफल को, उसके ज्ञेयमात्रता के कारण, जानता ही है; किन्तु उसका 'अहं' रूप से अनुभव में आना अशक्य होने से, (उसे) नहीं भोगता।

भावार्थ : अज्ञानी को तो शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है; इसलिये जो कर्म उदय में आता है, उसी को वह निजरूप जानकर भोगता है; और ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अनुभव हो गया है; इसलिये वह उस प्रकृति के उदय अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है, भोक्ता नहीं होता।

गाथा ३१६ एवं टीका पर प्रवचन

भगवान आत्मा केवल आनन्द का दल है। अपने ऐसे ध्रुव स्वरूप की पहचान न होने से अज्ञानी को अनादि से स्वरूप का अज्ञान है। इस कारण अज्ञानवश राग को अपना स्वरूप मानता हुआ अपने व पर के एकत्व ज्ञान से, स्व-पर के एकत्व दर्शन से, और स्व-पर की एकत्व परिणति से कर्म प्रकृति के स्वभाव में रचा-पचा रहता है।

भाई! ये पुण्य-पाप के जो भी भाव होते हैं, वे कर्म प्रकृति के स्वभाव हैं। अहा! अज्ञानी कर्म प्रकृति के स्वभाव में रचा-पचा, प्रकृति के स्वभाव को ही अपनेपने अनुभव करता हुआ कर्ममल का ही वेदन करता है, उसे ही भोगता है।

अरे भाई! शास्त्रों में मिथ्यात्व का फल निगोद कहा है, जो कि नरक के दु:खों से अनंत गुणा है। निगोदिया जीव शक्ति की अपेक्षा तो पूर्ण ज्ञानानन्द घन है परन्तु उसके ज्ञान की वर्तमान पर्याय में अक्षर का अनंतवाँ भाग जितना अल्पज्ञान होता है। अहा! कितनी हीन दशा! तथा उसे जो अपार दु:ख का वेदन होता है, वह शब्दातीत है, शब्दों से कहा नहीं जा सकता।

अहा! स्वपर की एकत्व बुद्धिरूप मिथ्यात्व के कारण इस जीव ने इन नरक व निगोद आदि के अनन्त दु:खमय भव धारण किये हैं।

अहा! "मैं राग का कर्ता-भोक्ता हूँ" - ऐसा मानने वाला आत्मा के अस्तित्व को, अपनी शुद्ध चैतन्य सत्ता को नहीं मानता। बस, इसके फल में

यह उस निगोद में उत्पन्न होता है, जहाँ जगत भी इसके अस्तित्व को मानने के लिये तैयार नहीं होता।

यहाँ खासकर भोक्तापने की बात है। भाई! स्वरूप से तो आत्मा अभोक्ता ही है, परन्तु शरीर, मन, वाणी, धन-सम्पत्ति आबरू-इज्जत आदि अपने अनुकूल पदार्थों को देखकर जो हर्ष होता है, उसे अपनेपने से अनुभवता हुआ जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि है।

यह बात हर एक की समझ में आसानी से नहीं आती। यह तो धीर-वीरों का काम है। आचार्य कहते हैं न! कर्म प्रकृति के स्वभाव को "मैं" रूप से अनुभव करता हुआ जीव कर्म फल को वेदता है, जहर को वेदता है। जबकि भगवान आत्मा स्वभाव से अमृत का सागर है। उसे भूलकर जबतक पर में - रागादि में सुखबुद्धि है तथा प्रकृति के स्वभाव को - शुभाशुभ राग को "मैं" पने अनुभवता है; तबतक वह मिथ्यादृष्टि होता हुआ कर्मफल को भोगता है तथा नवीन कर्मबन्ध को करता है।

अब कहते हैं कि - ज्ञानी अर्थात् भेदविज्ञानी, आत्मानुभवी, जिसे अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूपी आत्मा का आस्वादन हो रहा है, वह अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव से अभिन्न और पर से भिन्न अनुभवता है।

ज्ञानी ऐसे भेदज्ञान से प्रकृति के स्वभाव से निवृत्त रहता है। अहा! "मैं राग से भिन्न और निज चैतन्य स्वभाव से अभिन्न हूँ" — ऐसा भेदज्ञान होने से ज्ञानी कर्म प्रकृति के स्वभाव से निवृत हो गया है।

यहाँ प्रश्न है कि क्या ज्ञानी के हर्ष-शोक का वेदन बिल्कुल नहीं होता ?

उत्तर : ज्ञानी के हर्ष-शोक का वेदन बिल्कुल भी नहीं होता - ऐसा नहीं है, उसे किंचित् हर्ष-शोक का वेदन है, परन्तु उसे अंतरंग में स्वभाव की अधिकता है, मुख्यता है। अत: वह स्वभाव को मुख्य व राग के वेदन को गौण मानकर राग के वेदन में तन्मय नहीं होता। उसके किंचित् राग का परिणमन है, जितना परिणमन है, उतना वेदन भी है, परन्तु उसे व्यवहार मानकर

असत्यार्थ कहकर "उसे वेदन है ही नहीं" - ऐसा कह दिया है। ज्ञानी कर्मफल रूप हर्ष-शोक को और आत्मस्वभाव को - इसप्रकार दोनों को नहीं, किन्तु अकेले आत्मस्वभाव को ही अपनेपने या निजरूप से अनुभव करता है। - यहाँ यह सिद्ध करना है।

प्रवचनसार में अन्तिम ४७ नयों का अधिकार है। वहाँ ज्ञानी के कर्तानय व भोक्तानय कहे हैं। वहाँ कहा है कि - "आत्मद्रव्य कर्तृनय से रंगरेज की भाँति रागादि परिणामों का कर्ता है। तथा आत्मद्रव्य भोक्तृनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खाने वाले रोगी की भाँति सुख-दु:खादि का भोगने वाला है।"

अहा! ज्ञानी जितने व्यवहाररत्नत्रय स्वरूप महाव्रतादि के विकल्प रूप से परिणमता है, उतने परिणामों का वह कर्तानय से कर्ता है। उसीप्रकार जितना हर्ष भाव आ जाता है, उतने परिणामों का वह भोक्तानय से भोक्ता है। 'ये परिणाम करने व भोगने लायक हैं' - ऐसी कर्तृत्वबुद्धि व सुखबुद्धि ज्ञानी के नहीं होती। वर्तमान अस्थिरता से करने व भोगने के परिणाम होते हैं, इस कारण उसे कर्ता व भोक्ता कहते हैं। — यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो यह कहा है कि - ज्ञानी उदित कर्मफल को मात्र जानता ही है, उनमें "मैं" पने का अनुभव अशक्य होने से उन्हें वेदता नहीं है। अहाहा ... ! ज्ञानी हर्ष-शोक के परिणामों का भोक्ता नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा हर्ष-शोक के परिणामों को "मैं" पने अनुभवना अशक्य है कि ज्ञानी कभी भी ऐसा अनुभव नहीं कर सकता।

भाई! यह तेरी "स्व-दया" पालन करने की बात चल रही है। स्वयं जैसा है, अपने को वैसा ही मान, वैसा ही स्वीकार कर! स्वयं को राग से भिन्न मानकर स्वरूप में एकाग्र होकर ठहरने का नाम ही अपनी दया है - स्वदया है। अंतरंग में तू स्वयं वीतराग मूर्ति आत्मा है। उसमें निमग्न होकर वीतराग परिणति से परिणमने का नाम स्व-जीव दया है। बाकी पर की दया का पालन तो कोई कर ही नहीं सकता? हाँ, पर की दया पालने का विकल्प अवश्य आता है, परन्तु उसे ज्ञानी "मैं" पने से नहीं अनुभवता। पर का परिणमन तो तत्समय जैसा होना हो, वैसा होता है, उसका अन्य कोई कर्ता नहीं है।

भाई! जगत की प्रत्येक वस्तु - आत्मा या परमाणु किसी भी समय में बिना परिणमन किये नहीं रहते हैं। प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक आत्मा व परमाणु प्रति समय अपनी पर्याय रूप कार्य करता ही रहता है। कोई वस्तु किसी भी काल में कार्य बिना नहीं रहती। जब वस्तु स्वरूप ही ऐसा है तो फिर पर का कार्य या पर की दया कोई कैसे पाल सकता है।

अहा! जिसने राग से भिन्न पड़कर अर्थात् राग से भेदज्ञान प्रगट करके मोक्षमार्ग में कदम रखा है, वह जब पीछे नहीं हटेगा, तो मोक्ष प्राप्त करके ही रहेगा। ऐसा धर्मी पुरुष प्रकृति के स्वभाव से पृथक् हो जाने से एकमात्र स्वभाव का ही - चिन्मात्रभाव का ही 'अहं भाव' से अनुभव करता है। उदय में आये हुये कर्मफल को तो वह मात्र जानता ही है, भोगता नहीं है क्योंकि उसका प्रकृतिजन्य भावों में से अपनापन टूट गया है, एकत्व बुद्धि छूट गई है।

गाथा ३१६ के भावार्थ पर प्रवचन

अज्ञानी को ऐसा स्व-संवेदन ज्ञान नहीं है कि -"मैं ज्ञानानंद स्वभावी आत्मा हूँ" इस कारण कर्म के उदय के निमित्त से उसको जो पुण्य-पाप व हर्ष-शोक के भाव होते हैं, उन्हें वह अपना "स्व" जानकर भोगता है। जबकि ज्ञानी को ऐसा स्वानुभव वर्तता है कि -"मैं पूर्ण आनन्द का नाथ यानी पूर्णज्ञान व पूर्ण आनन्द का घन पिण्ड हूँ। उसको "स्व" के आश्रय से निराकुल आनन्द का वेदन हुआ है तथा उसे ही वह अपना "स्व" जानता है। वह प्रकृति के उदय को - पुण्य-पाप के भावों को एवं हर्ष-विषाद के भावों को अपना स्व नहीं मानता। इस कारण वह राग का भोक्ता नहीं है, ज्ञाता ही है।

भाई! समकिती चक्रवर्ती ९६,००० रानियों के समूह में रमता हो, तो भी वह विषयों का भोक्ता नहीं है, क्योंकि उसे उनमें "स्वपना" तथा सुखबुद्धि नहीं है। वह उन भोगों को रोगवत् जानता है। यह बात अज्ञानी की समझ नहीं बैठती। परन्तु भाई! यह तो सर्वज्ञ भगवान की वाणी में आई हुई बात है, अतः इसे कोई भी इन्कार कैसे कर सकता है?

आचार्य अज्ञानी से कहते हैं कि -"भाई! तूने अपने स्वभाव को जाना नहीं है, इस कारण अज्ञानता से तू विकार का भोक्ता है। वस्तुतः स्त्री का शरीर, दाल, भात, आदि को तो आत्मा भोग नहीं सकता है; क्योंकि ये सब तो पर पदार्थ हैं। पर का व जड़ पदार्थों का भोग ज्ञानी व अज्ञानी - किसी के भी नहीं होता। हाँ, अज्ञानी कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न हुये अपने विकार को भोगता है और ज्ञानी के अन्तर में भेदज्ञान हो गया है, उसकी अन्तर्दृष्टि में स्वभाव-विभाव तथा स्व-परिणति व पर-परिणति का विभाग पड़ गया है। इस कारण वह निराकुल आनन्द को स्व-पने वेदता है तथा कर्म प्रकृति के उदय से उत्पन्न हुये विकारी स्वभाव को छोड़ देता है अर्थात् उस विकार को "स्व" पने अनुभवता नहीं है।

इसप्रकार ज्ञानी कर्मफल का ज्ञाता-दृष्टा रहता है, भोक्ता नहीं होता। •

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥ १९७॥

श्लोकार्थ : [**अज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-निरतः नित्यं वेदकः भवेत्**] अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव में लीन-रक्त होने से (-उसी को अपना स्वभाव जानता है, इसलिये-) सदा वेदक है, [**तु**] और [**ज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-विरतः जातुचित् वेदकः नो**] ज्ञानी तो प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से (-उसे पर का स्वभाव जानता है इसलिए-) कदापि वेदक नहीं है। [**इति एवं नियमं निरूप्य**] इसप्रकार के नियम को भलीभाँति विचार करके-निश्चय करके [**निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यताम्**] निपुण पुरुषो! अज्ञानीपन को छोड़ दो और [**शुद्ध-एक-आत्ममये महसि**] शुद्ध-एक-आत्मामय तेज में [**अचलितैः**] निश्चल होकर [**ज्ञानिता आसेव्यताम्**] ज्ञानीपने का सेवन करो॥ १९७॥

कलश १९७ पर प्रवचन

पुण्य-पाप आदि शुभाशुभ भाव आत्मा का स्वभाव नहीं हैं, किन्तु जड़ प्रकृति का स्वभाव है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव कर्मप्रकृति के स्वभाव हैं। अज्ञानी इन प्रकृति के उदय के निमित्त से हुये भावों को अपना स्वभाव जानता है, इस कारण वह उनका वेदक है, भोक्ता है। जबकि धर्मी जीव को स्व-पर का भेदज्ञान हो गया है। वह जानता है कि "मैं परम आनन्दमय शुद्ध ज्ञायक तत्व हूँ तथा ये पुण्य-पाप के भाव भिन्न आस्रव तत्व हैं। इसप्रकार दोनों में भेदज्ञान होने से धर्मी जीव कर्मप्रकृति के स्वभाव से विराम पा लेता है। वह विकार का वेदक नहीं होता। यद्यपि उसे व्रत, तप, भक्ति, यात्रा आदि के भाव आते हैं, परन्तु वह अन्तर में उनसे विरक्त है, उदासीन है। इस कारण वह विकार का भोक्ता भी नहीं है।

धर्मी जीव शुभाशुभ भावों को कर्म की उपाधिजनित औपाधिक भाव जानता है, इस कारण वह इनसे विरक्त हो गया है। वह इनका वेदक कदापि नहीं होता।

कहीं-कहीं ऐसा कथन भी मिलता है कि — ज्ञानी के आनन्दधारा व राग-धारा - दोनों एक साथ वर्तती है। एक ही समय में आनन्द व दु:ख का वेदन एक साथ होता है; परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ तो दु:ख के वेदन को गौण करके उसे व्यवहार मानकर असत्यार्थ जानकर हटा दिया है। इस कारण यहाँ कहा है कि - ज्ञानी प्रकृति के स्वभाव का वेदक नहीं है।

"ज्ञानी के सर्वथा दु:ख का वेदन होता ही नहीं है" यदि ऐसा कोई कहे तो उसका यह कहना भी सही नहीं है। देखो, छठवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिवरों को अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर स्व-संवेदन होता है, तथापि जितना अल्प राग है, उतना दु:ख का वेदन भी है। परन्तु यहाँ तो दृष्टि की अपेक्षा बात है। दृष्टि की प्रधानता में दु:ख का वेदन नहीं है - ऐसा कहा है। भाई! अपेक्षा समझे बिना यदि कोई एकान्त से खेंच करे तो वह जिनागम का मार्ग नहीं है।

ज्ञानी ने राग के भाव से विराम पा लिया है, अत: वह कदापि राग का वेदक नहीं है। जैसे - यदि कोई शकरकंद के ऊपर के छिलके को गौण करके देखे तो वह अन्दर से तो मिठास का ही पिंड है। इसीप्रकार इस भगवान आत्मा की पर्याय में राग होते हुये भी यदि उसे गौण कर दे, लक्ष्य में न ले तो अन्दर तो वह - अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का रसकन्द है। अज्ञानी शकरकंद के ऊपरी छिलके के समान आत्मा के राग का वेदन करता है।

लोगों को दया-दान-भक्ति का मार्ग सरल लगता है, परन्तु भाई! यह तो सचमुच कोई मार्ग ही नहीं है। ये सब तो राग की क्रियायें हैं, प्रकृति का स्वभाव है। जो इनसे धर्म होना माने यह तो मिथ्यादर्शन है।

अब कहते हैं कि - "एवं नियम निरूप्य" अर्थात् ऐसा जो नियम है, उसका बराबर निर्णय करके - हे निपुण पुरुषो! तुम अज्ञानता को छोड़ो तथा एक शुद्ध आत्ममय तेज में निश्चल होकर ज्ञानस्वभावी आत्मा का सेवन करो।

देखो! यहाँ पर वस्तु को छोड़ने की बात नहीं कही; क्योंकि पर का ग्रहण त्याग तो आत्मा में त्रिकाल है ही नहीं। यहाँ तो जिस राग को अज्ञानी ने अपना मान कर अज्ञानपने का पोषण किया, उस अज्ञान को छोड़कर राग में अपनापने के वेदन को छोड़कर एक शुद्ध आत्ममय तेज में निश्चल होकर ज्ञानीपने का सेवन करो, निराकुल आनंद का अनुभव करो।

देखो, भले ही सामने बड़ा भारी समुद्र लहलहा रहा हो, परन्तु यदि आँखों के सामने जरा-सी आड़ आ जावे तो दरिया दिखाई नहीं देता। ठीक इसीतरह अन्दर में अनंत गुण-स्वभाव का भरा ज्ञानानंद स्वरूप प्रभु आत्मा विद्यमान है, परन्तु पुण्य-पाप में एकत्वबुद्धि की आड़ आ जाने से चेतना सिन्धु दिखाई नहीं देता। इसलिए कहते हैं कि भाई! पुण्य-पाप में एकत्व की मान्यता को छोड़ दे तथा एक शुद्ध आत्ममय चैतन्य में निश्चल होकर ज्ञानभाव का सेवन कर।

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते -

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि ।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥ ३१७॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यःसुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि ।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति ॥ ३१७॥

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुंचति, विषभाव-मोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुंचति; तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुंचति, प्रकृति-स्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुंचति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात्। अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्वेदक एव।

अब, यह नियम वताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है' (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम है) :

सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे ।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ सर्प नहिं निर्विष बने ॥ ३१७॥

गाथार्थ : [सुष्ठु] भली भाँति [शास्त्राणि] शास्त्रों को [अधीत्य अपि] पढ़कर भी [अभव्यः] अभव्य जीव [प्रकृतिं] प्रकृति को (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को) [न मुञ्चति] नहीं छोड़ता, [गुडदुग्धं] जैसे मीठे दूध को [पिबंतः अपि] पीते हुए भी [पन्नगाः] सर्प [निर्विषाः] निर्विष [न भवंति] नहीं होते।

टीका : जैसे इस जगत में सर्प विषभाव को अपने आप नहीं छोड़ता, और विषभाव के मिटाने में समर्थ-मिश्री सहित दुग्धपान से भी नहीं छोड़ता। इसी प्रकार वास्तव में अभव्य जीव प्रकृतिस्वभाव को अपने आप नहीं छोड़ता और प्रकृतिस्वभाव को छुड़ाने में समर्थभूत द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी नहीं छोड़ता; क्योंकि उसे सदा ही, भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण

अज्ञानीपन है। इसलिये यह नियम किया जाता है (ऐसा नियम सिद्ध होता है) कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव में स्थिर होने से वेदक (भोक्ता) ही है।

भावार्थ : इस गाथा में, यह नियम बताया है कि अज्ञानी कर्मफल का भोक्ता ही है। यहाँ अभव्य का उदाहरण युक्त है। जैसे — अभव्य का स्वयमेव यह स्वभाव होता है कि द्रव्यश्रुत का ज्ञान आदि बाह्य कारणों के मिलने पर भी अभव्य जीव, शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण, कर्मोदय को भोगने के स्वभाव को नहीं बदलता; इसलिये इस उदाहरण से स्पष्ट हुआ कि शास्त्रों का ज्ञान इत्यादि होने पर भी जबतक जीव को शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है अर्थात् अज्ञानीपन है तबतक वह नियम से भोक्ता ही है।

गाथा ३१७ एवं टीका पर प्रवचन

अब इस गाथा में यह कह रहे हैं कि "अज्ञानी भोक्ता ही है" - ऐसा नियम है।

देखो, जिसतरह सर्प मिश्री मिला हुआ - मीठा दूध पीकर भी विषभाव को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार अभव्य जीव ग्यारह अंग व नौ पूर्व का ज्ञान हो जाने पर भी मिथ्यात्वादि भावों को नहीं छोड़ता; क्योंकि उसके सदा ही भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानीपना है।

अहा! भगवान आत्मा निर्मल भावश्रुतज्ञान से ज्ञात होने वाली वस्तु है। जिसका कि अभव्य के अभाव है। कोरे शास्त्रज्ञान से भगवान आत्मा जानने में नहीं आता। इस कारण जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये हजारों शास्त्रों का ज्ञान करके भी वे स्वरूप को जानते नहीं हैं तथा मिथ्यात्वादि को कभी छोड़ते नहीं हैं।

अहा! धर्मपिता देवाधिदेव अरहंत भगवान कहते हैं कि — हे भव्यजीव! तेरे स्वभाव में ज्ञानानंद रस भरा है। उसे तू भावश्रुतज्ञान से जान! अनुभव कर! अरे! ऐसा न करके तू राग की व्यभिचारी क्रिया में रुक गया है। तूने द्रव्यश्रुत को सुनकर वीतराग भाव प्रगट नहीं किया तथा राग में ही धर्म मानकर रुक गया है तो द्रव्य श्रुत सुनने/पढ़ने से तुझे क्या काम है? यद्यपि द्रव्यश्रुत में

परसन्मुखता छोड़कर स्वसन्मुख होने का उपदेश है, परन्तु तूने स्वसन्मुखता नहीं की तो तुझे इसके सुनने/पढ़ने से क्या लाभ मिला?

इससे यही निष्कर्ष फलित होता है कि अज्ञानी प्रकृति स्वभाव में स्थिर होने से कर्मों का भोक्ता ही है। यहाँ अभव्य का तो दृष्टान्त कहा है। भव्यजीव भी अनेक शास्त्रों (द्रव्यश्रुत) का अध्येता होकर भी जबतक निर्मल भावश्रुतज्ञान प्रगट नहीं करता, तबतक अज्ञानीपने के कारण भोक्ता ही है। द्रव्यश्रुत में तो यह बात आई है कि — हे भाई! तू राग का वेदन छोड़ तथा स्व-सन्मुख होकर स्वरूप का वेदन कर! यह सुनकर भी जो कोई जीव प्रकृति स्वभाव को - रागादि भावों को नहीं छोड़ता तो वह अज्ञानीपने के कारण भोक्ता ही है। जैसा अभव्य भोक्ता ही है, उसी तरह भव्य अज्ञानी जीव भी भोक्ता ही है।

गाथा ३१७ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा अन्तर में यानी स्वभाव से तो अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का रसकंद है। जिसे इसके अन्तर-अनुभव की दशा प्रगट नहीं हुई, वह अज्ञानी है।

यहाँ कहते हैं कि - ऐसा अज्ञानी जीव कर्मफल का भोक्ता ही है। हर्ष-शोक रहित आत्मवस्तु स्वभाव से त्रिकाल आनन्दस्वरूप है। उसका ज्ञान किये बिना कर्मोदय के निमित्त से जो शुभाशुभ भाव होते हैं, अज्ञानी उनका कर्ता होकर उन्हें भोगता ही है। उसे अनुकूलता में हर्ष होता है और प्रतिकूलता में शोक होता है। परम पवित्र अपने आत्मस्वरूप का भान हुये बिना अज्ञानी जीव इन हर्ष-शोक के भावों को भोक्ता ही है।

भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है, उसमें से द्रव्यश्रुत की रचना होती हैं। उसमें यह कथन आया है कि जगत में मोक्ष जाने की पात्रता वाले अनन्त भव्य जीव हैं तथा उनके अनंत भाग अभव्य हैं। पण्डित जयचंदजी छाबड़ा कहते हैं - यहाँ अभव्य का उदाहरण युक्त ही है। क्योंकि अभव्य का स्वयमेव ऐसा ही स्वभाव है कि द्रव्यश्रुत आदि अनेक बाह्य कारण मिलते हुये भी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण उसका कर्म के उदय को भोगने का स्वभाव बदलता नहीं है।

अहाहा···! भले शास्त्रों का ज्ञान हो, किन्तु यदि अपने अन्दर विराजमान शुद्ध चैतन्य सत्ता का ज्ञान न हो तो जीव अज्ञानी ही है तथा नियम से कर्म प्रकृति का भोक्ता ही है।

शास्त्रों का अभ्यास, देव-शास्त्र-गुरु एवं नव तत्वों का भेदरूप श्रद्धान तथा महाव्रतादि का पालन - ये तो सभी शुभ राग हैं, इनसे कुछ भी लाभ नहीं है। जब तक जीव अपने स्वरूप के वेदन में नहीं गया तबतक वह अज्ञानी ही है और तबतक वह नियम से भोक्ता ही है। अन्तर स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान व रमणता हुये विना बाह्य साधन आत्मा का उद्धार नहीं कर सकते।

अहा! स्वसन्मुख होकर आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान किये विना - अकेले शास्त्रज्ञान से भी जब संसार नहीं तरा जा सकता तो जो जीव व्यापार-धंधे में उलझे हैं, स्त्री-पुत्र-परिवार व विषय भोगों में अटके हैं, राज-काज की सांसारिक राग-द्वेष की प्रवृत्तियों में पड़े हैं, जिन्हें देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं है, उनके धर्म प्रगट होने की तो बात ही क्या, पुण्य भी नहीं होता। अरे! जीवन का बहु भाग तो उनका संसार की पाप प्रवृत्तियों में ही चला जाता है। ऐसी स्थिति में उनका कल्याण कैसे हो सकता है?

भाई! वीतरागी जैन परमेश्वर का कहा हुआ धर्म का मार्ग अपूर्व व अलौकिक है। भाई! जबतक शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आत्मा का ज्ञान नहीं, तबतक वह अज्ञानी है और अज्ञानपने के कारण वह विकार का भोक्ता है।

ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते —

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होइ ॥ ३१८॥

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति ।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदकस्तेन स भवति ॥ ३१८॥

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविरक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुंचति, ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्वेदयते। अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव।

अब, यह नियम करते हैं कि ज्ञानी तो कर्मफल का अवेदक ही है :

वैराग्यप्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता ।
कड़वे-मधुर बहुभाँति को, इससे अवेदक है अहा ॥ ३१८॥

गाथार्थ : [निर्वेदसमापन्नः] निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त [ज्ञानी] ज्ञानी [मधुरं कटुकं] मीठे-कड़वे [बहुविधम्] अनेक प्रकार के [कर्मफलं] कर्मफल को [विजानाति] जानता है [तेन] इसलिये [सः] वह [अवेदकः भवति] अवेदक है।

टीका : ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण, पर से अत्यन्त विरक्त होने से प्रकृति (कर्मोदय) के स्वभाव को स्वयमेव छोड़ देता है इसलिये उदय में आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफल को ज्ञातापने के कारण मात्र जानता ही है, किन्तु ज्ञान के होने पर (ज्ञान हो तब) परद्रव्य को 'अहं' रूप से अनुभव करने की अयोग्यता होने से (उस कर्मफल को) नहीं वेदता। इसलिये, ज्ञानी प्रकृति स्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है।

भावार्थ : जो जिससे विरक्त होता है उसे वह अपने वश तो भोगता नहीं है और यदि परवश होकर भोगता है तो वह परमार्थ से भोक्ता नहीं कहलाता। इस न्याय से ज्ञानी - जो कि प्रकृति स्वभाव को (कर्मोदय) को अपना न जानने से उससे विरक्त है वह - स्वयमेव तो प्रकृति स्वभाव को नहीं भोगता, और उदय की बलवत्ता से परवश होता हुआ निर्बलता से भोगता है तो उसे परमार्थ से भोक्ता नहीं कहा जा सकता।

गाथा ३१८ एवं टीका पर प्रवचन

अहाहा ···! आत्मा स्वयं पूर्णानंद का नाथ पूर्ण ज्ञानघनस्वरूप है। ऐसे निजात्मा का जिसने अपनी वर्तमान ज्ञान पर्याय में स्वीकार किया है, वह ज्ञानी है। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी पुण्य-पाप, हर्ष-शोकादि के परिणामों से अत्यन्त विरक्त है। ज्ञानी को पुण्य-पापादि के भावों में अपनापन नहीं रहता। समकिती धर्मात्मा राजपाट का अधिकारी हो तो भी वह राजपाट उसे धूलवत लगता है। समकिती धर्मीपुरुष राग के अंश को भी अपना नहीं मानता। कहा भी है-

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
कागवीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग ॥

अहा ···! समकिती-ज्ञानी जानता है, मानता है एवं ऐसा ही अनुभव करता है कि "राजपाट और रागादि विकारी परिणाम की तो बात ही क्या है, मैं तो एक समय की निर्मल पर्याय से भी जुदा शुद्ध एक चिन्मात्र वस्तु हूँ, ज्ञानानन्द स्वभावी त्रिकाली ध्रुवतत्त्व हूँ।"

"जिसमें से भेद दूर हुआ है - ऐसा भावश्रुतज्ञान" अर्थात् जिसमें से पुण्य-पाप का राग भिन्न पड़ गया है और जिसमें अभेद एक नित्यानन्द स्वरूप का संवेदन ज्ञान प्रगट हुआ है - ऐसे भावश्रुत ज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी पर से अत्यन्त विरक्त हो जाता है।

अहाहा ...! भगवान की वाणी से रचे गये शास्त्रों का वाचना/सुनना/मनन करना आदि द्रव्यश्रुतज्ञान रूप जो विकल्प हैं, वे सब जिसमें से दूर हो गये हैं, हट गये हैं, ऐसे भावश्रुतज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी पर से अत्यन्त विरक्त है।

पूर्णानंद का नाथ निर्विकल्प अचिन्त्य परम पदार्थ भगवान आत्मा भावश्रुतज्ञान में स्वज्ञेयपने से ज्ञात होता है। ऐसे अखण्ड आत्मा को जानने वाले भावश्रुतज्ञान का ज्ञानी के सद्भाव होने से वह पर से अर्थात् रागादि भावों से सर्वथा विरक्त है। इसप्रकार पर से अत्यन्त विरक्त होने से - ज्ञानी कर्म के उदय के स्वभाव को अर्थात् हर्ष-शोक, रति-अरति आदि भावों को स्वयमेव छोड़ देता है।

अरे! शुद्ध आत्मा के ज्ञान विना जीव ने पूर्व में नरकादि के अनन्त-अनन्त भव धारण किये हैं। क्रूर परिणाम के फलस्वरूप जीव नरकादि गतियों में जाता है। अहा! इन नरकादि गतियों के अकथनीय दु:खों का क्या वर्णन करें? किन शब्दों में कैसे कथन करें? कल्पना करो लाखों टन स्टील को गला कर पानी-पानी करने वाली जमशेदपुर की धधकती भट्टी में पच्चीस वर्षीय युवा राजकुमार को जिन्दा डालने से जैसा दु:ख उसे होगा, उससे भी अनन्त गुणा दु:ख निरन्तर - आठों पहर (दिन-रात) जहाँ भोगना पड़ता है, उस जगह का नाम नरक है। नारकी ऐसा दु:ख कम से कम दस हजार वर्ष और अधिकतम ३३ सागरपर्यन्त भोगते हैं। उन नरकों में ये जीव अनन्त बार जा चुके हैं।

अब इस समय सहज संयोग से मनुष्य पर्याय प्राप्त हो गई तथा सब प्रकार की अनुकूलता भी मिली हुई है - अत: यह अवसर चूकने जैसा नहीं है। यदि इस मौके का लाभ नहीं लिया, स्वरूप का ज्ञान नहीं किया तो वे नरकादि के दु:ख सामने ही खड़े समझो।

अहाहा ···! अन्तर में भगवान आत्मा अमृत का सागर है। उसमें जो स्वभाव के विपरीत रागादि भाव होते हैं, वह सब जहर है, दु:ख है। अज्ञानी जीव शुभाशुभ भावों में अटक कर निरंतर इसी जहर का स्वाद वेदता है। जबकि धर्मी जीव उदय में आते हुये अमधुर या मधुर फल को ज्ञातापन के कारण मात्र जानता ही है। शुभ भावों में हर्ष होना मधुर स्वाद है, वस्तुत: तो यह मधुर स्वाद भी जहर का ही स्वाद है तथा अशुभ भावों में जो हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-वासना, काम-क्रोधादि भाव होते हैं, वे सब अमधुर - कड़वे स्वाद

हैं। परन्तु धर्मी जीव तो इन दोनों का ज्ञाता-दृष्टा ही है, वेदक नहीं है; क्योंकि शुद्ध आत्मा का ज्ञान होने पर द्रव्य को "मैं" पने अनुभव करने की योग्यता है। इसलिये ज्ञानी कर्म प्रकृति के स्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है। हर्ष-शोक व सुख-दु:ख के भावों का ज्ञाता ही है, वेदक नहीं है।

गाथा ३१८ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप परमात्मद्रव्य है। ऐसे निज आत्मा की जिसे दृष्टि प्राप्त हो गई, वे ज्ञानी हैं। यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी कर्म प्रकृति के स्वभाव को अपना नहीं मानता। अत: वह उनसे विरक्त है। धर्मी जीव व्यवहाररत्नत्रय के भावों को भी अपना नहीं मानता। अत: वह उनसे विरक्त है।

जो रागादि भाव होते हैं, वह तो प्रकृति का स्वभाव हैं, जीव का नहीं। जीव का स्वभाव तो एक ज्ञायक स्वभाव है, चैतन्य स्वभाव है। उसमें राग का कर्तृत्व है ही कहाँ ? यद्यपि आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, परन्तु राग को कर सके - ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है। इस कारण जिसे त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि हुई है - ऐसा ज्ञानी राग में रक्त नहीं है।

इससे कहा है कि ज्ञानी स्वयमेव तो कर्म प्रकृति के स्वभाव को भोगता नहीं है और उदय की बलजोरी से परवश हुआ अपनी निर्बलता से भोगता है तो परमार्थ से वह उनका भोक्ता नहीं कहलाता। इसलिये ज्ञानी अभोक्ता ही है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :

(वसन्ततिलका)

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करणवेदनयोरभावाच्छुद्धस्वभाव
नियतः स हि मुक्त एव॥ १९८॥

श्लोकार्थ : [ज्ञानी कर्म न करोति च न वेदयते] ज्ञानी कर्म को न तो करता है और न भोगता है, [तत्स्वभावम् अयं किल केवलम् जानाति] वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। [परं जानन्] इसप्रकार मात्र जानता

हुआ [करण-वेदनयोः अभावात्] करने और भोगने के अभाव के कारण [शुद्ध-स्वभाव-नियतः सः हि मुक्तः एव] शुद्ध स्वभाव में निश्चल ऐसा वह वास्तव में मुक्त ही है।

भावार्थ : ज्ञानी कर्म का स्वाधीनतया कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है; इसलिये वह मात्र शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है। कर्म उदय में आता भी है, फिर भी वह ज्ञानी का क्या कर सकता है? जबतक निर्बलता रहती है, तबतक कर्म जोर चला ले; किन्तु ज्ञानी क्रमशः शक्ति बढ़ाकर अन्त में कर्म का समूल नाश करेगा ही॥ १९८॥

कलश १९८ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

जीव अनादि से कर्मों का कर्ता होकर दुःख के मार्ग में भटक रहा था। अब उसने स्वानुभव करके सुख का मार्ग अपनाया है। वह अब ज्ञानी होकर कर्मो का कर्ता-भोक्ता नहीं रहा। अब उसे आनन्दस्वरूप निज आत्मद्रव्य का भान हुआ है। अतः वह अब दुःख के भाव को नहीं वेदता। जो किंचित् राग का भाव है, उसको वह मात्र जानता ही है, वेदता नहीं है। कर्म के स्वभाव को व पुण्य-पाप आदि भाव को धर्मी पुरुष केवल जानता ही है, उन्हें करता व भोगता नहीं है। ज्ञानी को दया, दान, भक्ति, पूजा आदि के भाव आते अवश्य हैं, परन्तु वह उनका कर्ता-भोक्ता नहीं होता। धर्मी जीव अतीन्द्रिय आनंद में रत है व राग से विरक्त है। इस कारण राग में मिले बिना जो अल्पराग होता है, उसे केवल जानता ही है।

बापू! यह तो बड़े घर का बुलावा आया है। केवली भगवान ने तुझे मुक्ति कन्या से सगाई करने का आह्वान किया है। वे कहते हैं कि अरे प्रभु! तू स्वयं - स्वभाव से ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का स्वामी है, जिसमें राग व अल्पज्ञता है ही नहीं। तू अपने ऐसे अन्तर निधान में दृष्टि कर! एक बार अपने स्वभाव को देख तो सही। आचार्यों ने अन्तर्दृष्टि करके समकित द्वारा मुक्ति कन्या के साथ सगाई की है और राग का बंधन छोड़ दिया है। अब वे कर्म के उदय को केवल जानते ही हैं। बस, इसी का नाम धर्म है। यह धर्म सचमुच कोई अपूर्व वस्तु है, जिसे इस जीव ने पहले कभी किया ही नहीं है।

अहाहा ...! ऐसा धर्मी पुरुष शुद्धस्वभाव में निश्चल वस्तुत: मुक्त ही है। जिसने स्वभाव में एकत्व किया है, वह वस्तुत: मुक्त ही है। जिसतरह सिद्ध भगवान राग से सर्वथा मुक्त हैं, उसीतरह दृष्टि की प्रधानता से ज्ञानी राग से मुक्त ही हैं, क्योंकि - ज्ञानी के राग का कर्तृत्व व भोक्तृत्व नहीं है। धर्मी जीव राग का कर्ता भी नहीं एवं भोक्ता भी नहीं है। इसलिये वह मुक्त ही है।

देखो, ज्ञानी के कर्म उदय में आते हैं और निर्वलतावश उसे किंचित् राग भी होता है, परन्तु वह उसका ज्ञाता ही रहता है। जहाँ तक निर्वलता है, वहाँ तक कर्म का जोर है, परन्तु स्वरूप का उग्र आश्रय करके सवलता वढ़ाता हुआ ज्ञानी शेष कर्मों का समूल नाश करेगा ही; क्योंकि अंतरंग में आनन्द का नाथ भगवान आत्मा पूर्ण स्वभाव से भरा है, अनंत वल का स्वामी है। अत: निज स्वभाव का उग्र आश्रय करके नियम से संपूर्ण कर्मों का नाश करेगा ही। इसप्रकार ज्ञानी मात्र शुद्धस्वभाव रूप होता हुआ मुक्त ही है।

देखो! आचार्य कहते हैं कि —भगवान आत्मा ज्ञान का सागर है, जिसको उस ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव हुआ है, वह ज्ञानी है। वह ज्ञानी पुरुष ऐसा जानता है कि — "मैं तो चेतना मात्र स्वभाव से भरा भगवान हूँ, कर्मचेतना से रहित हूँ। पुण्य-पाप आदि भाव मेरा स्वरूप नहीं है; क्योंकि राग में मेरा एकत्व नहीं है।" वस इसी कारण ज्ञानी राग का अकर्ता है।

प्रश्न : क्या ज्ञानी (धर्मी) के राग होता ही नहीं है?

उत्तर : ज्ञानी (धर्मी) के भूमिकानुसार राग तो होता है, परन्तु उस राग का स्वामित्व ज्ञानी के नहीं होता। जिसको सच्चिदानन्दमय निज आत्मा का स्वामीपना है; उस धर्मी को राग का स्वामीपना नहीं है। जिसप्रकार दो घोड़ों पर एक साथ सवारी नहीं की जा सकती, उसीप्रकार आत्मा का एवं राग का स्वामीपना व कर्तापना एक साथ संभव नहीं है। इस कारण आनन्द के नाथ भगवान आत्मा का जव स्व के साथ स्वामीपना हो गया तो फिर रागादि के साथ कर्तापना व स्वामीपना कैसे हो सकता है? ज्ञानी जाननहार तो दोनों का है; पर दोनों का कर्ता व स्वामी नहीं है।

ज्ञानी कर्मफल चेतना रहित होने से स्वयं अवेदक भी है। विकार का अर्थात् हर्ष-शोक का एवं सुख-दु:ख का चेतनापना ही कर्मफल चेतना है। विकारी परिणाम के फल का वेदन ही कर्मफल चेतना है। धर्मी जीव कर्मफल चेतना से रहित है। इस कारण वह अवेदक है। अहा! निजघर में अकेला ज्ञान व आनन्द भरा हुआ है, ज्ञानी उसका वेदन करने वाला है। निराकुल आनन्द के वेदन में पड़ा हुआ ज्ञानी विकार रूप जहर का स्वाद कैसे ले सकता है? क्यों ले? इसप्रकार कर्मफल चेतना रहित होने से ज्ञानी उनका अभोक्ता ही है। दया, दान, भक्ति आदि के भाव ज्ञानी के होते हैं, परन्तु वह उनका भोक्ता नहीं है।

इसप्रकार ज्ञानी कर्मों का कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है।

अहाहा! चिद्ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा का एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है। "स्व व पर को जाने" - ऐसा इसका सहज स्वभाव है। यह सहज स्वभाव अनुभव में आ जाने से ज्ञानी के एकमात्र ज्ञान चेतना ही है। अहाहा···! कहते हैं कि - ज्ञान चेतनामय होने के कारण ज्ञानी मात्र ज्ञाता ही है, अत: शुभाशुभ कर्मबंधन को व कर्म के फल को केवल जानता ही है।

सारांश रूप में देखें तो उपर्युक्त कथन में मुख्यत: ३ बातें कही गईं हैं—

१. ज्ञानी कर्म चेतना रहित होने से अकर्ता है, रागादि का कर्ता नहीं है।

२. ज्ञानी कर्मफल चेतना रहित होने से अवेदक है, कर्मफल का - सुख-दु:खादि का भोक्ता नहीं है।

३. ज्ञानी ज्ञान चेतनामय होने से केवल ज्ञाता ही है, शुभाशुभ कर्मों व कर्मफलों को केवल जानता ही है।

इसप्रकार ज्ञानी-धर्मी पुरुष साक्षीपने से मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है।

समयसार गाथा ३१९

णवि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३१९ ॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ॥ ३१९ ॥

ज्ञानि हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च; किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबंधं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति।

अव इसी अर्थ को पुनः दृढ़ करते हैं:—

करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहुभांति को ।
बस जानता ये बंध त्यों हि कर्मफल शुभ अशुभ को ॥ ३१९ ॥

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [बहु-प्रकाराणि] बहुत प्रकार के [कर्माणि] कर्मों को [न अपि करोति] न तो करता है, [न अपि वेदयति] और न भोगता ही है; [पुनः] किन्तु [पुण्यं च पापं च] पुण्य और पापरूप [बंधं] कर्मबन्ध को [कर्मफलं] तथा कर्मफल को [जानाति] जानता है।

टीका : ज्ञानी कर्म चेतना रहित होने से स्वयं अकर्ता है और कर्मफलचेतना रहित होने से स्वयं अभोक्ता है, इसलिए वह कर्म को न तो करता है और न भोगता है; किन्तु ज्ञानचेतनामय होने से मात्र ज्ञाता ही है इसलिये वह शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है।

गाथा ३१९ एवं टीका पर प्रवचन

इस गाथा में भी पूर्व कथित भाव को ही दृढ़ करते हैं।

जिसमें राग की ही चेतना होती है, ज्ञान की चेतना नहीं होती, वह कर्म चेतना है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयवासना आदि अशुभ राग तथा दया, दान, व्रत, भक्ति

आदि शुभराग का जो कर्तृत्व है, वह कर्म चेतना है। ज्ञानी इस कर्म चेतना से रहित होता है, इस कारण वह अकर्ता है।

भाई! आत्मा ज्ञान का सागर है, जिसे उसका अन्तर में अनुभव हुआ है, वे ज्ञानी हैं। ये ज्ञानी ऐसा जानते हैं कि 'मैं तो मात्र चेतना स्वभाव से भरा भगवान हूँ, कर्मचेतना से रहित हूँ, पुण्य-पाप आदि भाव मेरा स्वरूप नहीं है।' ज्ञानी को राग में एकत्व नहीं है, इस कारण ज्ञानी राग के कर्तृत्व से रहित होने के कारण अकर्ता है।

प्रश्न : क्या ज्ञानी के राग बिल्कुल भी नहीं होता?

उत्तर : ज्ञानी समकिती के चारित्रमोह सम्बन्धी राग होता है, परन्तु उसके उस राग का भी स्वामीपना (स्वामित्व) नहीं होता। जिसको सच्चिदानन्दमय निज आत्मा का स्वामित्व हो गया है, अर्थात् जिसे निज आत्मा में अपनापन हो गया, आत्मानुभूति हो गई, उसे राग का स्वामित्व नहीं रहता। जिसतरह एक साथ दो घोड़ों की सवारी संभव नहीं, उसीतरह आत्मा व राग का भी एक साथ स्वामित्व संभव नहीं है। इस कारण जिसको आनन्द के नाथ भगवान आत्मा का स्वामित्व हो गया, उसे राग का स्वामित्व नहीं रहता। इससे वह राग का अकर्ता है। ज्ञानी ज्ञाता तो दोनों का ही है, पर स्वामी दोनों का नहीं है।

ज्ञानी कर्मफल चेतना रहित होने से स्वयं अवेदक है। विकार अर्थात् हर्ष-शोक का, सुख-दुःख का जो वेदन होता है, वह कर्मफल चेतना है। विकारी-परिणामों के फल का वेदन करना कर्मफल चेतना है। धर्मी (समकिती) जीव कर्मफल चेतना से रहित होते हैं। इस कारण वे अवेदक हैं।

अहा! निजघर में अकेला ज्ञान व आनन्द भरा है, ज्ञानी उसका वेदन करने वाला है। निराकुल वेदन के आनन्दामृत में मग्न ज्ञानी विकारी भावरूप जहर का स्वाद क्यों ले? इस प्रकार कर्मफल चेतना से रहित होने से ज्ञानी अभोक्ता ही हैं।

चिद्‌ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा का एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है। स्व व पर को जानने का स्वभाव है। ज्ञानी मात्र ज्ञानचेतनामय होने से केवल स्व-पर का ज्ञाता ही है। ज्ञानी शुभाशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है।

यहाँ तीन बातें कही हैं—

१. ज्ञानी कर्मचेतना रहित होने से अकर्ता है, कर्म व राग का कर्ता नहीं है।

२. ज्ञानी कर्मफल चेतना रहित होने से अवेदक ही है, कर्मफल व सुख-दु:ख का भोक्ता नहीं है।

३. ज्ञानी ज्ञानचेतनामय होने से केवल ज्ञाता ही है। शुभाशुभ कर्मों का एवं कर्मफल को केवल जानता ही है, उनका कर्ता-भोक्ता नहीं होता।

इसप्रकार धर्मी पुरुष कर्म व कर्मफल का मात्र साक्षी रूप से ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है, कर्ता-भोक्ता नहीं होता।

कुत एतत् ? —

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥ ३२० ॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव ।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥ ३२० ॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंडवत्स्वयमौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंतविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च, किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति।

अब प्रश्न होता है कि—(ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है) यह कैसे है? इसका उत्तर दृष्टांतपूर्वक कहते हैं :—

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो ।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को ॥ ३२० ॥

गाथार्थ : [यथा एव दृष्टिः] जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों को करता-भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है), [तथा] उसीप्रकार [ज्ञानम्] ज्ञान [अकारकं] अकारक [अवेदकं च एव] तथा अवेदक है, [च] और [बंधमोक्षं] बन्ध, मोक्ष, [कर्मोदयं] कर्मोदय [निर्जरां च एव] तथा निर्जरा को [जानाति] जानता ही है।

टीका : जैसे इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (-भोगने) में असमर्थ होने से, दृश्य पदार्थ को न तो करता है और न भोगता है—यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने, संधुक्षण[1] की भाँति, अपने

---

१. संधुक्षण = संधुकण; ईंधन : अग्नि को चेताने वाली वस्तु

को (नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व (जलाना), और लोहे के गोले की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए (अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए और नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता एवं भोक्ता नहीं है) —किन्तु केवल दर्शनमात्रस्वभाववाला होने से वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है; इसीप्रकार ज्ञान भी, स्वयं (नेत्र की भाँति) देखने वाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से, कर्म को न तो करता है और न वेदता (भोगता) है, किन्तु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला (-जानने का स्वभाववाला) होने से कर्म के बन्ध को तथा मोक्ष को, और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।

भावार्थ : ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है; इसलिये ज्ञान के कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। यहाँ कोई पूछता है कि—"ऐसा तो केवलज्ञान है। और शेष तो जबतक मोहकर्म का उदय है, तबतक सुख-दुःखरागादिरूप परिणमन होता ही है, तथा जबतक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय का उदय है तबतक अदर्शन, अज्ञान तथा असमर्थता होती ही है; तब फिर केवलज्ञान होने से पूर्व ज्ञाता-दृष्टापन कैसे कहा जा सकता है?"

उसका समाधानः— पहले से ही यह कहा जा रहा है कि स्वतंत्रतया करता—भोगता है, वह परमार्थ से कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसलिए जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ वहाँ परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसी का कर्ता-भोक्ता नहीं होता, तथा अपनी निर्बलता से कर्म के उदय की बलवत्ता से जो कार्य होता है; वह परमार्थदृष्टि से उसका कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता। और उस कार्य के निमित्त से कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो भी उसे यहाँ बन्ध में नहीं गिना जाता। मिथ्यात्व है वही संसार है। मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है। समुद्र में एक बूँद की गिनती ही क्या है?

और इतना विशेष जानना चाहिए कि—केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही हैं और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलम्बन से आत्मा को ऐसा ही अनुभव करते हैं; प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है। इसलिये श्रुतज्ञानी को ज्ञान-श्रद्धान की अपेक्षा से ज्ञाता-दृष्टापन ही है और चारित्र की अपेक्षा से प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है, उतना घात है और उसे नष्ट करने का उद्यम भी है। जब कर्म का अभाव हो जायेगा तब साक्षात् यथाख्यात चारित्र प्रगट होगा और तब केवलज्ञान प्रगट होगा।

यहाँ सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञानी कहा जाता है सो वह मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा से कहा जाता है। यदि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष की अपेक्षा लें तो जबतक किंचित्मात्र भी अज्ञान है, तबतक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता—जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों में भावों का वर्णन करते हुए, जबतक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तबतक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसलिये यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है, वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा से ही जानना चाहिए।

गाथा ३२० पर प्रवचन

भगवान आत्मा का तो ज्ञानस्वभाव है, रागादि और शरीरादि पर को करने एवं भोगने का आत्मा का स्वभाव नहीं है। जैसे — नेत्र अग्नि को देखते हैं; परंतु उसरूप परिणमित नहीं होते, स्वयं उष्णरूप हुये लोहपिण्ड की भाँति आँख उष्ण नहीं होती।

इसीतरह आत्मा, जिसका कि एक ज्ञायक स्वभाव है, वह पुण्य व पाप के भावों को करता नहीं है, वेदता भी नहीं है; क्योंकि पर व राग का कर्ता-भोक्तापना ज्ञानस्वभाव के है ही नहीं। - ऐसा अपने आत्मा का ज्ञानस्वभाव एवं पर व विकार का अकर्ता-अभोक्ता स्वभाव जबतक दृष्टि में नहीं आता, तबतक जीव अज्ञानी है।

देखो, यहाँ शुद्धरूप से परिणमित हुये जीव की बात है। यहाँ शुद्धज्ञान को गुण रूप से ग्रहण किया है तथा शुद्धज्ञान परिणत जीव को द्रव्यरूप किया है। मैं एक शुद्ध ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ — जिसके अपने अन्तर में ऐसा शुद्ध

ज्ञानमय परिणमन हुआ है, वह जीव शुद्ध उपादान रूप से दया, दान, व्रत आदि राग रूप भावों का कर्ता नहीं है तथा उन्हें वेदता भी नहीं है; क्योंकि आत्मा का शुद्ध उपादान तो शुद्ध एवं चैतन्यमय ही है।

यहाँ मुख्यत: दो वातें कही गई हैं -

१. त्रिकाली ज्ञानगुण, दया, दान आदि - राग को (विकल्प को) करता व वेदता नहीं है।

२. इसीप्रकार शुद्ध ज्ञान परिणत जीव भी राग को करता व वेदता नहीं है।

वापू! ये व्यवहार के सव काम मैं व्यवस्थित रूप से कर सकता हूँ — ऐसा जो मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि - स्वभाव सन्मुख हुई दृष्टि से शुद्ध ज्ञान रूप से परिणमित हुए जीव द्वारा व्यवहार के काम करना तो वहुत दूर की वात है, वह अपने पुण्य-पाप के भावों को भी न करता है न भोगता है।

ज्ञान गुण भी ऐसा नहीं है तथा शुद्धज्ञान रूप से परिणमित द्रव्य भी ऐसा नहीं है।

यहाँ प्रश्न यह है कि - शुद्धज्ञान परिणत जीव द्रव्य क्यों कहा ?

उत्तर यह है कि - त्रिकाली द्रव्य तो राग का करता भी नहीं है और भोगता भी नहीं है, ऐसा ही इसका (शुद्ध द्रव्य का) स्वभाव है तो फिर परिणमन शुद्ध हुये विना राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है - यह सिद्ध कैसे हो? अर्थात् परिणमन शुद्ध होने पर ही शुद्ध कहा जा सकता है। तभी तो यह कहा जा सकता है कि शुद्ध जीव राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

भाई! आत्मा का ज्ञान स्वभाव तो मात्र ज्ञानरूप ही परिणमित होता है। राग का करना व भोगना ज्ञानस्वभाव में तो है ही नहीं, किन्तु ज्ञान का जव अनुभव होता है, तव वह समझता है न?

अहाहा ··· ! निश्चय से जीव द्रव्य राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है। किन्तु ऐसा निर्णय शुद्धज्ञान परिणत जीव को ही होता है।

भगवान आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप प्रभु त्रिकाल शुद्ध और पवित्र है। उसे ध्येय वनाकर उसके लक्ष्य से - आश्रय से जव पर्याय में शुद्ध परिणमन होता है; तव

वह जीव राग का कर्ता एवं हर्ष-शोक का भोक्ता नहीं होता। शुद्ध परिणमन हुये बिना द्रव्यस्वभाव राग का कर्ता-भोक्ता नहीं - ऐसा निर्णय किसप्रकार हो? इसप्रकार जब गुण व गुणी - दोनों का शुद्ध ज्ञानमय परिणमन होता है; तब वह जीव व्यवहार के विकल्पों का कर्ता भोक्ता नहीं होता - ऐसा यथास्थित सिद्ध होता है। ज्ञानी के अशुभ राग भी आता है, किन्तु वह उसका भी कर्ता-भोक्ता नहीं है।

ज्ञानस्वभावी आत्मा जो स्वभावपने से परिणमित हो, वह विकार रूप कैसे परिणमे ?

जिस धर्मी भगवान आत्मा का धर्म ज्ञान व आनंदमय है, वह दया, दान, व्रत, तप आदि के विकल्पों को करे या वेदे - ऐसा कभी होता ही नहीं है।

पाठान्तर - "दिट्ठी खयं पि णाणं अर्थात् मात्र दृष्टि ही नहीं, किन्तु क्षायिक ज्ञान भी - निश्चय से कर्मों का अकारक एवं अवेदक है। जिसप्रकार नेत्र पर को करते एवं भोगते नहीं हैं, वरन् मात्र जानते ही हैं", उसीप्रकार - क्षायिक ज्ञान और ज्ञान परिणत जीव भी दया-दान आदि विकल्पों को करता नहीं है और वेदता भी नहीं है।

देखो, पहले दो बोलों में द्रव्यदृष्टि पर जोर दिया है। अब यहाँ क्षायिक ज्ञान की बात करते हैं। जैसा शक्ति रूप सर्वज्ञपना है, वैसा ही पर्याय में भी जो सर्वज्ञपना प्रगट हुआ, वह क्षायिक ज्ञान है। वह क्षायिक ज्ञान भी निश्चय से राग का अकारक एवं अवेदक है। अहा! सर्वज्ञ परमात्मा के जो योग का कम्पन होता है, उसका भी सर्वज्ञ परमात्मा अकारक व अवेदक है। यहाँ "कर्म" शब्द से राग-द्वेष आदि भावकर्म को ग्रहण किया है। अज्ञानी जीवों की ऐसी मानसिकता है, उन्हें ऐसा लगता है कि - हमको अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करना है, एतदर्थ धंधा-पानी (व्यवसाय) की व्यवस्था करना है, परन्तु वस्तुतः उनका ऐसा सोच व मान्यता ही मिथ्या है। वस्तुस्थिति इससे भिन्न है।

भाई! अज्ञानी को स्थूल दृष्टि में ऐसा भासित होता है कि हम पर का काम करते हैं; किन्तु वास्तव में पर का काम कोई कर ही नहीं सकता। जो पर का स्पर्श

ही नहीं करता वह पर का क्या करेगा? यहाँ कहते हैं – क्षायिकज्ञान पर का कुछ करे – यह बात तो संभव ही नहीं है, वह तो अपने रागादि भाव कर्मों का भी अकारक और अवेदक है।

इसप्रकार क्षायिक ज्ञान की बात की। अब पुनः शुद्धज्ञान परिणत साधक जीव की बात करते हैं। उसके बारे में पूछते हैं कि – जो अभी सिद्ध तो हुआ नहीं, केवलज्ञान भी जिसे अभी नहीं हुआ – ऐसे शुद्धज्ञान परिणत साधक जीव तो पर व पर्याय में कुछ करते ही होंगे?

उत्तर : साधक जीवों की वर्तमान अवस्था में जो रागादि होते हैं, उन्हें वह मात्र जानता ही है, करता कुछ भी नहीं है।

समयसार गाथा ३१, ३२ एवं ३३ में चैतन्यघन आत्मप्रभु को विकल्पों से भिन्न बताया है। आत्मा चैतन्य के अस्तित्व से है, राग के अस्तित्व से नहीं है। वहाँ ऐसा रागादि से भिन्न आत्मा का स्वरूप बताया है। उस प्रकरण को समझने के बाद ऐसा कौन पुरुष होगा कि जिसे भेदज्ञान न हो।

समयसार की ५वीं गाथा में भी आचार्यदेव ने कहा है कि – जो मैं शुद्धज्ञानघन एकत्व-विभक्त आत्मा तुम्हें दर्शा दूँ तो तुम स्वाभिमुख होकर-स्वानुभव करके प्रमाण करना। शुद्धात्मा को देखने वाला स्वानुभव से प्रमाण करने वाला भी है। अहा! जहाँ अन्तर में खबर पड़ी कि अन्दर में चैतन्य महाप्रभु स्वयं अपना आत्मा ही विराजमान है तो फिर उसकी संभाल करके उसका अनुभव क्यों नहीं करेगा?

देखो, यहाँ भी स्वानुभव मण्डित शुद्धज्ञान परिणत जीव ही लिया है। अकेला सुनने वाले जीव को नहीं लिया।

अपने अन्दर विराजमान आत्मा चैतन्य-महाप्रभु शुद्धज्ञान प्रकाश का पुंज है। यह अपने स्वरूप को प्रकाशित करे या रागादि विकारी भावों में अटक-भटक कर अपने विकार को प्रगट करे? अरे! यहाँ तो यह कहते हैं कि ज्ञान परिणत जीव तो राग और जड़ कर्मों को दूर से ही जानकर पृथक् रूप से जानते हैं।

आजकल ऐसी सूक्ष्म बात की चर्चा ही दुर्लभ हो गई है। किसी भी धर्म के मानने वाले हों, सभी बहुत ही स्थूल बातें करते हैं। दिगम्बर-श्वेताम्बर

शब्दों का स्वरूप (अर्थ) तक नहीं जानते। कोई पूछ ले तो कह देंगे – जो वस्त्र रहित हो वे दिगम्बर और जो श्वेत वस्त्र सहित हो, श्वेताम्बर। जबकि दिगम्बर धर्म तो वस्तु का स्वरूप है। अन्दर में रागादि विकारों से जो नग्न (शून्य) अनमूरत, चिनमूरत आत्मप्रभु देह देवालय में विराज रहा है, वही यथार्थ दिगम्बर स्वरूप है।

जिसको अपने ऐसे निज स्वरूप का भान हुआ है, वह शुद्धज्ञान परिणत धर्मी पुरुष है। वह अपनी वर्तमान पर्याय में हुये बंध को मात्र जानता ही है।

जिसप्रकार भगवान आत्मा अकेले ज्ञानप्रकाश का पुंज त्रिकाल अस्ति स्वरूप है, वैसे ही रागादि बंध भी वर्तमान अस्ति रूप है। अवस्था में बंध है ही नहीं – ऐसी नहीं है; किन्तु सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव उस रागादि बंध भाव से दूर रहकर मात्र जानते ही हैं, उसे करते व वेदते नहीं हैं।

दया-दान, व्रत-तप आदि रूप जो शुभ राग के विकल्प हैं, ज्ञानी उनका कर्ता-भोक्ता नहीं है। जो इन्हें अपना कर्म मानता है, उसकी तो दृष्टि ही मिथ्या है; क्योंकि उसको राग से भिन्न ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा का भान ही नहीं हुआ। वे राग को ही एकत्वरूप से करते हैं और राग को ही एकत्वपने वेदते हैं। यहाँ ऐसे अज्ञानी की तो बात ही नहीं है।

यहाँ तो उस ज्ञानी की बात है, जिसको राग से भिन्न पूर्ण ज्ञानघनस्वरूप भगवान आत्मा जानने में एवं प्रतीति में आ गया है – ऐसे शुद्धज्ञान परिणत जीव की यह बात है। उस ज्ञानी ने व्यक्त क्षयोपशम ज्ञान के अंश में ऐसा जाना कि यह जो व्यक्त-प्रगट है, वह तो अंश है, मैं इतना अंश मात्र ही नहीं हूँ, बल्कि मैं तो ध्रुव परिपूर्ण हूँ। ध्रुव में ध्रुव नहीं जाना जाता, किन्तु ध्रुव के ध्येय से जो अन्तुर्मुखी परिणमन हुआ, उस परिणमन में ध्रुव को जाना है। वर्तमान अवस्था में जो रागादि होते हैं, बंध होता है; वह ज्ञान का अंश उसे भी जानता है।

भगवान आत्मा सदा ज्ञानस्वरूपी प्रभु प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप है। उसका पूर्ण आश्रय जिसको हुआ उस सर्वज्ञ परमात्मा को एक समय में तीन काल व तीन लोक का ज्ञान होता है। उनका शरीर पूर्ण नग्न होता है और उसको सामान्यजन की भाँति कवलाहार नहीं होता। वे अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द के कर्ता-भोक्ता हैं। वे सर्वज्ञ परमात्मा पूर्ण – आनन्द की दशा के वेदन में लीन

रहते हैं। वे किसी का कुछ भला-बुरा करें या किसी को कुछ प्रदान करें - यह बात ही संभव नहीं है, क्योंकि वे सम्पूर्णतया पर के अकर्ता एवं अभोक्ता है।

प्रश्न : यदि ऐसी बात है तो उन्हें करुणासागर क्यों कहते हैं?

उत्तर : भाई! भगवान सर्वज्ञदेव किसी पर करुणा नहीं करते, कृपा भी नहीं करते; क्योंकि करुणा का भाव तो विकल्प है, शुभ राग है और भगवान सर्वज्ञ तो पूर्ण वीतराग हो चुके हैं। फिर भी उन्हें करुणासागर इसलिये कहा जाता है कि - कोई भव्यजीव भगवान वीतराग की दिव्यध्वनि सुनकर तथा भगवान के वीतराग स्वरूप को पहचानकर स्वयं अपने आत्मा पर करुणा करे, जो कि आजतक नहीं की। पर की दया तो इस जीव ने अनंत बार पाली और उसके फल में स्वर्गादि भी असंख्य बार गया; परन्तु स्व-दया आज तक नहीं की, स्वयं नरक-निगोद में जाने योग्य अपराध ही करता रहा है। काश! कोई भव्य जीव अपने पर करुणा करके अपने हित रूप प्रवर्तन करे तो भगवान की वाणी निमित्त होने से उस स्वदया को ही व्यवहार से भगवान ने करुणा की - ऐसा कहा जाता है। भगवान करुणासागर हैं - यह कथन इसी प्रकार से - व्यवहार से कहा जाता है। इसी के स्पष्टीकरण में प्रवचनसार गाथा ८५ में कहा है कि —

अट्ठे अजधागहणं, करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसएसु य प्पसंगो, मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥

अर्थ : पदार्थों का अन्यथा ग्रहण और तिर्यंच व मनुष्यों के प्रति करुणा भाव तथा इष्ट विषयों में रति एवं अनिष्ट विषयों में अरति का भाव - ये सब मोह के लक्षण (चिह्न) हैं।

इसी का हिन्दी पद्यानुवाद इसप्रकार है —

अयथा ग्रहण हो अर्थ, करुणा भाव मनुज तिर्यञ्च में ।
विषयों में हो आसक्त, ये सब मोह के ही चिह्न हैं ॥

पदार्थों का अन्यथा ग्रहण (पदार्थों के स्वरूप संबंधी अन्यथा मान्यता), तिर्यंच-मनुष्यों के प्रति करुणाभाव तथा विषयों की संगति, ये सब मोह के चिह्न हैं।

यहाँ तो यह कह रहे हैं कि - जिसकी अवस्था में किंचित् राग विद्यमान है - ऐसा शुद्धज्ञान परिणत धर्मी जीव भी राग का व पर का अकर्ता और अवेदक (अभोक्ता) है। प्रभु! शक्तिरूप से तो आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप त्रिकाली है। ऐसे आत्मा का आश्रय होने पर जिसको पर्याय में ज्ञान और आनन्द की रचना करने का वीर्य जागृत हुआ तथा अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का स्वाद आया - ऐसा धर्मी साधक जीव - बंध व मोक्ष - दोनों को मात्र जानता ही है, उनका कर्ता नहीं है।

पूर्ण वीतरागी केवली भगवान के तो राग भी नहीं है, बंध भी नहीं है; किन्तु जिस ज्ञानी को सच्चिदानंदस्वरूप पूर्ण आनंद प्रभु आत्मा का अन्तर में भान हुआ है - ऐसी आंशिक शुद्धता रूप धर्मी जीव भी राग का अकारक और अवेदक है। वे राग को एवं बंध को मात्र जानते ही हैं, उन्हें करते नहीं हैं। धर्मी पुरुषों को जो राग होता है, वह उसे अपनी ज्ञान की पर्याय में ऐसा जानते हैं कि - जो यह राग हो रहा है, वह मेरी वस्तु नहीं है तथा उसका वेदन भी मुझे नहीं है। धर्मी जीव बंध को भी जानता है और मोक्ष को भी जानता है। उसकी भूमिका में जो राग होता है, उसे भी जानता है और जितने अंश में राग का अभाव हो गया, उसे भी जानता है, परन्तु कर्ता नहीं है।

देखो! वीतराग सर्वज्ञदेव की इच्छा के बिना ही ओम ध्वनि निकलती है। अहा! हम तो सबको भगवान आत्मा के रूप में ही देखते हैं। बालक, युवा, वृद्ध रूप कोई दिखता ही नहीं है। 'भग' अर्थात् ज्ञानानन्द की लक्ष्मी का भंडार। ऐसा ज्ञान एवं आनंद स्वरूप लक्ष्मी का धनी ध्रुव आत्मा भगवान नहीं तो और क्या है?

देखो, वीतराग सर्वज्ञदेव की इच्छा के बिना ही ओम ध्वनि निकलती है। कहा भी है —

"जिनमुख ओमकार धुनि सुनि, अर्थ गणधर विचारे ।
रचि आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारै ॥"

भगवान की वाणी अपनी वाणी जैसी मुख से एवं क्रमशः साक्षर नहीं होती। वह तो भगवान के सर्वांग से खिरती है और निरक्षरी होती है। अहा! ऐसी सीमन्धर परमात्मा की वाणी कुंदकुंद के द्वारा विदेह क्षेत्र से यहाँ भरत क्षेत्र

में आई है। उस वाणी में ऐसा कहा है कि – जो शुद्धज्ञान परिणत जीव हैं, वे बंध व मोक्ष – दोनों को जानते हैं। ज्ञानी को अन्तर में व स्वरूप के आश्रय से धर्म प्रगट हुआ है। उन धर्म परिणत ज्ञानी जीवों के जितना राग है, वे उसे भी जानते हैं और जितना राग नष्ट हो गया है, उसे भी जानते हैं; किन्तु वे राग के कर्ता व उसके नष्टकर्ता नहीं हैं, मात्र ज्ञाता हैं।

अहा! जबतक पूर्ण वीतराग व सर्वज्ञ नहीं हो जाते, तबतक साधक जीवों को आंशिक साधकपना भी है। कर्म के उदय के निमित्त से उन्हें शुभ व अशुभ भाव होते हैं। परन्तु वे साधक दोनों के ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं, कर्ता नहीं बनते।

नये श्रोताओं को ऐसा लग सकता है कि ये क्या नई-नई मनगढ़ंत बातें बताते हैं ? परन्तु भाई! इसमें एक भी बात नई नहीं है, यह तो अनादि से दिगम्बर जिनधर्म की परम्परा में चला आया अनन्त तीर्थंकरों द्वारा निरूपित सनातन मुक्तिमार्ग है। एकबार धैर्य धारण करके शान्ति से सुनने व समझने का यत्न तो करो, सब समझ में आ जायेगा। ऐसी सूक्ष्म जिनोक्त बातें अभी तक सुनने में नहीं आईं, इस कारण अटपटी और कठिन लगती हैं।

भगवान आत्मा स्वयं सहज ज्ञानस्वरूप है। वह मात्र जानता है, मात्र ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। ऐसे अनादि-अनन्त ध्रुव तत्त्व ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की बात सुनी नहीं, उसके स्वरूप और अनंत वैभव को आजतक जाना-पहचाना नहीं, समझने की कोशिश भी नहीं की, जानने की जरूरत ही नहीं समझी। कदाचित् प्रसंगवश धर्म की बात सुनी भी तो बस दया-दान, व्रत-उपवास, पूजा-भक्ति, तीर्थयात्रा तक ही धर्मचर्चा सीमित रही, उसी में संतुष्ट रहा। इसी प्रकार पूरा जीवन चला गया। आत्मा के स्वरूप की पहचान न होने से यों ही चार गति व चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण के अनंत दुःख भोगता रहा। शेष रहे-सहे जीवन में भी आत्मज्ञान नहीं हुआ। यदि यों ही खाने-कमाने में जीवन चला गया तो अनंतकाल के लिये फिर संसार-सागर में डूब जायेगा।

जगत के स्वार्थीजन भी अपने-अपने सामाजिक, लौकिक एवं धार्मिक तीर्थों आदि के उद्धार हेतु पाँच-पच्चीस हजार रुपये खर्च करने वालों को दानवीर, धर्म-धुरंधर, श्रावकशिरोमणि, तीर्थभक्त आदि न जाने क्या-क्या उपाधियाँ देकर उन्हें संतुष्ट कर देते हैं। भले उनसे धर्म का अंकुरा भी न उगा

हो। — ऐसे लोगों को चाहिए कि वे अपनी प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग तो अवश्य करें, परन्तु इसे ही धर्म मानकर वस्तुस्वरूप से वंचित न रहे। धर्म का सही स्वरूप जानने/समझने और उसे आचरण में लाने का प्रयास अवश्य करें, क्योंकि धर्म पैसों से नहीं, धर्म तो अपने अन्तर में विराजमान चैतन्य महाप्रभु, अपने भगवान आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होता है।

जिनधर्म की प्रभावना के लिये अपनी दान देने की शक्ति को न छिपाकर लाखों रुपये दान में दो, धर्म आराधना के निमित्त आवश्यकतानुसार विशाल जिनमंदिर बनाओ, ऐसे भाव सद्गृहस्थों को आना ही चाहिए, परन्तु इन सबके साथ राग मंद हुआ हो तो शुभ भावों से मात्र पुण्य बंध ही होता है, धर्म नहीं होता। धर्मी जीव तो ऐसे पुण्य के जो परिणाम होते हैं, उनका अकारक व अवेदक ही रहता है।

ज्ञान मूर्ति प्रभु भगवान आत्मा चैतन्य चक्षु है। जिसप्रकार आँख दृश्य पदार्थों को देखते हुये दृश्य पदार्थ में प्रविष्ट नहीं हो जाती, उसीप्रकार चैतन्य चक्षु प्रभु आत्मा पर को जानते हुये पर में प्रविष्ट नहीं होता। पर से भिन्न रहकर पर को मात्र जानता ही है। यही सब तत्वज्ञान का निचोड़ है। अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि इस रहस्य को नहीं जानता, सम्यक्दृष्टि इस रहस्य को जानता है, सम्यक्दृष्टि ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है।

समकिती अकेले बंध व मोक्ष को ही नहीं जानता, वह कर्म के उदय से जो शुभाशुभ भाव होते हैं, उन्हें भी जानता है। चतुर्थ पंचम गुणस्थान में धर्मी को जैसे शुभ भाव होते हैं, वैसे अशुभ भी होते हैं। चारित्र मोह के उदय में ज्ञानी को भी अपनी कमजोरी के कारण आर्तध्यान व रौद्रध्यान होते हैं। स्त्री संबंधी विषय का राग भी आता है; परन्तु ज्ञानी उस कमजोरीजनित राग से पृथक् रहकर उसका ज्ञाता-दृष्टा रहता है। जिसप्रकार चक्षु मात्र पदार्थों को देखती है, उन्हें बनाती या तोड़ती-फोड़ती नहीं है, उसीप्रकार ज्ञानी का ज्ञान शुभाशुभ भावों को मात्र जानता ही है, उन्हें बनाता या मिटाता नहीं है। देह में जो क्रिया होती है, उसे भी मात्र जानता ही है, क्योंकि ज्ञानी अपनी ज्ञान की भूमिका में रहता है, वह राग की भूमिका में प्रवेश ही नहीं करता। वह

तो सदा अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में मस्त रहता है। भगवान आत्मा सभी ओर से - समस्त प्रकार से - आनन्द का नाथ है। ऐसे आनन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव करना ही ज्ञानी का काम है।

यहाँ भी यही कह रहे हैं कि चौथे गुणस्थान में समकिती धर्मात्मा को उन कर्मों के निमित्त से जो-जो शुभाशुभ भाव आते हैं, उनका वह अकारक व अवेदक है, वह उन्हें भिन्न रहकर मात्र जानता है। जबकि मिथ्यादृष्टि कर्मोदय में और शुभाशुभ भावों में एकरूप-तद्रूप होकर उनका कर्ता व भोक्ता बना रहता है।

ज्ञानी जिसप्रकार कर्मोदय को जानता है, उसीप्रकार सविपाक अविपाक निर्जरा को भी करता नहीं, बल्कि मात्र जानता ही है। आत्मा अकेला ज्ञान व आनन्दस्वरूप है। अहा! जिसे ऐसा भेदज्ञान है, अन्तर में ऐसा भान है, वह ज्ञाता-दृष्टा है।

देखो, वर्तमान में यह मनुष्यगति है। इस मनुष्य गति के होते हुये भी अन्दर में चारों गतियों का उदय होता है, पूर्व के बँधे कर्म पड़े हैं न? इस कारण देव गति आदि का उदय तो आता है, परन्तु वह खिर जाता है। इसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। जिस जीव को - आत्मा का भान होने पर शान्ति व आनन्द का परिणमन हुआ है, उस जीव को पूर्व में बँधे हुये गति आदि कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं। उसे सविपाक निर्जरा कहते हैं। ज्ञानी उनको ज्ञाता-दृष्टापने जानते हैं। 'विपाक' शब्द के दो अर्थ होते हैं— पहला, विपाक अर्थात् कर्म का फल देकर खिर जाना तथा दूसरा, कर्म की स्थिति पूरी होने पर उदय में आकर खिर जाना। इन दोनों ही स्थितियों को सविपाक निर्जरा कहते हैं। विपाक अर्थात् विशेष पाक, सत्ता में जो कर्म पड़े हैं, वे पाक आने पर अर्थात् स्थिति पूरी होने पर खिर जाते हैं, वह सविपाक निर्जरा है, ज्ञानी उसके ज्ञाता-दृष्टा रहकर मात्र जानते हैं।

दूसरी बात अविपाक निर्जरा की है। ज्ञानानन्द स्वभावी भगवान आत्मा अपने अनुभव का पुरुषार्थ करते हुये स्वयं ज्ञाता-दृष्टा हुआ है। ऐसे स्वरूप के भान में उग्र पुरुषार्थ के काल में - जो कर्म उदय में आये बिना ही खिर

जाते हैं, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। जैसे - वर्तमान में यहाँ मनुष्य गति का उदय है, वर्तमान में एक मनुष्य गति विपाक रूप है, अन्य जो तीन गतियाँ - विपाक रूप नहीं हैं, किन्तु अन्दर में उदय में आये बिना खिर जाती है, वह अविपाक निर्जरा है। ज्ञानी उसका भी ज्ञाता-दृष्टा रहता है। ज्ञानी के द्वारा अंतः पुरुषार्थ करने पर जो कर्म खिर जाते हैं, उसे अविपाक निर्जरा कहते हैं। ज्ञानी उसके भी ज्ञाता-दृष्टा ही रहते हैं, उसके कर्ता नहीं बनते।

प्रश्न : मनुष्य गति में अन्य तीन गतियों का उदय कैसे आता है?

उत्तर : कर्मों की जो-जो पिण्ड प्रकृतियाँ होती है, उन सबका ही एक साथ उदय आता है, उनमें से जिस गति आदि में जीव है, वह तो विपाक रूप उदय आती है, शेष उसी रूप, स्तुवकरूप संक्रमित होकर बिना फल दिये खिर जाती हैं।

इसीतरह ज्ञानी पुरुष सकाम-अकाम निर्जरा को भी जानते ही हैं। अहो! ज्ञानी जीव ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से परिणमते हैं। समता भाव से रहते हैं। जैसे कि- उनका प्रतिदिन दस बजे भोजन लेने का समय हो, परन्तु परिस्थितिवश कभी देर-सवेर हो जाये। दस बजे के बजाय १-२ बजे तक भोजन की व्यवस्था बन सके तो भी आकुल-व्याकुल नहीं होते, क्रोध नहीं करते। समता भाव से भूख-प्यास को सह लेते हैं। उस स्थिति में उनके जो कर्म की निर्जरा होती है, उसे अकाम निर्जरा कहते हैं। वैसे तो अज्ञानी को भी मंद कषाय की स्थिति में यह अकाम निर्जरा होती है, परन्तु वह ज्ञानी की भाँति समता भावपूर्वक नहीं होती। ज्ञानी तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा रहकर सह लेते हैं, जबकि अज्ञानी उसे कर्ताबुद्धि से करता है।

समकिती को पुरुषार्थपूर्वक जो निर्जरा होती है, वह सकाम निर्जरा है। ज्ञानी उसका भी ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं बनता। अहा! ज्ञातास्वभाव से परिणत ज्ञानी-धर्मी जीव की अंतर दशा अद्भुत होती है, अलौकिक होती है।

लोग तो बाह्य में दानादि में पैसा खर्च करते हैं और व्रतादि करके राग की मंदता में धर्म होना मानते हैं, परन्तु भाई! धर्म का ऐसा स्वरूप नहीं है।

धर्म तो अंतर की वस्तु है और वह शुद्ध ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव के आश्रय से प्रगट होता है।

जिसप्रकार भगवान केवली का आत्मा एक ज्ञानमात्र भाव में तन्मय है, उसीप्रकार धर्मी-समकिती भी एक ज्ञानमात्र भाव में तन्मय वर्तते हैं। अहाहा···! देखो तो सही, भगवान का यह समोशरण, ये बारह सभायें, यह दिव्यध्वनि। भले यह सब उनके पुण्य के प्रताप से होते हैं, परन्तु वे इनके कर्ता कदापि नहीं हैं। यद्यपि इन्हें भगवान का कहा जाता है, पर यह सब स्थूल उपचार का कथन है। दिव्यध्वनि के काल में केवली भगवान का केवलज्ञान निमित्त मात्र है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उपचार से 'भगवान की वाणी' - ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः वाणी आदि के कर्ता-भोक्ता भगवान नहीं हैं।

यद्यपि तीर्थंकर परमात्मा के ही दिव्यवाणी का अद्‌भुत योग होता है - यह सत्य है; तथापि वह दिव्यवाणी भी जड़ वर्गणाओं का परिणमन है। वह कार्य भगवान का नहीं है तथा उस दिव्यध्वनि के काल में गणधर देव को जो द्वादशांगरूप भावश्रुतज्ञान प्रगट होता है, उसमें भी दिव्यध्वनि गणधर के ज्ञान की कर्ता नहीं है। अहा! ज्ञान का स्वभाव कैसा निरांवलम्बी या स्वावलम्बी है? न तो ज्ञान से वाणी उत्पन्न होती है और न वाणी से ज्ञान होता है। भले दिव्यध्वनि होने में भगवान केवली का केवलज्ञान ही निमित्तरूप होता है, अज्ञानी का ज्ञान निमित्त नहीं होता; तथापि केवलज्ञान व दिव्यध्वनि में कर्ता-कर्म संबंध नहीं होता। दोनों तत्त्व भिन्न-भिन्न ही हैं।

बापू! जिसतरह 'मैं भाषा बोलता हूँ' यह मानना जड़ भाषा का कर्तृत्व रूप अज्ञान है, उसीतरह 'मैं नहीं बोलूँगा - मौन रहूँगा' — ऐसा मानना भी जड़ में ही कर्ताबुद्धि है। ज्ञानी तो स्वयं को दोनों में किसी का भी कर्ता नहीं मानते।

ज्ञानी कहते हैं कि - हम वाणी में या विकल्प में कर्ता भाव से अटके नहीं हैं, हम तो अपने ज्ञानमात्र भाव में ही रहते हैं। भगवान केवली की भाँति शुद्धज्ञानपरिणत धर्मी जीव शरीर-मन-वाणी को, कर्म के बंध-मोक्ष को, कर्मोदय को और निर्जरा को करता नहीं है, इन्हें मात्र जानता है। वस्तुतः ज्ञाता-दृष्टा रहना ही मोक्षमार्ग है।

देखो, यहाँ तीन बातें आईं —

१. शुद्धज्ञानस्वरूप आत्मा का शुद्धज्ञान पुण्य-पापादि भावों का कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है।

२. यहाँ शुद्धज्ञानपरिणत जीव द्रव्य लिया है। पर से और राग से भिन्न शुद्धज्ञानघन प्रभु आत्मा का जिसे निर्मल श्रद्धान हुआ है, वह शुद्धज्ञानपरिणत जीव है। वह राग का कर्ता-भोक्ता नहीं है। छद्मस्थ होने से उसे राग आता तो है, पर वह उस राग का अकर्ता व अवेदक है।

३. जिसको क्षायिकज्ञान-केवलज्ञान प्रगट हुआ है, जो पूर्ण परमात्मा है; वे राग रहित पूर्ण वीतराग हैं। उनकी बाह्य में शरीर की दशा नग्न ही होती है तथा आहार-पानी (कवलाहार) नहीं होता। वे भी कर्मों के अकारक एवं अवेदक हैं।

अब पुनः साधक जीव की चर्चा करते हुये आचार्य कहते हैं कि - शुद्धज्ञानपरिणत जीव बंध-मोक्ष एवं शुभाशुभ कर्मोदय को, सविपाक-अविपाक निर्जरा को और सकाम-अकाम निर्जरा को जानता ही है। चतुर्थ, पंचम और छट्ठे गुणस्थानवर्ती जीव रागरूप भावबंध के तथा राग के अभाव के और मोक्ष के भी ज्ञाता ही हैं। शुभाशुभ भावों को एवं प्रति समय होने वाली सविपाक-अविपाक निर्जरा आदि को भी जानते हैं, उनके ज्ञाता ही रहते हैं।

जिसतरह आँख पदार्थों को मात्र देखती ही है, उसे ग्रहण नहीं करती। उसीप्रकार शुद्धज्ञान परिणति रूप आत्मा की भेदज्ञान की आँख राग-द्वेष को, पुण्य-पाप को मात्र जानती-देखती ही है, करती-भोगती नहीं है, उन्हें ग्रहण भी नहीं करती। उनसे भिन्न ही रहती है। यदि आँख अग्नि को करे या भोगे तो आँख अग्निरूप (अग्नि का पिण्ड) हो जायेगी।

उसीप्रकार यदि ज्ञानचक्षु रागादि को करे या भोगे तो ज्ञान रागादिरूप हो जायेगा जो कि संभव नहीं है, वस्तुस्वरूप में ऐसा होता ही नहीं है। ज्ञानपरिणत आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा रहने का ही सहज स्वभाव है।

भाई! केवली के राग तो होता ही नहीं है, साधक के भी कर्ताबुद्धि का राग नहीं होता। साधक का भावश्रुत ज्ञान भी केवली की भाँति ही पर से व

राग से जुदा वर्तता है। केवली का केवलज्ञान हो अथवा साधक का भावश्रुत ज्ञान हो, ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है कि उसमें राग समाता ही नहीं है। यह ज्ञान तो राग से भिन्न सदा ज्ञायक ही है।

अब यह बताते हैं कि भगवान आत्मा कैसा है? इसका त्रिकाली स्वरूप क्या है ?

यह ३२० गाथा की जयसेनाचार्य की टीका पर प्रवचन है। आचार्य जयसेन स्वामी ने ३२० गाथा को मोक्षाधिकार की चूलिका के रूप में वर्णन किया है। इनकी शुरुआत के उपोद्घात में ऐसा कहा है कि - "सर्वविशुद्ध-पारिणामिक-परमभावग्राहक शुद्ध उपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिक नय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से तथा बंध-मोक्ष के कारण रूप परिणामों से शून्य है।"

यह आत्मा के सहज एक शुद्ध स्वभाव की बात है। "सर्वविशुद्ध पारिणमिक" अर्थात् आत्मा का सहज-अकृत्रिम एक शुद्धस्वभाव जो कि सम्यक्दर्शन का विषय है। "परमभाव ग्राहक" अर्थात् जो त्रिकाली एक ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण करने वाला है। शुद्धद्रव्यार्थिक नय से जीव कर्मों के कर्तृत्व-भोक्तृत्व से एवं बंध-मोक्ष के कारण तथा परिणाम से रहित है। गजब बात है भाई! अंतरंग में भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञानानंदस्वभावी है, सर्वविशुद्ध है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व से और बंध-मोक्ष के कारण तथा परिणाम से रहित है।

निम्नांकित श्लोक में भी यही भाव है —

"आनन्दं ब्रह्मणोरूपं, निजदेहे व्यवस्थितम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम् ॥"

देह में रहते हुये भी देह से भिन्नपने विराजमान ब्रह्मस्वरूप परम स्वभाववान भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दरूप है। परन्तु जिसप्रकार जन्मांध व्यक्ति सूर्य को नहीं देख पाता, उसीप्रकार अन्तर्दृष्टि सहित होने वाले आत्मध्यान से हीन प्राणी आनन्दकंद प्रभु आत्मा को देख नहीं सकता।

यहाँ भी कहते हैं कि - परमभावग्राहक शुद्धउपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिक नय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से और बंध-मोक्ष के कारणरूप परिणाम से शून्य

है। यहाँ इसी जीव की बात है। जैसे पर्याय में जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप वीतरागी दशा प्रगट होती है, उसे भी शुद्ध उपादान कहते हैं, परन्तु वह क्षणिक शुद्ध उपादान है। यहाँ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो त्रिकाली द्रव्य को शुद्ध उपादान कहा है।

यह टीका महामुनिवर दिगम्बर संत जयसेनाचार्य की है। वे मुख्यरूप से तो चिदानन्द रस में ही लीन रहते थे। वे कहते हैं कि – परम पारिणामिक परमभावरूप जो यह शुद्ध द्रव्यस्वभाव है, उसे ग्रहण करने वाला या जानने वाला शुद्ध उपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिक नय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से शून्य है। शुद्ध उपादान तो त्रिकाल अकर्ता-अभोक्ता स्वभावी है ही; किन्तु उसके लक्ष्य से जो वर्तमान दशा प्रगट होती है, वह भी कर्ता-भोक्तापने से शून्य है। त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से उत्पन्न आनन्द की दशा से परिणत जीव भी शुभाशुभ राग एवं पर पदार्थ के कर्ता-भोक्तापने से शून्य है।

भाई! यह तो मूल बात है कि – त्रिकाली ध्येय स्वरूप पूर्ण शुद्ध चिन्मात्र वस्तु भगवान आत्मा, बंध और बंध के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आदि का कर्ता तो है ही नहीं, मोक्ष के परिणामस्वरूप केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनंतवीर्य आदि का कर्ता भी नहीं है। तथा मोक्ष के कारण निर्मल रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र का भी कर्ता नहीं है; क्योंकि भगवान आत्मा त्रिकाल एकरूप ध्रुव वस्तु है और बंध-मोक्ष आदि एक समय की पर्याय है। पर्याय में एकरूप ध्रुवद्रव्य कुछ नहीं करता।

भाई! जिनेश्वर देव तीर्थंकर परमात्मा को जो सर्वज्ञ दशा प्रगट होती है, जिसमें भगवान को तीन लोक व तीन कालवर्ती समस्त पदार्थ जानने में आते हैं। ऐसी जो केवलज्ञान की दशा (पर्याय) प्रगट होती है, उसे त्रिकाली द्रव्य नहीं करता।

अहा! बंध-मोक्ष का परिणमन तो उत्पाद-व्यय रूप पलटता परिणमन है, ध्रुव में उसका अभाव है। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इसमें जो त्रिकाली सत् है, उसमें उत्पाद-व्यय का अभाव है। अर्थात् ध्रुव उत्पाद-व्यय रूप पलटती पर्यायों का कर्ता नहीं है।

जिसे "मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी" कहा, वह सम्यग्दर्शन कोई अलौकिक वस्तु है। मुनिधर्म की तो बात ही क्या कहें। तीन कषाय के अभाव सहित जिनके अन्तर में प्रचुर आनन्द का अनुभव है और वाह्य में जिसके वस्त्र का एक धागा भी नहीं है - ऐसे संतों की क्या बात करें? छठवें-सातवें गुणास्थान में झूलने वाले ऐसे संतों की दशा कोई अलौकिक ही होती है। बापू! मुनिराज तो साक्षात् धर्म-मोक्षमार्ग के स्वरूप होते हैं। यहाँ कहते हैं कि - ऐसे मोक्षमार्ग की दशा को त्रिकाली ध्रुवद्रव्य कर्ता नहीं है।

आत्मा एक ज्ञायकभावरूप शुद्धद्रव्यार्थिकनय से शुद्ध पारिणामिक परम-स्वभावभावरूप है। ऐसी परमस्वभावभाव की भावना से मोक्षमार्ग प्रगट होता है। ऐसी भावनारूप पर्याय होती है, ध्रुवद्रव्य वंध-मोक्ष की पर्यायरूप नहीं होता। पर्याय का कर्ता पर्याय धर्म है। पर्याय द्रव्यदृष्टि का विषय नहीं है अर्थात् द्रव्य को देखने वाली दृष्टि में पर्याय गौण है। इसप्रकार द्रव्यार्थिक नय से जीवद्रव्य वंध-मोक्ष के कारण और परिणाम से रहित है।

वंध और मोक्ष का कारण - दोनों पर्यायरूप हैं, जीव का अशुद्ध परिणाम वंध का कारण है और शुद्ध परिणाम मोक्ष का कारण है। परद्रव्य तो वंध-मोक्ष का कारण नहीं हैं, शुद्धद्रव्यरूप पारिणामिक परमभाव भी बंध-मोक्ष का कारण नहीं हैं। यदि यह ध्रुव द्रव्य वंध का कारण हो तो त्रिकाल वंध ही हुआ करे यदि यह मोक्ष का कारण हो तो त्रिकाल मोक्ष होय। अथवा पारिणामिक भाव स्वयं सर्वथा पर्याय रूप हो जाय तो पर्याय के साथ उस द्रव्य का भी नाश हो जाये। इसप्रकार इस न्याय (युक्ति) से सिद्ध हुआ कि बंध-मोक्ष के परिणाम और उसके कारण पर्याय में ही हैं, त्रिकाली ध्रुव द्रव्य शुद्ध एक परमभाव स्वरूप वस्तु इनसे शून्य है। त्रिकाली ध्रुव द्रव्य में वंध-मोक्ष नहीं है। अहो! यह तो चमत्कारी गाथा एवं चमत्कारी टीका है।

प्रश्न : जब परिणाम अशुद्ध होता है तो द्रव्य भी अशुद्ध कहो न; क्योंकि द्रव्य के परिणमन को ही तो पर्याय कहते हैं।

उत्तर : आत्मा की एक समय की पर्याय में बंध का अशुद्ध भाव है, इससे सम्पूर्ण द्रव्य अशुद्ध नहीं हो जाता। पर्याय की अशुद्धता के काल में भी अन्दर

अहा! जो ध्रुव है, वह तो सदा एकरूप सदृश है तथा उत्पाद-व्यय भाव-अभाव रूप विसदृश हैं। अब कहते हैं कि जो सदृश है, वह विसदृश को कैसे करे? सोगानीजी ने द्रव्यदृष्टि-प्रकाश में तो ऐसा लिखा है कि "परिणाम-परिणाम में रह गया, मैं तो भिन्न वस्तु हूँ।" धर्म की पर्याय को परद्रव्य तो करता ही नहीं है, अपना ध्रुव स्वभाव भी नहीं करता। पर्याय स्वतंत्र सत् स्वरूप है। ध्रुव द्रव्य मोक्षमार्ग एवं मोक्ष की पर्याय के कर्ता नहीं हैं।

अब कहते हैं कि - भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकंद प्रभु है। उसे जो राग का बंध होता है, वह स्वरूप के अजानरूप अज्ञान का माहात्म्य है। शुद्ध चैतन्यघन भगवान आत्मा तो सदा अबंध स्वरूप है। यद्यपि वह राग को छूता तक नहीं है, तथापि कर्म प्रकृतियों के साथ उसको जो बंध होता है, वह अज्ञान का माहात्म्य है।

भाई! तेरी पर्याय में तेरी भूल से तुझे बंधन है, अपने स्वरूप को न पहिचानना ही सबसे बड़ी भूल है। बंधन है तभी तो इस बंधन से छूटने रूप मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। यदि बंधन हो ही नहीं तो "मोक्ष के लिये शुद्धात्मा का ध्यान करो" ऐसा उपदेश ही क्यों दिया जावे। पर्याय में बंधन है और इससे छूटने का उपाय भी है, परन्तु अपना आत्मा उतना मात्र नहीं है। उस पर्याय के समय ही सम्पूर्ण परमात्मस्वरूप परम पवित्रता का पिण्ड आत्म-प्रभु अनंत शक्तियों से परिपूर्ण अन्दर में विराज रहा है, जिसका लक्ष्य करने पर बंधन टलते हैं और मोक्ष प्रगट होता है।

अरे! लोग तो बाह्य क्रिया में धर्म मानते हैं। परन्तु भाई! ये क्रियायें तो सब राग की क्रियायें हैं। ये तो क्लेश रूप हैं, इनमें धर्म मानना स्वरूप का अज्ञान है। अहा! मोक्षमार्ग तो एक वीतरागभावस्वरूप है।

देखो, इस टीका का नाम शुद्धात्मानुभूति लक्षण तात्पर्यवृत्ति है। श्री जयसेनाचार्य की अपेक्षा से यहाँ तक मोक्षाधिकार संबंधी चूलिका समाप्त हुई।

अब यहाँ पाँच भावों के संदर्भ में कुछ विशेष कथन करते हैं —

देखो, पाँच भावों में उपशम आदि चार भाव पर्याय रूप हैं। उनमें प्रथम तीन निर्मल पर्याय रूप हैं, औदयिक भाव मलिन विकार रूप है और

पारिणामिक भाव ध्रुव द्रव्य स्वरूप है। यह पंचम ध्रुव भाव आत्मा का अहेतुक अकृत्रिम सहज स्वभाव है।

औपशमिक भाव निर्मल है। कर्म का उदय रुके और अन्दर पर्याय में निर्मल भाव प्रगट हो, उसे औपशमिक भाव कहते हैं। अनादि अज्ञानी जीव को सर्वप्रथम जब अपने शुद्धस्वभाव का भान हो तब चौथे गुणस्थान में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है – इस औपशमिक भाव से धर्म की शुरुआत होती है। तत्पश्चात् चारित्र में उपशमश्रेणी के समय मुनिराजों को यह उपशम भाव होता है। यह उपशम भाव निर्मल भाव है। इसमें मोह का वर्तमान में उदय नहीं है, सर्वथा क्षय भी नहीं हुआ है। जिसप्रकार ऊपर-ऊपर स्वच्छ निर्मल जल है और कीचड़ नीचे तल में बैठ गया है, उसीप्रकार सत्ता में मोह कर्म विद्यमान है, पर उसका उदय नहीं है। जीव की इस अवस्था को औपशमिक भाव कहते हैं।

क्षायोपशमिक भाव से गुणों में कुछ विकास तथा कर्मों से कुछ आवरण होता है। ज्ञानादि का सामान्य क्षयोपशम तो सभी जीवों के क्षायोपशमिक भाव रूप है।

आत्मा के शुद्ध ज्ञान चारित्र आदि गुणों की सम्पूर्ण शुद्ध दशा प्रगट हो तथा तत्संबंधी कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाये, उसे क्षायिक भाव कहते हैं। औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक — ये तीनों भाव निर्मल पर्यायरूप हैं। ये अनादि से नहीं होते, किन्तु आत्मा के आश्रयपूर्वक नवीन प्रगट होते हैं। ये भाव सादि हैं और मोक्ष के कारण होते हैं।

औदयिक भाव कर्मों के उदय के निमित्त से होते हैं। जीवों के रागादि विकारी भाव औदयिक भाव हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि तथा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि रूप जो भाव होते हैं, वे सब कर्मोदय के निमित्त से होने के कारण औदयिक भाव हैं तथा स्वयं इन भावों को करता है, इस अपेक्षा से इन्हें ही पारिणामिक भाव भी कहा है।

अनादि से सब संसारी जीवों को औदयिक भाव होते हैं, मोक्षदशा होने पर उनका सर्वथा अभाव होता है।

पारिणामिक भाव आत्मा का त्रिकाली सहज एकरूप शाश्वत स्वभाव है। वह ध्रुव द्रव्यरूप है। उसे परमभाव कहा है। अन्य चार भाव क्षणिक हैं, इस कारण उन्हें परमभाव नहीं कहा।

पारिणामिकरूप परमस्वभावभाव प्रत्येक जीव के सदा विद्यमान है।

अब कहते हैं कि - इन पाँच भावों में सर्वविशुद्ध परमपारिणामिकभाव जो शाश्वत ध्रुव अचल है, वह द्रव्य रूप है तथा अन्य चार भाव प्रगट पर्याय रूप हैं। ये परस्पर सापेक्ष - द्रव्य-पर्याय - दोनों रूप होकर सम्पूर्ण आत्मा है। द्रव्य निश्चय, पर्याय व्यवहार - दोनों रूप होकर प्रमाण वस्तु सत् है।

द्रव्य-पर्याय रूप सम्पूर्ण पदार्थ (आत्मा) प्रमाण का विषय है। उनमें परम पारिणामिकस्वभाव से जो त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है, वह निश्चय का विषय है तथा वर्तमान वर्तती पर्याय व्यवहार का विषय है। निश्चय सदैव त्रिकाली द्रव्य को स्वीकार करता है और व्यवहार वर्तमान पर्याय को स्वीकार करता है। निश्चय सहित व्यवहार के ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं।

भाई! तेरी वस्तु अर्थात् अपने आत्मा के देखने-जानने के तीन प्रकार हैं :

१. त्रिकाली ध्रुवद्रव्यरूप परमभाव को देखने वाली दृष्टि - द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि।

२. वस्तु को पर्यायरूप से देखने वाली पर्यायार्थिकनय की दृष्टि।

३. द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु को समग्ररूप से देखने वाला प्रमाणज्ञान।

आध्यात्मिक दृष्टि में शुद्ध द्रव्य निश्चय है तथा उसकी शुद्ध पर्याय द्वारा मोक्षमार्ग को साधना व्यवहार है। रागादिक तो परमार्थ से अनात्मा हैं। अभेद आत्मा की अनुभूति में उसका अभाव है अर्थात् शुद्धात्मानुभूति से वे रागादि बाह्य हैं।

देखो, शुद्ध जीव अन्तःतत्व है तथा रागादि बाह्यतत्व हैं। अभेद तत्त्व की अनुभूति में निर्मल पर्याय के भेद भी नहीं हैं। इस अपेक्षा से उनको भी बाह्य तत्त्व कहा है। नियमसार गाथा ३८ में एक शुद्ध आत्मा को ही अन्तःतत्व कहा है तथा जीवादि तत्त्वों को बाह्य तत्त्व कहा है। तात्पर्य यह है कि - जीवादि

तत्वों संबंधी जो भेद-विकल्प हैं, उनके द्वारा शुद्ध आत्मा अनुभव में नहीं आता। इसलिये वे बाह्य तत्व हैं, हेय तत्व हैं। भाई! पर्याय के भेद आदरणीय नहीं हैं, आश्रय करने योग्य नहीं हैं। एकमात्र शुद्ध त्रिकाली एक ज्ञायक तत्व में अभेद होकर अनुभव करना योग्य है।

यद्यपि अनुभव भी पर्याय है, परन्तु वह अनुभव द्रव्यस्वभाव के सन्मुख होकर उसका आश्रय करता है। इसप्रकार शाश्वत शुद्ध ज्ञायक वस्तु और उसकी वर्तमान पर्याय - दोनों परस्पर सापेक्षपने से सम्पूर्ण आत्मा है।

अब कहते हैं - देखो, यहाँ जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व - ऐसे जो तीन प्रकार के पारिणामिक भाव कहे, वहाँ शुद्ध शब्द का उपयोग नहीं किया। तात्पर्य यह है कि वस्तु में ये तीन भेद डालना अशुद्ध पारिणामिक है और व्यवहार नय के विषय हैं। परन्तु वहाँ इन तीन प्रकार के भावों में शुद्ध जीवत्व शक्ति लक्षण पारिणामिकभाव है, वह ध्रुव है, त्रिकाल है तथा वह शुद्ध द्रव्यार्थिकनयाश्रित होने से निरावरण है और शुद्ध पारिणामिक है। भव्य जीव हो या अभव्य जीव हो, उसमें जो त्रिकाल शक्तिरूप शुद्ध जीवत्व है, वह शुद्धपारिणामिकभाव है। तथा वह शुद्धद्रव्यार्थिक नय का विषय होने से निरावरण है। अहा! जिसमें चार पर्याय रूप भाव नहीं है, उसमें आवरण कैसा? आवरण तो पर्याय में होता है। वह शुद्ध जीवत्व पारिणामिकभाव बंध-मोक्ष के परिणामों से रहित है। वह बंध-मोक्ष के परिणाम का कारण नहीं है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि - पर्याय में अशुद्धता हो तो द्रव्य अशुद्ध हो जाता है - उनकी इस मान्यता का उपर्युक्त कथन से निषेध हो गया। भाई! द्रव्य तो त्रिकाल शुद्ध निरावरण ही है।

आगे यह कहेंगे कि - शुद्धजीवत्वस्वरूप त्रिकाल शक्ति लक्षण जो पारिणामिकपना है, उस पर दृष्टि जाने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यहाँ यह कह रहे हैं कि - वस्तु का स्वरूप, जो कि त्रिकाल शक्तिरूप सत् है, वह त्रिकाल निरावरण है। उदय, उपशम, क्षयोपशम एवं क्षायिक - ये चारों भाव, जो कि पर्याय रूप हैं, ये त्रिकाली ध्रुव-सत्व एवं शुद्धस्वरूप में नहीं हैं। उस स्वरूप की श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है; जो कि धर्म की प्रथम सीढ़ी है।

अज्ञानी मानता है कि कषाय की मंदतारूप शुभभावों से साध्य आत्मा की सिद्धि होगी, परन्तु कषाय मंद हो या तीव्र - ये सब औदयिक भाव हैं, ये मलिन विकारी परिणाम संसार-बंध के कारण हैं, मोक्ष के नहीं। मोक्ष के कारण रूप तो औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक - निर्मलपर्यायरूप तीन भाव हैं। तथा चारों (पर्यायरूप) भावों से रहित त्रिकाल शुद्ध जीवत्व लक्षणरूप जो शुद्धपारिणामिकभाव है, वह अक्रिय है, उसमें उत्पाद-व्यय नहीं होता उसमें कुछ भी ग्रहण करना या छोड़ना नहीं है। मोक्ष करना भी उसमें नहीं। वह तो सम्पूर्ण रूप से त्रिकाल निरावरण है। बस, उसका आश्रय लेने पर ही सम्यग्दर्शन आदि धर्म प्रगट होते हैं।

अरे भाई! ऐसी सूक्ष्म बात जिनके कान में ही नहीं पड़ी हो, वे बेचारे क्या करें? मैं कौन हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? ये पाँच भाव किस रीति से - किस प्रकार होते हैं? किन भावों से बंधन हैं? तथा किन भावों से मोक्ष का उपाय व मोक्ष होता है? कौन से भाव शुद्ध हैं और कौन से अशुद्ध हैं? कौन से भाव आश्रय करने योग्य उपादेय हैं तथा कौनसे हेय हैं? आदि बातों को समझने की फुरसत ही न मिले तो बेचारे क्या करें? अंत में चौरासी लाख योनियों में मरते-मरते संसार समुद्र में ही गोते खाते रहेंगे। अतः आचार्य करुणा करके कहते हैं कि यदि समझने का सुअवसर प्राप्त हो गया है तो एकमात्र परम पारिणामिकभाव को समझकर उसी की शरण में आ जा।

देखो, शुद्धपारिणामिकभाव जो कि त्रिकाली द्रव्यरूप ध्रुव है, उसे भी भाव कहते हैं और जो पर्यायरूप हैं, उन्हें भी भाव कहते हैं, रागादि को भी भाव कहते हैं। पर ध्यान रहे, यहाँ द्रव्य को शुद्धपारिणामिकभाव की संज्ञा दी है। वह तो बंध-मोक्ष की पर्याय से रहित है। भगवान आत्मा त्रिकाल ध्रुव अस्ति रूप है। ध्रुव-ध्रुव-ध्रुव ऐसा अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्य के प्रवाह रूप है। वह ध्रुव बंध-मोक्ष की पर्याय से रहित है। रागादि के भावों से रहित है तथा मोक्षमार्ग व मोक्ष की पर्याय से भी रहित है। त्रिकाली स्वभाव में पर वस्तु तो है ही नहीं, रागादि मलिन पर्याय भी नहीं है तथा अपूर्ण व पूर्ण निर्मल पर्यायें भी नहीं हैं। ऐसी अपनी वस्तु का - निजस्वरूप का जिसको अन्तर्दृष्टि में

स्वीकार हुआ है, उसे ही शुद्धात्मा का, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। शेष सब व्यर्थ है।

भाई! जन्म-मरण के अन्त का यही एक मात्र उपाय है। दुनिया माने या न माने, उसे जो जँचे सो कहे, परन्तु सत्य बात यही है। आत्मा शुद्ध चैतन्य महाप्रभु वंध-मोक्ष की पर्याय से रहित वस्तु है। उसी एक के आश्रय से धर्मरूप निर्मल परिणति प्रगट होती है।

अब यहाँ कहते हैं कि – जो दश प्राणरूप जीवत्व एवं भव्यत्व-अभव्यत्व द्वय हैं, वे पर्यायार्थिक नय के आश्रित हैं। इसलिये वे 'अशुद्ध पारिणामिक भाव' संज्ञा वाले हैं।

जो दश प्राणरूप जीवत्व है, वह अशुद्ध प्राण है। तथा भव्यत्व, अभव्यत्व द्वय भी पर्यायार्थिक नयाश्रित होने से 'अशुद्ध पारिणामिक भाव' हैं। अहा ! त्रिकाली, ध्रुव एक चैतन्य भाव से भरा शुद्धपरमपारिणामिक भावस्वरूप वस्तु में ये अशुद्ध-पारिणामिक भाव नहीं हैं।

प्रश्न : क्या पारिणामिकभाव अशुद्ध भी होता है?

उत्तर : हाँ, भेदरूप व्यवहार से या पर्यायार्थिक नय से दश भाव प्राणों वाला अशुद्ध जीवत्व तथा भव्यत्व, अभव्यत्व द्वय – ये तीनों भाव अशुद्ध कहे जाते हैं, इन तीनों में मोक्ष होने की योग्यतारूप भव्यत्व लक्षण पारिणामिकभाव है। सिद्ध भगवान के व्यवहारनय का विषयभूत दश प्राणरूप जीवत्व तो है ही नहीं, भव्यत्व भाव भी नहीं है। उनके तो निश्चय से मात्र चेतना लक्षण वाला अभेद जीवत्वभाव है।

सभी संसारी प्राणियों को द्रव्यदृष्टि से या शुद्धनय से देखें तो दश अशुद्ध भाव प्राण नहीं हैं। भव्यत्व, अभव्यत्व को भी भेदरूप व्यवहार मानकर अशुद्ध पारिणामिक कहा है। इनका भी सिद्ध दशा में एवं शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय भूत आत्मद्रव्य में अभाव है।

आत्मा का सच्चा प्राण और सच्चा जीवन तो शुद्ध चेतना है। दश प्राण तो व्यवहार से कहे हैं, किन्तु वह आत्मा का परमार्थ जीवन नहीं है; क्योंकि उनके

बिना भी आत्मा जीवित रह सकता है। देखो, सिद्धों के पूर्व संसार दशा में दश प्राण थे। किन्तु अभी सिद्ध दशा में तो वे सर्वथा ही नहीं हैं। द्रव्य व गुणों में तो पहले से ही नहीं थे, अब तो पर्याय में भी उनका अभाव है। अहो! भगवान सर्वज्ञदेव द्वारा कहा गया तत्व परम अलौकिक है, भाई! द्रव्य-पर्याय का और पाँचों भावों का स्वरूप समझाकर मोक्ष का उपाय अर्थात् मोक्ष कैसे सधे - यह आचार्यदेव ने बताया है।

अब कहते हैं कि - यहाँ कालादि कहकर पाँचों लब्धियों की बात की है, अकेली काललब्धि की बात नहीं समझना। काललब्धि, पुरुषार्थ, स्वभाव, भवितव्यता और उसी समय निमित्त रूप कर्म का उपशमादि - इस प्रकार पाँचों समवाय एक साथ ही होते हैं।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो कलश टीका (चौथे कलश) में ऐसा क्यों कहा कि सम्यक्त्व यत्नसाध्य नहीं, सहजसाध्य है?

उत्तर : हाँ, वहाँ काललब्धि की मुख्यता से यह बात की है कि - 'समकित की पर्याय भी अपनी सहज ही है।' बाकी चार समवाय भी उसी समय - एक ही समय में विद्यमान होते हैं। कई जगह पुरुषार्थ की मुख्यता से बात कही जाती है। वहाँ सम्यक्त्व पुरुषार्थ से हुआ है - ऐसा कहा जाता है। यह तो विवक्षा भेद हैं, वस्तुतः तो कार्य के काल में पाँचों समवाय एक साथ ही होते हैं।

आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु अतीन्द्रिय ज्ञान व आनन्द का रसकन्द है। अहाहा···! प्रभु आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। इसके सिवाय तीन लोक व तीन काल में आनन्द रूप वस्तु कोई नहीं है। परन्तु अज्ञानी जीव स्वयं अपने इस आनन्द स्वभाव को नहीं जानता-पहिचानता। वह तो मात्र पर्याय की प्रशंसा में ही मग्न रहता है। उसी में सुख मानता है।

पहले अनादि से मोहकर्म के वश परिणमन करने से जीवों को अपने स्वरूप का भान न होने से उनके सम्यक्त्वादि गुणों का घात होता था। अज्ञान दशा में मिथ्यात्वादि सर्वघाती व देशघाती कर्म उसके सम्यक्त्वादि गुणों का घात करने में निमित्त होते थे; किन्तु अब सद्गुरुओं के उपदेश का निमित्त पाकर जब शुद्धपारिणामिकरूप परमस्वभावभाव के सन्मुख होकर उसी रूप परिणमित

होता है, तब मोक्ष के कारण रूप – औपशमिकादि भाव प्रगट होते हैं। उसे पुरुषार्थ, स्वकाल, कर्म का उपशम आदि पाँचों ही लब्धियाँ हो जाती हैं तथा यही भव्यत्व शक्ति की अभिव्यक्ति है, भव्यत्व तो उस जीव में पहले से ही था, परन्तु जब निजस्वभाव भाव का भान हुआ, तब वह पाकरूप होकर परिणमित होता है। **मोक्ष की जो योग्यता थी, वह तब कार्यरूप में प्रगट होने लगती है और अल्पकाल में मोक्षदशा प्रगट हो जावेगी।**

अहो! यह तो कोई अद्भुत अलौकिक बात है।

नियमसार गाथा १५७ में भी आया है कि जिसप्रकार किसी दरिद्री को भाग्यवश करोड़ों की निधि मिल जाये तो वह अपने देश में जाकर उसे गुप्त रूप से अकेला ही भोगता है; उसीप्रकार आचार्य कहते हैं कि हे भाई! तुझे अद्भुत ज्ञाननिधि प्राप्त हुई है तो अब तुझे स्वरूपगुप्त होकर भोगना चाहिए। उसे विवाद का मुद्दा बनाकर किसी के साथ वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। जगत में नानाप्रकार के जीव हैं, उनके साथ वाद-विवाद में नहीं उलझना चाहिए; क्योंकि वाद-विवाद से आत्मतत्व जैसा सूक्ष्मतत्व किसी की समझ में नहीं आ सकता।

नियमसार की ही गाथा १५६ में यह बात बहुत स्पष्ट रूप से कही है—

"णाणा जीवा णाणा कम्मं णाणा विहं हवे लद्धी ।
तम्हा वयण विवादं, सग पर समएहिं वज्जिज्जो ॥"

(जगत में नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, इसकारण स्व-समय व पर-समय के साथ, स्वधर्मियों व विधर्मियों के साथ वचन-विवाद वर्जनीय है।)

यहाँ कहते हैं कि – जब काललब्धि के वश भव्यत्वशक्ति की अभिव्यक्ति होती है, तब यह जीव तत्व सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण निज परमात्म द्रव्य के – सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान एवं अनुचरण रूप पर्याय से परिणमित होता है। अहा! जब मोक्षमार्ग की प्राप्ति का काल आता है तब इसकी दृष्टि सहज शुद्ध ज्ञानानन्दस्वभाव पर चली जाती है और तब उसे अंतरंग में सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

आत्मद्रव्य सहज एक शुद्ध परमपारिणामिक लक्षण सदा परमात्मस्वरूप चिन्मात्रवस्तु है। ऐसे निज परमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय से जीव के परिणमने को धर्म और मोक्ष का मार्ग कहा है।

देखो, देव-शास्त्र-गुरु का भेदरूप श्रद्धान वास्तविक समकित नहीं है। आत्मज्ञान बिना मात्र शास्त्र का ज्ञान वस्तुतः सम्यग्ज्ञान नहीं है, किन्तु अपने ही अन्दर में जो स्वयं सदैव शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु कारणपरमात्मा विराज रहा है, उसका सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप पर्याय में परिणमने का नाम - सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र है और यही सत्यार्थ मोक्षमार्ग है।

प्रश्न : आत्मा यदि कारणपरमात्मा है तो उसका कार्य क्या? कारण के साथ कार्य का संबंध है, यदि कार्य ही नहीं तो वह कारण किसका कहा जाय ?

उत्तर : भाई! कारणपरमात्मा तो अन्दर में त्रिकाल एक ज्ञायकभावपने विराज रहा है; किन्तु इस कारण परमात्मा को जब वह अन्तर्मुखी होकर प्रतीति में लेवे तब 'मैं कारण परमात्मा हूँ' ऐसा भान हो। प्रतीति में आये बिना मात्र स्वभाव से तो सभी कारण परमात्मा हैं। स्वभाव मात्र होने से कुछ सिद्धि नहीं होती। जिसको भगवान पूर्णानन्दस्वरूप निज परमात्मद्रव्य का सम्यक्श्रद्धान होता है, उसको "मैं पने" कारणपरमात्मा का स्वरूप भासित होता है तथा उसी के कार्य परमात्मारूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

यह तो समयसार की १७-१८वीं गाथा में भी आ गया है कि - आबाल-गोपाल - सभी आत्माओं को उनकी वर्तमान ज्ञानपर्याय में सामान्यपने तो निज परमात्मद्रव्य ही भासता है; परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि पूर्णानन्दस्वरूप निजात्मद्रव्य पर नहीं है, ज्ञान की स्व-पर प्रकाशक स्वभावशक्ति होने से सम्पूर्ण द्रव्य अपने ज्ञान में सामान्यपने ज्ञात होता है, परन्तु अज्ञानी जीव की दृष्टि 'स्व' पर नहीं है, पर के ऊपर ही है। पर्याय व राग पर है, इस कारण सामान्यतया पर के साथ जो 'स्व' ज्ञान में आता भी है, उस पर उसे आदरभाव, बहुमान नहीं आता, निजस्वभाव की वह उपेक्षा करता है।

कलश टीका में आया है कि - जिसप्रकार तिजोड़ी में या डिब्बे में रखी हुई कोई निधि अन्दर तो प्रगट ही है, उसीतरह कर्मों से आच्छादित आत्मा

अन्दर तो प्रगट ही है, किन्तु कर्म संयोग से – ढँका होने से संसार में जन्म-मरण कर रहा है। यह भ्रान्ति परमगुरु श्री तीर्थंकरों के उपदेश सुनने से मिट सकती है। कर्म-संयोगों से भिन्न शुद्ध जीवस्वरूप का जो अनुभव होता है, वह सम्यक्त्व है। मात्र एक समय की पर्याय और राग जितना-आत्मा को मानने से जन्म-मरण हो रहा है; क्योंकि निज परमात्मद्रव्य के सन्मुख होकर उसने अपने स्वरूप को स्वीकार नहीं किया, बल्कि स्वभाव से विमुख रहकर राग और वर्तमान पर्याय मात्र अपने को स्वीकार किया है। ऐसा करने वाला जीव संसार में ही जन्म-मरण करता रहता है।

भले ही ११ अंग व ९ पूर्व का ज्ञान हो, ज्ञान का ऐसा क्षयोपशम होने पर भी वह क्षयोपशम में संतुष्ट होकर अटक गया है; अतः उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। अनंतकाल से आज तक इस अज्ञानी ने स्वभाव की दृष्टि ही नहीं की है।

यहाँ कहते हैं कि अपना आत्मद्रव्य त्रिकाल आनंदस्वरूप है, जो उसके श्रद्धान-ज्ञान व आचरणरूप पर्याय में परिणमन करता है, वह उसकी भव्यत्व शक्ति की प्रगटता है, और यही धर्म है। यदि अन्दर में ऐसी शक्ति (योग्यता) न हो तो पर्याय में प्रगट कहाँ से हो? भाई! तू एक बार अपने स्व-द्रव्य को देखने की भावना तो कर! सहज शुद्ध चिदानन्दमय परमात्मद्रव्य की प्रतीति होकर निराकुल सुख की प्राप्ति होगी।

यहाँ 'कालादि लब्धियों के वशीभूत होने पर भव्यत्वशक्ति प्रगट होती है" – ऐसा जो कहा, उसका अर्थ मात्र काल नहीं लेना; किन्तु पाँचों समवाय एक साथ ही होते हैं – ऐसा यथार्थ समझना।

अहा! जब मोक्षमार्ग की प्राप्ति का काल होता है तब —

१. चिदानंदघन स्वभाव पर जो दृष्टि जाती है, वह प्रथम स्वभाव नामक समवाय है।

२. चिदानंदघन स्वभावी आत्मा के ऊपर जो श्रद्धा हुई, वह पुरुषार्थ नामक समवाय है।

३. उसी समय यह निर्मल पर्याय होने का ज्ञान हुआ वह काल लब्धि है।

४. जो निर्मल भाव उस काल में होने वाला था, वही हुआ, यह भवितव्य है। तथा —

५. तभी यानी उसी समय जो प्रतिकूल निमित्तों का अभाव एवं अनुकूल परद्रव्यों का संयोग हुआ - यह निमित्त हुआ।

इसप्रकार पाँचों समवाय एक साथ होते हैं।

वस्तुतः जिस द्रव्य की जो पर्याय होनी हो, उस काल में वही होती है। सम्यग्दर्शन की पर्याय भी निज जन्मक्षण में उत्पन्न होती है। उस पर्याय की उत्पत्ति का वह नियत काल है। प्रवचनसार की १०२वीं गाथा में भी पर्याय के उत्पन्न होने के जन्मक्षण की बात आई है।

देखो, स्वभाववान वस्तु लक्ष्य है और शुद्धस्वभावभाव लक्षण है।

भगवान आत्मा चिदानंद प्रभु है, उसके ऊपर - पर्याय में शुभाशुभ भावरूप से जो विकाररूप छाल है, उसे यदि लक्ष्य में न लें तो अन्दर में अकेला ज्ञानानंद स्वरूप अमृत रस का पिण्ड है। ऐसा परमात्मस्वरूप समझ में कैसे न आवे?

प्रश्न : व्यवहार से ही तो निश्चय होता है और शुभभावों को शास्त्र में व्यवहार से धर्म कहा है। अतः दया, दान, व्रत, भक्ति से धर्म मानने में क्या बाधा है?

उत्तर : भाई! शुभराग अर्थात् मंदराग का परिणाम धर्म नहीं तथा धर्म का कारण भी नहीं है।

प्रश्न : शास्त्रों में शुभराग को भी तो परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है न?

उत्तर : हाँ, कहा है, परन्तु उसका अर्थ या अभिप्राय तो यह है कि जिसको चिदानंदघन सहज शुद्धपारिणामिकभाव लक्षण - निज परमात्मद्रव्य का अन्तर में भान वर्त रहा है, उस धर्मी जीव को शुभ के काल में अशुभ (मिथ्यात्वादि) टल गये हैं और क्रम-क्रम से बढ़ते अंतःपुरुषार्थ और वीतरागता के कारण वह शुभ को भी टाल देता है। इस अपेक्षा से उसके शुभ राग को मोक्ष का परम्परा कारण कहा है। वस्तुतः तो उसके - क्रम से बढ़ती हुई वीतरागता ही मोक्ष का परम्परा कारण है। फिर भी उस समय क्रमशः अभावरूप होते हुये शुभराग का ज्ञान कराने के लिये उपचार से उस शुभराग को भी मोक्ष का कारण कहा जाता है।

अंतरग में भगवान आत्मा सदा परमात्मस्वरूप विराजता है, उसके सन्मुख होकर उसकी प्रतीति करने का नाम सम्यग्दर्शन है। वर्तमान ज्ञान की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य को ज्ञेय बनाकर 'मैं यह शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन परमज्योति सुखधाम हूँ' - ऐसी प्रतीति करने का नाम अन्त:श्रद्धान है। वर्तमान ज्ञान की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य को ज्ञेय बनाकर 'मैं यह हूँ' - ऐसी प्रतीति करने का नाम अन्त:श्रद्धान है, सम्यग्दर्शन है। तथा वर्तमान ज्ञान की पर्याय में त्रिकाली द्रव्य को ज्ञेय बनाते समय निज परमात्मद्रव्य का जो परिज्ञान हुआ, उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। तथा निजात्मद्रव्य के अनुचरण का नाम सम्यक्चारित्र है। महाव्रतादि वास्तविक चारित्र नहीं, क्योंकि ये तो राग रूप हैं; भले ही इन्हें व्यवहार से चारित्र कहा जाता है, परन्तु शुभ राग रूप होने से ये चारित्र नाम नहीं पाते। वस्तुत: तो चिदानन्दघनस्वरूप आत्मा में रमने का नाम चारित्र है।

भाई! यह बात वर्तमान में अति दुर्लभ हो गई है - इस कारण समझने में कठिन लग सकती है, परन्तु परमसत्य यही है। दो सौ वर्ष पूर्व भी संभवत: यही स्थिति थी। तभी तो उस समय हुये अध्यात्मरसिक पण्डित दीपचंदजी को अध्यात्म पंचसंग्रह में यह लिखना पड़ा कि -("बाहर देखता हूँ तो वीतराग के आगम प्रमाण में किसी की श्रद्धा हो - ऐसा कोई श्रोता दिखाई नहीं देता। आगम के सिद्धान्तों का स्पष्ट रहस्य कहने वाले वक्ता भी देखने में नहीं आते तथा किसी के सामने यह अध्यात्म की बात, जैन दर्शन की - मौलिक सिद्धान्तों की चर्चा करें तो उसे कोई मानता नहीं है, इसलिये ये तत्व की बातें लिखकर रखे जाता हूँ।")

वर्तमान में तो - इस बात को स्वीकार करनेवाले एवं तत्वज्ञान में रुचि रखने वाले जीव बहुत दिखाई देते हैं।

भगवान आत्मा त्रिकाली परमस्वभावभावरूप परमपारिणामिक भावलक्षण निजपरमात्म द्रव्य है, उसके श्रद्धान्, ज्ञान और चारित्र की जो निर्मल दशा प्रगट होती है, उसे उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक - इस प्रकार तीन भावमय कहा जाता है।

महाविदेह क्षेत्र में इस समय साक्षात् सर्वज्ञ भगवान सीमंधर स्वामी विराज रहे हैं। वे त्रिकाल ज्ञानी हैं और स्वयं तीर्थंकर पद में विराजते हैं। दूसरे लाखों

केवली भी वहाँ उनके समोशरण में विराजते हैं। वहाँ उनकी दिव्यध्वनि में यह वात आई है कि – 'आगम भापा में जिन्हें उपशम आदि भावत्रय कहा जाता है, वे मोक्ष के कारण हैं तथा उदयभाव मोक्ष का कारण नहीं है।'

तात्पर्य यह है कि – दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि रूप जो शुभवृत्ति उठती है; वह सव राग है, विकार है तथा मोक्ष के सुख का कारण नहीं है। भावपाहुड़ की गाथा ८३ में तो यहाँ तक कहा दिया है कि – व्रत, पूजा, भक्ति आदि जो शुभभावरूप क्रियायें हैं, ये जैनधर्म ही नहीं हैं, क्योंकि ये सव तो राग की क्रियायें हैं। इनसे तो पुण्य होता है, धर्म नहीं। जैनधर्म तो वीतरागतामय होता है।

वास्तव में शुद्धपारिणामिक भावविषयक – भावनारूप औपशमिक आदि तीन भाव हैं, वे तीनों रागादि से रहित होने से, शुद्ध उपादान कारणभूत होने से मोक्ष के कारण हैं। चाहे उपशम भाव हो, क्षयोपशमभाव हो या क्षायिक भाव हो – ये तीनों भाव राग के विकल्प से रहित शुद्ध हैं। इसकारण इन्हें मोक्षमार्गरूप भावत्रय कहा जाता है।

यद्यपि भगवान को मोक्षदाता कहा जाता है, सो इस कथन की अनेक अपेक्षायें हैं। एक निश्चय से तो यह कि – भगवान ने स्वयं अपने में अपने पुरुपार्थ से निजानंद लीन होकर मोक्षदशा प्रगट की है और स्वयं को ही वह प्रदान कर दी है – इसलिये उसे मोक्षदातार कह सकते हैं। दूसरी अपेक्षा व्यवहार से किसी जीव ने वीतराग-सर्वज्ञदेव के दर्शन करके व उनकी वाणी सुनकर स्वयं अन्तर्लीन होकर ज्ञान-दर्शन प्रगट किये तो उसमें भगवान निमित्त हैं; अतः निमित्त की अपेक्षा भगवान को उपचार से मोक्षदाता कहा जाता है।

देखो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम-शुद्धात्माभिमुख परिणाम हैं, वे परिणाम राग से व पर से विमुख और स्वभाव की सन्मुखता के परिणाम हैं। उन्हें आगम भापा में उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भाव कहते हैं। ये शुद्धात्माभिमुख परिणाम हैं, अतः इन्हें मोक्षमार्ग कहा गया है।

परमभावस्वरूप त्रिकाली निज परमात्मद्रव्य के सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान-अनुचरणरूप परिणाम को 'शुद्धोपयोग' कहा जाता है। वह शुद्धोपयोग स्वाभिमुख

परिणाम है। पुण्य व पाप के जो भाव होते हैं, वह तो अशुद्धोपयोग है तथा वह परसन्मुखता का परिणाम है। आत्मा की सन्मुखता का जो स्वाभिमुख परिणाम है, उसे शुद्धोपयोग कहते हैं और वह मोक्ष का मार्ग है। - ऐसा कहते ही व्यवहार रूप शुभोपयोग मोक्षमार्ग नहीं है - यह स्वत: स्पष्ट हो ही जाता है।

भगवान आत्मा पूर्णानंद का नाथ शुद्ध चैतन्य अनंतगुण निधान प्रभु एक समय में परिपूर्ण है। ऐसे शुद्धात्मा के सन्मुख हुये परिणाम को शुद्धोपयोग कहते हैं और उसे ही मोक्षमार्ग कहा है। तथा इसे ही शुद्धात्मभावना, शुद्धरत्नत्रय, वीतरागता, स्वच्छता, पवित्रता, प्रभुता, साम्यभाव आदि कहा है।

भाई! धर्म तो एक यह शुद्धात्मसन्मुख परिणाम ही है, जो अनादि-अनन्त सदा एकरूप परमस्वभावभाव के आश्रय से प्रगट हुई वर्तमान पर्याय है। वस्तु में एक साथ द्रव्य व पर्यायरूप दोनों भाव रहते हैं - एक त्रिकाल भाव एवं दूसरा वर्तमान पर्यायभाव है। वस्तु कभी पर्याय बिना नहीं रहती। प्रत्येक समय वस्तु की नई-नई पर्याय परिणमती रहती है। उन पर्यायों में जो स्वभावसन्मुख ढलती हैं, उन्हें मोक्षमार्ग कहते हैं तथा बहिर्मुख-परसन्मुख पर्याय बंध का कारण है। इसप्रकार बंध-मोक्ष का खेल हमारी पर्याय में ही होता है, अन्य कोई बंध-मोक्ष का कारण नहीं है। अपने परमस्वभाव में एकाग्र होकर आनन्द का अनुभव करने वाली, ध्रुव में ढली हुई जो दशा होती है, वह मोक्षमार्ग है। ध्रुव सामान्य को ध्येय बनाने से जो दशा प्रगट होती है, वह नवीन है। ध्रुव नया प्रगट नहीं हुआ, किन्तु दशा नई प्रगट हुई है तथा उसी समय मिथ्यात्व आदि पुरानी अवस्था का नाश हुआ है। नाश होना और उत्पन्न होना - ये दोनों पर्याय के धर्म हैं एवं उसीसमय स्थिर रहने वाला ध्रुव द्रव्य का स्वरूप है। इसप्रकार वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है। अहो! द्रव्य व पर्याय का ऐसा अलौकिक सत्य स्वरूप सर्वज्ञ भगवान ने साक्षात् देखकर अपनी दिव्यदेशना में कहा है। स्वाभिमुख स्वाश्रित परिणाम में व्यवहार के राग की उत्पत्ति ही नहीं होती; इसलिये वे रागादिभाव मोक्षमार्ग नहीं हैं। जो स्वाश्रित निर्मल रत्नत्रयरूप भाव हैं, वे ही मोक्षमार्ग हैं और वही धर्म है। इसे ही आगम भाषा में उपशमादि भावत्रय कहा जाता है।

इसप्रकार पाँच भावों में से मोक्ष के कारण कौन हैं - यह बताया है, उनके अनेक नामों की पहचान कराई है।

अब कहते हैं - कि शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण त्रिकाली धुव्रद्रव्य से वे मोक्षमार्ग की पर्यायें कदाचित् भिन्न हैं, जिन परिणामों को आगम भाषा में उपशम, क्षयोपशम आदि भावत्रय रूप कहा और अध्यात्म भाषा में जिसको शुद्धात्माभिमुख परिणाम व शुद्धोपयोग परिणाम कहा।

देखो, द्रव्यसंग्रह में मोक्षमार्ग के १६ नाम दिये हैं। ये सभी स्व-स्वभावमय चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मद्रव्य के आश्रय से प्रगट हुये शुद्धोपयोगरूप परिणाम के नामान्तर हैं। यहाँ कहते हैं कि - वे पारिणामिकभावलक्षण शुद्ध आत्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं।

रागादि पुण्य-पाप के भाव तो त्रिकाली शुद्ध आत्मद्रव्य से भिन्न ही हैं; क्योंकि रागादि दोष हैं, उदयभाव हैं तथा बंध के कारण हैं; जबकि भगवान आत्मा सदा निर्दोष, निरपेक्ष और अबंध तत्व है। भाई! ये व्यवहाररत्नत्रय के भाव, देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा, शास्त्र का ज्ञान एवं पंचमहाव्रत के परिणाम जो कि मंदकषाय के परिणाम हैं, वे कर्म के उदय से हुये - औदयिक भाव हैं। वे औदयिक भाव बंध के कारण हैं, इस कारण वे परिणाम शुद्ध आत्मद्रव्य से भिन्न हैं।

यहाँ तो इससे भी विशेष बात यह कह रहे हैं कि पूर्णानन्दमय परमानंदमय जो मोक्ष है, उसका उपाय जो कि शुद्धोपयोगरूप मोक्षमार्ग हैं, वह भाव भी एक समय की पर्यायरूप है; अतः वह भाव भी शुद्धात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है।

कर्मोदय के निमित्त से जो भाव होते हैं वे विकार हैं, बंध के कारण हैं। उपशम भाव कर्मों के अनुदय की कारणरूप दशा है। वह दशा पवित्र है; किन्तु अन्दर सत्ता में कर्म विद्यमान है, इसलिये उसे उपशमभाव कहते है। इन उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि के कथन में तो कर्म की अपेक्षा होती है; किन्तु त्रिकाली स्वभावभाव में कोई भी अपेक्षा लागू नहीं पड़ती; अतः वह चिदानन्द सहजानन्द त्रिकाली- चैतन्यमात्र द्रव्यस्वभाव परमनिरपेक्ष तत्व है।

अहा! भाई, सहजानन्द मूर्ति, अकेले ज्ञान व आनंद का दल, सदा एकरूप विद्यमान, त्रिकाली ध्रुव आत्मवस्तु सम्यग्दर्शन का विषय है।

प्रवचनसार में कहा है कि – ज्ञेयतत्व की और ज्ञानतत्व की यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है, वह सम्यग्दर्शन पर्याय है। अहा! ऐसा सम्यग्दर्शन जो इस जीव ने अनन्तकाल में प्रगट नहीं किया और जो मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है, वह त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायक द्रव्य से भिन्न है।

समयसार के संवर अधिकार में आया है कि – पुण्य-पाप के भाव और व्यवहाररत्नत्रय के जितने विकल्प हैं, वे सब रागादि त्रिकाली द्रव्य से भिन्न हैं। भाव तो भिन्न हैं ही, राग के प्रदेश भी भिन्न हैं – ऐसा वहाँ कहा है। अकेले आनन्द के दल प्रभु आत्मा में से विकार उत्पन्न नहीं होता। अत: विकार का क्षेत्र त्रिकाली द्रव्य के क्षेत्र से भिन्न है। अनंत गुणधाम प्रभु आत्मा त्रिकाल शुद्ध असंख्यात प्रदेशी वस्तु है। उसकी पर्याय में जो दया, दान आदि के विकल्प उठते हैं, वह त्रिकाली स्वभाव से भिन्न हैं ही, साथ ही क्षेत्र से भी भिन्न तो हैं। दोनों को भिन्न-भिन्न वस्तु कहा है। वस्तुत: एक वस्तु की अन्य वस्तु नहीं है। चिद्विलास में भी ऐसा कहा है कि – पर्याय के कारण पर्याय होती है, द्रव्य-गुण के कारण नहीं।

इस सिद्धान्तानुसार मोक्षमार्ग की जो पर्याय है, उस पर्याय का कर्ता पर्याय, पर्याय का कर्म पर्याय, पर्याय का संप्रदान, अपादान व अधिकरण भी पर्याय ही है। पर्याय एक समय का सहज सत् है।

इस प्रकार वीतराग का मार्ग वीरों का मार्ग है, कायरों का नहीं।

देखो, आत्मभान होने के पश्चात् भी ज्ञानी को शुभभाव के अतिरिक्त अशुभभाव भी आते हैं। उसको कदाचित् आर्त-रौद्र-ध्यान का तथा विषय-भोगों का भाव भी होता है। कमजोरी के कारण ये भाव होते हैं, परन्तु ज्ञानी को इन भावों के होने में उमंग नहीं होती, उत्साह नहीं आता, मजा नहीं आता। वह यह तो जानता है कि – मजा तो मेरे स्वरूप में ही है, अन्यत्र कहीं भी मजा है ही नहीं। यहाँ कहते हैं कि – अपूर्व आनन्द का स्वाद देने वाली मोक्षमार्ग की पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। इतना ही नहीं, मोक्ष की पर्याय भी द्रव्य से कथंचित् भिन्न है।

त्रिलोकीनाथ अरहंत परमेश्वर कहते हैं कि - व्यवहाररत्नत्रय तो कथन मात्र मोक्षमार्ग है। ये तो भगवान आत्मा से भिन्न हैं ही, किन्तु त्रिकाली ध्रुव आत्मा के आलम्बन से जो अन्तर में सत्यार्थ मोक्ष का मार्ग प्रगट हुआ, वह मोक्षमार्ग की पर्याय भी त्रिकाली शुद्धपारिणामिकभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है; क्योंकि द्रव्य त्रिकाली है और पर्याय का काल तो एक समय का है।

भगवान आत्मा शुद्धपारिणमिकभाव लक्षण वस्तु पूर्ण एक चैतन्यमय है, वह त्रिकालभावरूप है, भावनारूप नहीं है; जबकि उसके आश्रय से जो मोक्ष का मार्ग प्रगट हुआ है, वह भावनारूप है, त्रिकाल भावरूप नहीं।

जो अज्ञानी मूढ़ जीव स्त्री-पुत्र, बाग-बगीचों में अपना कर्तृत्व एवं ममत्व स्थापित किये बैठे हैं, उनकी तो बात ही क्या करें? वे तो मोक्षमार्ग से कोसों दूर हैं। यहाँ तो यह कह रहे हैं कि - मोक्षमार्ग की पर्याय वर्तमान भावनारूप होने से त्रिकाली ध्रुव निज परमात्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है। - ऐसा भेद जिसे भासित नहीं हुआ, वे भी मोक्ष के मार्ग से दूर हैं।

बारह भावनायें जो कहीं हैं, उनमें प्रथम तो ये सब भावनायें विकल्परूप होतीं हैं, पश्चात् उनका व्यय होकर निर्विकल्प पर्यायें होतीं हैं। ये निर्मल-निर्विकल्प पर्यायें, जो अन्दर में प्रगट हुईं, वे भावनारूप हैं और त्रिकाली एकरूप परमात्मद्रव्यभावरूप है। शुद्धपारिणामिकभाव त्रिकाली स्वभाव परमानन्दमय प्रभु भावनारूप नहीं है। उसके आश्रय से प्रगट हुई मोक्ष की कारणरूप दशा भावनारूप है।

भाई! मोक्षमार्ग की ये पर्यायें, जो कि पवित्र हैं, आनन्दरूप हैं, अबंध हैं; वे भी जब त्रिकाली शुद्धद्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं, तो फिर बंधरूप - दया दानादि या रागादि की शुभाशुभ पर्यायों की तो बात ही क्या करें? क्या राग करते-करते भी वीतरागता प्रगट होना संभव है? नहीं, कदापि ऐसा नहीं होता।

अहा! मोक्ष के कारणरूप जो अबंध परिणाम हैं, वे भावनारूप हैं तथा त्रिकाली शुद्धद्रव्यस्वभाव भावनारूप नहीं है। अहो! ऐसी शुद्ध तत्वदृष्टि करके चक्रवर्ती व तीर्थंकरों के पुत्र तथा लकड़हारों जैसे निर्धनों के आठ-आठ वर्ष के बालक केवलज्ञान प्रगट करके अल्पकाल में मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं।

देखो भाई! मोक्षमार्ग में क्षायिकादि भावरूप जो निर्मल पर्यायें हुईं, वे पर्यायें त्रिकाली द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। यदि दोनों सर्वथा अभिन्न – एक हों तो द्रव्य व पर्याय – ऐसे दो धर्मों की सिद्धि ही नहीं होगी तथा एक (पर्याय) का व्यय होने पर सम्पूर्ण द्रव्य का ही नाश हो जायेगा।

देखो, पूर्ण शुद्ध ज्ञान और आनन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष की पर्याय प्रगट होने पर मोक्षमार्ग की भावनारूप पर्याय का व्यय होता है। उस समय सम्पूर्ण आत्मद्रव्य का नाश नहीं हो जाता; क्योंकि वह पर्याय द्रव्य के साथ सर्वथा अभिन्न नहीं है, कथंचित् भिन्न है।

भाई! केवलज्ञान की पर्याय भी नाशवान है। नियमसार के शुद्धभाव अधिकार में तो नौ ही तत्वों को नाशवान कहा है; क्योंकि प्रत्येक पर्याय की उम्र ही एक समय की है तथा नित्यानन्द प्रभु निज परमात्मद्रव्य शुद्ध पारिणामिकभावरूप वस्तु अविनाशी शाश्वत वस्तु है। इसप्रकार दोनों के बीच कथंचित् भिन्नता है। अनादि से वस्तु की स्थिति ऐसी ही है और अनन्त काल तक ऐसी ही रहेगी।

'पंचास्तिकाय' ग्रंथ में तो ऐसा कहा है कि – पर्याय रहित द्रव्य नहीं और द्रव्य रहित पर्याय नहीं। एक ओर सम्पूर्ण द्रव्य यानि द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु का अस्तित्व सिद्ध करना है और दूसरी ओर अनादिकालीन पर्यायमूढ़ जीव को द्रव्य व पर्याय का परस्पर भेदज्ञान कराना है। इस कारण – पयार्यदृष्टि छुड़ाने के लिये कहा है कि – पर्याय त्रिकाली द्रव्य से कथंचित् भिन्न है। यदि दोनों सर्वथा एकमेक हों तो पर्याय का नाश होने पर द्रंव्य का भी नाश हो जाये; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये त्रिकाली भाव से वह भावनारूप पर्याय कथंचित् भिन्न है।

भाई! ये तो अन्तरंग की बातें हैं। यदि तुझे सत् की शोध करना होवे तो वह सत् शाश्वत अंदर में है। उस सत् को शोधने-खोजनेवाली पर्याय भी उस सत् से कथंचित् भिन्न है। जिसका पर्याय में अहं भाव है, वह सत् उसके हाथ नहीं आता। भाई! तुझे किसमें अहंपना करना है? किसे पर्याय से अधिकपने मानना है? मैं पर्याय से अधिक अर्थात् भिन्न हूँ – ऐसा मानने पर अन्दर में जो द्रव्यस्वभाव पर्याय से भिन्न है, अधिक है; उसका अनुभव होता है। समयसार गाथा ३१ में आता है कि — 'णाण सहावाधियं मुणदि आदं।'

परमस्वभावभाव ज्ञायकभाव राग व एक समय की पर्याय से भिन्न है। यहाँ भी यही कह रहे हैं कि — ध्रुव स्वभाव के लक्ष्य से प्रगट हुआ जो सत्यार्थ मोक्षमार्ग है, वह भावनारूप है और वह त्रिकाली भाव से भिन्न है। भावनारूप मोक्षमार्ग और त्रिकाली परमभाव - दोनों वस्तुयें सर्वथा एक नहीं हैं। यदि वे दोनों वस्तुयें सर्वथा एक हों तो भावनारूप मोक्षमार्ग का व्यय होकर मोक्ष हो तब त्रिकाली भाव का भी नाश होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

(यद्यपि बात सूक्ष्म है, परन्तु समझना भी अति आवश्यक है, इसके समझे बिना ही अनादि काल से हम दु:खी हैं, भले ही अभी हम पशु-पक्षियों और नारकियों की अपेक्षा सुखी हों, परन्तु क्षणभर में यह देह छूट कर पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों की योनियों में जाकर जन्म ले सकते हैं न? हमें पता ही नहीं है कि अभी तक हमारी क्या-क्या दुर्दशा हुई और यदि यही हाल रहा तो फिर चौरासी के चक्कर में ही पड़ने वाले हैं। अत: भाई! इस सुअवसर में स्वरूप की समझ कर ले। अन्यथा कौआ, कबूतर, कुत्ता और न जाने किन-किन योनियों में जन्म लेकर संसार-सागर में खो जाओगे।)

यहाँ भावनारूप पर्याय को मोक्ष की कारणभूत पर्याय कहा है। अन्यत्र भी ऐसा कहा है कि - मोक्ष की पर्याय मोक्ष की कारणभूत पर्याय से प्रगट नहीं होती। वास्तव में उस समय की केवलज्ञान और मोक्ष की दशा अपने षट् कारणों के परिणमन से स्वतंत्र उत्पन्न होती है। पूर्व की मोक्षमार्ग की पर्याय की उसे अपेक्षा नहीं है। यद्यपि मोक्ष पर्याय के पूर्व मोक्षमार्ग की पर्याय होना अनिवार्य है, तथापि मोक्ष की पर्याय अपने समय की स्वतंत्र सत् स्वरूप है। मोक्षमार्ग की पर्याय के कारण मोक्ष की पर्याय नहीं होती।

यहाँ ऐसा समझना कि - मोक्ष होने के पूर्व मोक्षमार्ग की जो पर्याय थी, वह पर्याय त्रिकाली वस्तु से एकमेक नहीं, किन्तु भिन्न है। यदि अभिन्न मानेंगे तो मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश होने पर शुद्ध पारिणामिक भाव भी नाश को प्राप्त होगा। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है; क्योंकि त्रिकाली वस्तु (द्रव्य) अविनाशी है। अहा! सत् एक सदृशरूप स्वभाव, अविरुद्ध स्वभाव त्रिकाल है, वह कहाँ जाए? उसका विनाश कैसे हो? द्रव्य का तो कभी विनाश होता ही नहीं है।

विसदृशपना और उत्पाद-व्यय तो पर्याय में होता है, द्रव्य की अवस्था मात्र में ही परिवर्तन होता है, यही द्रव्य का उत्पाद-व्यय है, वस्तु स्वयं तो उत्पाद-व्यय रहित त्रिकाल शाश्वत सत्पने विद्यमान रहने वाला पदार्थ है। इसी संदर्भ में आगे कहेंगे कि – मोक्ष की पर्यायरूप से आत्मद्रव्य उत्पन्न नहीं होता। मोक्षमार्ग की पर्याय के अभावपने अर्थात् मोक्षरूप से भी आत्मद्रव्य उत्पन्न नहीं होता।

अहा! मोक्षमार्ग की पर्याय भी नाशवंत है। प्रभु! तुझे किसे टिका कर रखना है? तू स्वयं तो नित्यानन्द प्रभु त्रिकाली सदैव टिका रहने वाला ही अमर तत्व है। अहा! अपने त्रिकाली स्वभाव पर तो दृष्टि डालता नहीं है और अनित्य (पर्याय) को ही स्थिर रखने का निरर्थक प्रयास करता है, यही इस अज्ञानी की मूढ़ता है।

भाई! आत्मा के अपने अन्दर के भावों की ही यह बात है। आत्मा में जो शुद्ध पारिणामिक भाव है, वह त्रिकाल परमभाव है, उसमें उत्पाद-व्यय नहीं होता तथा उसका कभी अभाव नहीं होता। आत्मा ऐसा शाश्वत ध्रुव एकरूप परमपारिणामिक भाव है। इसके सिवाय आत्मा के जो पर्यायरूप चार औदयिक आदि भाव हैं, वे उत्पाद-व्यय रूप हैं। अशुद्धता का व्यय होकर आंशिक शुद्धतारूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है तथा मोक्षमार्ग का व्यय होकर पूर्ण मोक्ष दशा प्रगट होती है। परन्तु परमभावरूप आत्मद्रव्य का व्यय भी नहीं होता और वह नवीन प्रगट भी नहीं होता।

इसप्रकार पलटती पर्याय और त्रिकाल स्थिर रहने वाला द्रव्य – ऐसा वस्तुस्वरूप है। द्रव्य अपेक्षा वस्तु अपरिणामी, अक्रिय है और पर्याय अपेक्षा से परिणमनशील सक्रिय है। सर्वज्ञदेव ने ऐसा द्रव्य-पर्यायरूप वस्तु का स्वरूप बताया है। सर्वज्ञदेव ने अपनी दिव्य ध्वनि में बताया है कि — द्रव्य पर्याय सर्वथा अभिन्न नहीं है, कथंचित् भिन्न है। सर्वथा भिन्न हो तो वस्तु अवस्था (पर्याय) रहित हो जाने से वस्तु ही नहीं रहेगी तथा सर्वथा अभिन्न होवे तो पर्याय का अभाव होने से द्रव्य का ही नाश हो जायेगा अर्थात् वस्तु ही नहीं रहेगी। इसलिये द्रव्य-पर्याय कथंचित भिन्न है – यही यथार्थ है।

शास्त्रों में "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्" कहा है अर्थात् स्थिरता तथा उत्पाद-व्यय अर्थात् बदलना-पलटना। स्थिर रहकर बदलना और बदलते हुये भी स्थिर रहना- ऐसा आश्चर्यकारक प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है। द्रव्य अविनाशी पर्याय विनाशी - इसप्रकार द्रव्य-पर्याय - दोनों सर्वथा एक नहीं हैं। त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के लक्ष्य से श्रद्धा-ज्ञान-रमणता रूप जो आत्मा की निर्मल दशा प्रगट होती है, वह यद्यपि मोक्षदशा का कारण है, किन्तु वह दशा स्वयं मोक्षदशा प्रगट होते ही व्यय हो जायेगी, और द्रव्य स्थिर रहकर त्रिकाल विद्यमान रहेगा। इसप्रकार द्रव्य व पर्याय - ऐसे वस्तु के दोनों अंशों (पहलुओं) में भिन्नता है। अहो! ऐसा वस्तुस्वरूप समझने पर अंशबुद्धि (पर्यायदृष्टि) टलकर द्रव्यदृष्टि होती है।

देखो, आत्मा में एक पर्याय अंश है, अज्ञान नष्ट होकर ज्ञान होना, अशुद्धता का अभाव होकर शुद्धता होना इत्यादि नवीन-नवीन कार्य पर्याय में ही होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि पर्याय का अस्तित्व ही न माने तो द्रव्य में नया कार्य तो कुछ होगा ही नहीं अर्थात् उसको अपने अज्ञान के कारण कभी संसार दशा का अभाव नहीं होगा। तथा यदि कोई अकेली पर्याय की ओर ही देखा करे और द्रव्य के शुद्धस्वभाव की ओर लक्ष्य न करे तो उसको भी अशुद्धता नष्ट होकर शुद्धता प्रगट नहीं होती। पर्याय की शुद्धता तो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य के आश्रय से होती है। द्रव्यस्वभाव में अन्तर्मुख - एकाग्र हुये बिना पर्याय की शुद्धता नहीं होती। यदि एकान्त से पर्याय को ही वस्तु मान ले तो पर्याय का व्यय होने पर ही वस्तु का नाश - अभाव हो जाता है, परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। तथा पर्याय के न मानने पर वस्तु को एकांततः नित्य कूटस्थ माने तो पर्यायरूप पलटन हुये बिना नया कार्य बनना संभव नहीं है। इसप्रकार वस्तु में द्रव्य-पर्याय - ऐसे दोनों अंश एक ही साथ रहते हैं और उन दोनों में कथंचित् भिन्नपना है - ऐसा स्याद्वाद मत है।

देखो, परद्रव्य तो आत्मा से सर्वथा भिन्न है। यह शरीर मन-वचन-काय आदि तो आत्मा से सर्वथा जुदे हैं। यहाँ तो यह कहते हैं कि - अपने में ही

जो द्रव्य व पर्यायों के अंश हैं, वे भी परस्पर कथंचित् भिन्न हैं। अहो! यह तो भेदज्ञान की चरम सीमा रूप सर्वोत्कृष्ट बात है।

अब कहते हैं कि – भगवान आत्मा नित्यानन्द सच्चिदानन्द प्रभु सदा एक ज्ञायकभावपने है, इसे ही शुद्धपारिणामिक भाव कहते हैं। यह पारिणामिक भाव मोक्ष का कारण नहीं है। इसे मोक्ष का कारण कहना व्यवहार है। वस्तुतः मोक्ष पर्याय का कारण शुद्ध द्रव्य नहीं है। जिसतरह द्रव्य त्रिकाली सत् है, उसीतरह पर्याय भी सहज सत् है, ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। चाहे राग परिणाम हो या वीतराग परिणाम हो, वे परिणाम अपने स्व-स्व काल में सहज सत् हैं। जहाँ वस्तु की इतनी स्वतंत्रता है, वहाँ व्यवहार से (राग से) निश्चय हो – यह बात ही कहाँ ठहरती है?

यद्यपि आजकल यह बात जोर-शोर से चलती है कि – व्यवहार से निश्चय होता है, परन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। दया, दान, भक्ति-पूजा आदि व्यवहार तो सब रागरूप क्रियायें हैं, ये सब औदयिक भाव हैं, बंध के कारण हैं। ये मोक्ष के कारण कैसे हो सकते हैं?

बापू! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु स्वयं सदा शान्त भाव से एवं आनन्दभाव से अन्तर में विराज रहा है, उसके लक्ष्य से स्वतंत्रपने अपने षट्कारक रूप परिणमन द्वारा निर्मल रत्नत्रय की पर्याय स्वयं ही परिणमती है। अहा! उस रत्नत्रय रूप पर्याय को रागरूप व्यवहाररत्नत्रय की अपेक्षा नहीं होती। व्यवहार रत्नत्रय की अपेक्षा बिना ही – निरपेक्षपने निश्चय मोक्षमार्ग की पर्याय अपने षट्कारकपने परिणमन करती हुई प्रगट होती है।

भाई! त्रिकाली शुद्ध आत्मा परिणमता नहीं है। समयसार गाथा २८० के भावार्थ में कहा है कि – "जब आत्मा ज्ञानी हुआ तब उसने वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि – आत्मा स्वयं तो शुद्ध ही है। द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है। पर्यायदृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से रागादिरूप परिणमता है। इसलिये अब ज्ञानी स्वयं उन भावों का कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही रहता है। अहा! सम्यग्दृष्टि उसे ही कहते हैं जो व्यवहाररत्नत्रय के राग का कर्ता व भोक्ता नहीं होता;

क्योंकि पर्याय से तो वह ज्ञानभाव से परिणम रहा है और द्रव्य तो अपरिणमन स्वरूप है।

अहाहा! अन्दर में जो चिद्घन ध्रुव आत्मा है, वह परिणमन रहित सदा एक रूप है। उसमें परिणमन होता ही नहीं है तथा उसमें बदलती हुई विकारी या निर्विकारी पर्याय एक समय की सत् स्वरूप है। आत्मा में जो ये रागादि विकारी परिणाम होते हैं, वे भी जड़ कर्मोदय की अपेक्षा बिना स्वतंत्रपने प्रगट होते हुये अपने षट्कारकरूप परिणमन करते हैं।

प्रश्न : यदि कर्मोदय से विकार होना नहीं मानेंगे तो क्या वह विकार आत्मा का स्वभाव नहीं हो जावेगा?

उत्तर : अरे भाई! कर्म तो बेचारे जड़ (अजीव) हैं, परद्रव्य हैं, ये तो आत्मा का स्पर्श ही नहीं करते। ऐसी स्थिति में परद्रव्य रूप कर्मो से स्वद्रव्य की विकारी पर्याय कैसे हो जायेगी?

'कर्म से विकार हुआ' - ऐसा कहने का प्रयोजन तो निमित्त प्रधान कथन का ज्ञान कराना मात्र है।

मिथ्यात्वादि भाव जो होते हैं, उन्हें जीव स्वतंत्रपने अपनी पर्याय में उत्पन्न करता है। त्रिकाली जीवद्रव्य इनका कारण नहीं है। परद्रव्यरूप कर्म का उदय भी इनका कारण नहीं है। इस मिथ्यात्व भाव का कर्ता मिथ्यात्वपर्याय है। मिथ्यात्व की पर्याय ही कर्ता, मिथ्यात्व की पर्याय ही उसका कर्म, मिथ्यात्व की पर्याय ही स्वयं साधन, मिथ्यात्व की पर्याय स्वयं सम्प्रदान, मिथ्यात्व में से ही मिथ्यात्व होता है, अतः वही अपादान, मिथ्यात्व के आधार से मिथ्यात्व हुआ अतः वही अधिकरण है। इसप्रकार मिथ्यात्व की विकारी पर्यायें ही कर्ता-कर्म आदि अपने षट्कारक से स्वतंत्रपने उत्पन्न होती हैं। इन्हें निमित्त की या कर्म के कारकों की कोई अपेक्षा नहीं है।

(देखो, जीव विकारी पर्याय को करे - ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, क्योंकि जीव में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो विकार को करे। आत्मा में शक्तियाँ तो अनंत हैं, परन्तु सभी शक्तियाँ निर्मल ही निर्मल हैं। विकार को करे - ऐसी कोई शक्ति नहीं। जो पर को या विकार को करे - ऐसा जीव का स्वभाव नहीं है।)

प्रश्न : तो फिर पर्याय में जो विकार होता है, वह कैसे/कहाँ से होता है?

उत्तर : अभी कहा है न! पर्याय में जो विकार होता है वह अपने स्व-समय में अपने ही स्वतंत्र षट्कारकों के परिणमन से होता है। जीवद्रव्य इसका कारण नहीं है तथा निमित्तरूप कर्म भी इसके वास्तविक कारण नहीं हैं। पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में भी यह बात आई है।

इसीप्रकार मोक्षमार्ग की निर्मल रत्नत्रय की पर्यायें भी निश्चय से अपने-अपने समय में अपने-अपने षट्कारकों के परिणमन से उत्पन्न होती हैं। रत्नत्रय की पर्यायों को परमपारिणमिकभाव लक्षण वाले त्रिकाली शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा नहीं है।

अहाहा! टीका में आचार्य जयसेन कहते हैं कि - भगवान आत्मा त्रिकाल चिदानन्दघन नित्यानंद प्रभु है। इसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह भावनारूप पर्याय समस्त रागादि से भिन्न है। वह भावनारूप पर्याय उपशमादि भावत्रयरूप है। क्षायिक भाव में यहाँ चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान के क्षायिक भाव की बात है। भगवान केवली के क्षायिक भाव की बात यहाँ नहीं है।

राजा श्रेणिक को क्षायिक समकित था। उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म बाँधा था, किन्तु समकित होने के पूर्व नरक गति का बंध हो गया था, इस कारण पर्याय की योग्यतावश नरक के संयोग में गये हैं। परन्तु वहाँ भी राग से भिन्न पूर्णानन्दस्वरूप निजपरमात्मद्रव्य का भान है और साथ ही निजस्वरूपानन्द का वेदन है। शीलपाहुड़ में आया है कि - धर्मी जीवों को नरक गति में भी शील है। पूर्णानन्द के नाथ को जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ है, वहाँ उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान के साथ स्वरूपाचरणरूप स्थिरता भी होती ही है। अपने स्वरूप की श्रद्धा, स्वरूप का ज्ञान और स्वरूप का आचरण - ये तीनों मिलकर शील कहे जाते हैं। 'शील' मात्र शरीर से ही ब्रह्मचर्य पालने का नाम नहीं है। यह तो मात्र राग की क्रिया है। स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र रूप शील तो राग से भिन्न है।

शुभराग में अशुभराग के टलने को शुद्धता मानना ठीक नहीं है। सम्यग्दर्शन और आत्मानुभूति होने के वाद समकिती को शुभराग आता है और उस स्थिति में अशुभराग टलता है; परंतु जो शुभराग रहता है, उसका भी क्रमशः अभाव होने पर - राग का पूर्ण अभाव होने पर मोक्ष प्रगट होता है। शुभराग के रहते मोक्ष प्रगट नहीं होता; क्योंकि शुभराग तो बंध का ही कारण है।

उपशमादि तीन भावों को समस्त रागादि रहित कहा है। भाई! कोई भी राग का अंश मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता। जिस भाव से तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, वह शुभ भाव भी राग है और वंध का ही कारण है। वह राग उपशम, क्षयोपशम या क्षायिक रूप नहीं है। शुभ राग तो उदयभाव है, बंध का परिणाम है। जव कि उपशमादि भावत्रय मोक्षमार्गरूप है, अबंध है।

देखो, सोलहकारण भावना सम्यग्दृष्टि के ही होती है, अज्ञानी के नहीं होती। सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं को षोड्शकारण भावनारूप राग आता है, किन्तु वह वंध का ही कारण है। वह षोड्शकारण भावनाओं का राग अवंध परिणाम नहीं है। यहाँ तो यह यथार्थ है कि — जो उपशम, क्षायिकादि तीन भावमय मोक्षमार्ग है, वह समस्त रागादि से रहित है।

प्रश्न : धर्मी पुरुष को उपशमादि भाव के समय राग तो होता है। तो फिर उसे समस्त रागादि से रहित कैसे कहा?

उत्तर : भाई! जो उपशमादि निर्मल भाव हैं, वे राग-रहित ही हैं। उस काल में भले ही धर्मी के राग हो, परन्तु यह तो भिन्न उदय भाव रूप है। वह कहीं उपशमादि भाव में समाता नहीं है। आंशिक शुद्धता व आंशिक राग - दोनों एक साथ होते हुये भी दोनों भिन्न-भिन्न हैं। उसमें उपशमादि निर्मल भाव मोक्ष का कारण है तथा रागांश बंध का ही कारण है, मोक्ष का कारण नहीं। इसप्रकार मोक्ष के कारणभूत जो उपशमादि भाव हैं, वे समस्त रागादि भावों से रहित ही हैं।

शुद्ध आत्मद्रव्य त्रिकाल भावरूप है, और उसका अवलम्बन लेकर प्रगट हुई शुद्ध परिणति भावनारूप है। दोनों ही शुद्ध हैं, पवित्र हैं। त्रिकाली ध्रुव आत्मद्रव्य में तो राग है ही नहीं, उससे जुड़ी परिणति में भी राग नहीं है। शुद्धात्मा की ऐसी भावना कि जिसमें शुद्ध चैतन्य भाव का भवन हुआ है। वह

आत्मद्रव्य परम अमृत स्वरूप है। चौथे गुण स्थान से – ऐसी भावना परिणति प्रारंभ हो जाती है। उपशमादि तीनों भाव चतुर्थ गुणस्थान में भी होते हैं।

सम्यक्त्व प्रगट होने के काल में तथा उसके बाद भी अनेक बार चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग होता है। इसके अलावा अन्य काल में भी जितनी शुद्ध परिणति हुई है, उसका नाम भावना है और वह मोक्ष का साधन है। जो लोग चौथे गुणस्थान में शुद्धोपयोग का होना मानते ही नहीं हैं, वे भ्रम में हैं। चौथे गुणस्थान में – उपशम सम्यग्दर्शन शुद्धोपयोगपूर्वक ही होता है – यह सिद्धान्त है। शुभ राग से सम्यग्दर्शन हो – ऐसा तीन काल में – कभी भी संभव नहीं है। भाई! शुद्धोपयोग के बिना तुझे भगवान का मार्ग हाथ नहीं आवेगा। अन्तर की शुद्धि के बिना अकेले राग से वीतरागता का मार्ग मिलना संभव नहीं है। राग में ऐसी ताकत नहीं है कि वह शुद्ध द्रव्य को – स्वद्रव्य को पा सके। राग की मंदता से अंतःप्रवेश शक्य ही नहीं है तो उससे सम्यग्दर्शन कैसे हो? भाई! वीतरागता का मार्ग तो राग रहित ही है।

भगवान आत्मा जिनस्वरूप ही है। कहा भी है —

जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म ।
इसी वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म ॥

यह आत्मा सदा जिनस्वरूप – वीतरागस्वरूप – परमात्मस्वरूप ही है। यदि आत्मा स्वयं वीतरागस्वरूप न हो तो पर्याय में वीतरागता आएगी कहाँ से? भगवान अरहन्तदेव को वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह शुद्धात्मभावना की पूर्णता द्वारा प्रगट हुआ है। मोक्षमार्गरूप शुद्धात्मभावना समस्त रागादि से रहित है, राग का–विकल्प का अंश भी इसमें नहीं समाता।

देखो, यह संस्कृत टीका नौ सौ वर्ष पहले श्री जयसेनाचार्यदेव ने रची है। इसमें ऐसी चोखी बात की है कि तीन भावरूप शुद्धात्मभावना समस्त रागादि रहित होने के कारण शुद्ध–उपादान कारणभूत होने से मोक्ष का कारण है। भाई! चौथे गुणस्थान में भी जो निर्मल सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का परिणाम प्रगट हुआ है, वह रागादि रहित परिणाम है।

यहाँ कहते हैं - यह भावना जो तीन भावरूप है, वह समस्त रागादि रहित होने के कारण शुद्ध-उपादान कारणभूत होने से मोक्ष का कारण है। यहाँ पर्यायरूप शुद्ध-उपादान की बात है। त्रिकाली शुद्ध-उपादान जो शुद्ध-द्रव्यार्थिकनय का विषय है, उसकी बात तो पहले आ गई है। यहाँ पर्याय के शुद्ध-उपादान की बात है।

उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक - ये तीनों वीतरागी निर्मल पर्यायें हैं। वह वीतरागी पर्याय समस्त रागादि से रहित शुद्ध-उपादान कारणभूत है, इसलिए मोक्ष का कारण है। अहा! निर्मल पर्याय स्वयं ही शुद्ध-उपादान कारणभूत है। अहो! यह तो कोई अलौकिक बात है। ऐसी बात भगवान केवली के मार्ग के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल पर्याय का विषय त्रिकाली द्रव्य है। वर्तमान भावनारूप जो निर्मल पर्याय है, वह शुद्ध त्रिकाली को अवलंबती है। धर्म की दशा और मोक्ष की दशा शुद्ध पारिणामिकभावस्वरूप त्रिकाली (द्रव्य) का अवलंबन करती है, वह राग का अवलंबन नहीं करती तथा वर्तमान पर्याय का भी अवलंबन नहीं करती। निर्मल पर्याय का विषय पर्याय नहीं है। सम्यग्दर्शन की पर्याय त्रिकाली द्रव्य को अवलंबती हुई अपने षट्कारक से स्वतंत्रपने प्रगट होती है। यह अनुपम अमृत है। भाई! आचार्यदेव ने इस पंचमकाल में यह अमृत बरसाया है।

देखो, नियमसार में आचार्यदेव ने ऐसा कहा है कि — उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव जो निर्मल वीतरागी धर्म की पर्याय है, उसे हम परद्रव्य कहते हैं। अहाहा! वह परभाव है, परद्रव्य है; इसलिये हेय है - ऐसा वहाँ कहा है। व्यवहाररत्नत्रय का राग तो हेय है ही, पर शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि होने पर जिसमें अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आता है, वह मोक्षमार्ग की निर्मल पर्याय भी त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि से परभाव है, परद्रव्य है और इसलिये हेय है, अर्थात् वह निर्मल पर्याय भी अवलंबन योग्य नहीं है। जैसे राग आश्रय योग्य नहीं है, वैसे निर्मल पर्याय भी आश्रय योग्य नहीं है।

अरे भाई! तू दुखी होकर चारगति में रखड़ता हुआ जन्म-मरण कर रहा है। चारों गतियों में तुझे जो मिथ्यात्व का भाव हुआ, वह संसार है, अन्य वस्तु, स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब-कवीला वगैरह कोई संसार नहीं है। राग के साथ एकत्वबुद्धि रूप मिथ्यात्व का भाव ही संसार है। बापू! तूने स्त्री-पुत्र छोड़े, दुकान वगैरह छोड़ी, इसलिये संसार छोड़ा - ऐसा तू मानता है, पर यह मान्यता मिथ्या है। मिथ्यात्व के छोड़े बिना संसार कभी छूटता ही नहीं है। ऐसे तो अनंतकाल में अनंतबार नग्न दिगम्बर मुनि हुआ, पर इससे क्या ? छहढाला में आता है —

मुनिव्रत धार अनंतबार, ग्रीवक उपजायो ।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो ॥

ऐसी बात कड़क लगती है, इसलिये लोग विरोध करते हैं, पर भाई! तीन काल में कभी बदले नहीं - ऐसी यह परम सत्य बात है। विरोध करो तो करो, पर तेरे ऐसे परिणाम से तुझे बहुत नुकसान होगा।

व्यवहाररत्नत्रय मोक्षमार्ग है ही नहीं, वास्तव में वह बंध का ही कारण है। मोक्षमार्ग दो नहीं, इसका निरूपण दो प्रकार से है। निश्चय से मोक्ष का मार्ग तो समस्त रागादि से रहित है और वह शुद्ध-उपादानकारणभूत है। राग मोक्षमार्ग भी नहीं और उसका कारण भी नहीं है।

समाधितंत्र श्लोक ९१ के विशेष अर्थ में लिखा है कि निमित्त होने पर भी, निमित्त से निरपेक्ष उपादान का परिणमन होता है। जयधवल पुस्तक सात, पृष्ठ ११७ में लिखा है —

वज्झकारण-निरपेक्खो वत्थुपरिणामो ।

वस्तु का परिणाम बाह्य कारण से निरपेक्ष होता है। यहाँ यह बात समझने के लिये दृष्टान्त देते हैं।

देखो, दशमें गुणस्थान में लोभ का परिणाम एक है तो भी कर्मों की स्थिति में अन्तर पड़ता है। निमित्तरूप से लोभ का एक ही परिणाम होने पर भी किसी कर्म की स्थिति आठ मुहूर्त्त की और किसी की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की पड़ती है। इसका कारण क्या? नीचे के गुणस्थानों में भी ऐसा है, यहाँ तो लोभ के अन्तिम परिणाम की बात करते हैं। लोभ का एक ही परिणाम निमित्त कारण

होने पर भी कर्म के स्थितिबन्ध में अन्तर पड़ता है। नाम और गोत्रकर्म की स्थिति आठ मुहूर्त्त की बँधती है, जबकि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म की स्थिति का बन्ध अन्तर्मुहूर्त्त का पड़ता है। ऐसा क्यों? तो कहते हैं - वह स्थितिबन्ध की पर्याय स्वतन्त्र है, उसे कोई बाह्य कारण की अपेक्षा नहीं है अर्थात् वस्तु का परिणाम बाह्य कारण से निरपेक्ष होता है।)

किसी कर्म की प्रकृति में परमाणु कम आते हैं, तो किसी कर्म की प्रकृति में परमाणु अधिक आते हैं। वहाँ मिथ्यात्व और रागादि परिणाम तो एक ही है, तो भी ऐसा बनता है, उसका क्या कारण है? बस, यही कि वस्तु के परिणाम बाह्य कारण से निरपेक्ष हैं। प्रत्येक कार्य अंतरंग कारण से ही होता है, उसे बाह्य कारणों की अपेक्षा है ही नहीं। अहा हा! मोक्ष का मार्ग जो अंदर प्रगट होता है उसे बाह्य कारण की–व्यवहार रत्नत्रय की कोई अपेक्षा नहीं है, मोक्षमार्ग की पर्याय शुद्ध उपादानकारणभूत है। अहो! सर्वज्ञ के मार्ग पर चलनेवालों ने सर्वज्ञ होने की ऐसी अलौकिक बात की है। जिसका परम भाग्य हो उसे यह बात सुनने मिलती है।

अहा हा! शुद्ध एक ज्ञायकस्वभाव को अवलंबने वाली भावना रागादि रहित होने से एवं शुद्ध उपादान कारणभूत होने से मोक्ष के कारणरूप हैं। उस भावना को बाह्य कारण की–व्यवहारकारण की अपेक्षा नहीं है, यह बात सुनकर केवल व्यवहार के पक्षवाले कहते हैं–निश्चय और व्यवहार–ऐसे दो मोक्षमार्ग हैं।

(उनसे कहते हैं कि — अरे भाई! तुझे खबर नहीं है। निश्चय मोक्षमार्ग एक ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग है, व्यवहार मोक्षमार्ग वास्तविक मार्ग नहीं है, वह तो उपचारमात्र है। वास्तव में तो वह राग है, बंध का कारण है। व्यवहारमोक्षमार्ग को ही सत्यार्थ मोक्षमार्ग मानकर अनंतकाल से तू रखड़ने के मार्ग पर चढ़ गया है। मार्ग का यथार्थ स्वरूप समझे बिना एकेन्द्रिय आदि में अनंत–अनंत जन्म धारण करके तू हैरान हो गया है।)

तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि को ही होता है, अज्ञानी को नहीं होता, तो भी तीर्थङ्कर प्रकृति का कारणभूत परिणाम धर्म नहीं है। अहा हा! जिस भाव से बंध हो, वह भाव धर्म या धर्म का कारण कैसे हो सकता है? भाई! मुनिराज

को होनेवाला पंचमहाव्रत का परिणाम राग है, इसलिए वह आस्रवभाव है, बंध का कारण है। यह बात सुनकर बहुत से लोगों को खलबलाहट हो जाती है; पर भाई! यह त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर की वाणी में आई हुई परम सत्य बात है।

ज्ञानी को शुभभाव आता जरूर है, जिसे आत्मज्ञान और स्वानुभव प्रगट हुआ है, उसे क्रम से आगे बढ़ते हुए बीच में यथायोग्य शुभभाव आता है; पर इससे धर्म नहीं होता। धर्म तो रागरहित शुद्ध उपादानकारणभूत है। शुभभाव छोड़कर अन्दर आत्मानुभव में स्थिरता हो, तब आगे-आगे के गुणस्थान प्रगट होते हैं। साधक को बीच में भूमिका योग्य व्यवहार आता जरूर है; पर उसके लिए वह हेय है।

नियमसार में तो मोक्षमार्ग की पर्याय को भी हेय कहा है; क्योंकि वह आश्रय योग्य नहीं है। अहा हा! चिदानंदघन स्वरूप भगवान आत्मा त्रिकाली सत्वस्तु है, उसके लक्ष्य से - उसके आश्रय से - उसके अवलंबन से जो शुद्धात्मभावना प्रगट होती है, वह सर्वथा रागरहित है और शुद्ध उपादानकारणभूत है। यद्यपि यह बात सूक्ष्म है, अतः समझना कठिन है फिर भी अव तो लाखों लोग इस बात को समझने लगे हैं।

जिसे यह बात नहीं बैठती वे कहते हैं कि पहले व्रत तो पालो, प्रतिमायें धारण तो करो। पर भाई! सम्यग्दर्शन बिना व्रत-प्रतिमायें होगी कहाँ से? सम्यक्त्व दशा कैसी होती है और वह कैसे प्रगटे? जिसे इसकी भी खबर नहीं, उसे प्रतिमायें कैसीं? उसे व्रत कैसे? यहाँ तो यह एकदम स्पष्ट कहा है कि मोक्षमार्ग की भावनारूप पर्याय रागरहित शुद्ध-उपादानकारणभूत है। वह प्रतिमा आदि की अपेक्षा से रहित है।

कुछ लोग कहते हैं - कार्य उपादान से भी होता है और निमित्त से भी होता है; परन्तु भाई! यह बात यथार्थ नहीं है। दो कारणों से कार्य होता है - ऐसा शास्त्र में आता है। निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उपचार से दूसरी चीज को कारण कहा है; पर वह सत्यार्थ कारण नहीं है। सत्यार्थ कारण तो एक उपादान कारण है। इसप्रकार मोक्ष का मार्ग और उसका कारण एक ही प्रकार का है।

चिद्विलास में पण्डित दीपचंदजी कहते हैं - पर्याय का कारण पर्याय ही है। गुण बिना ही (गुण की अपेक्षा बिना ही) पर्याय की सत्ता पर्याय का कारण है, पर्याय का प्रदेशत्व पर्याय का कारण है। जिन प्रदेशों में पर्याय उत्पन्न होती है, वे प्रदेश पर्याय के कारण हैं, ध्रुवांश के प्रदेश पर्याय के कारण नहीं।

अरे जीव! मोक्ष के कारणरूप तेरी निर्मलदशा कैसी होती है, उसे देख तो सही! स्वरूप संपदा को देखनेपर वह प्रगट होती है।

मोक्ष के कारणरूप वह दशा — प्रथम तो - एक शुद्ध परमस्वभावभाव का ही अवलंबन करनेवाली है, पर का और राग का अवलंबन करनेवाली नहीं है। दूसरे - देह, मन, वचन आदि जगत के सर्व अन्य पदार्थों से भिन्न है। तीसरे - पुण्य-पाप आदि भावकर्म से भी भिन्न है। उसमें राग का एक कण भी नहीं समाता। चौथे - शुद्ध-उपादान कारणभूत है।

अहा! मोक्ष के कारणरूप वह दशा स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-रमणता आदि निज भावों से भरपूर है। समकिती की स्वावलंबन से प्रगटी चैतन्यसंपदा के आगे जगत की जड़संपदा की कुछ कीमत नहीं है, क्योंकि पुण्य के अधीन यह सम्पदा परम-सुखमयं मोक्ष देने में समर्थ नहीं है।

बापू! वीतराग का मार्ग राग से सदा ही भिन्न है। चौथे गुणस्थान में शुद्धता का जो अल्प अंश प्रगट हुआ, उसमें भी राग का अभाव ही है। शुद्धता में राग नहीं और राग में शुद्धता नहीं, दोनों की जाति भिन्न है। सम्यग्दृष्टि के द्रव्य में राग नहीं, गुण में राग नहीं और जो निर्मल परिणति हुई उसमें भी राग नहीं है। इसप्रकार उसके द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ही रागरहित शुद्ध वर्तते हैं। अभेद एक 'शुद्ध' की भावना से उन्हें शुद्धता का परिणमन हुआ करता है। ऐसी शुद्धता की पूर्णता होना मोक्ष है और आंशिक शुद्धता मोक्षमार्ग है। श्रीमद् ने कहा है —

"मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ"

आत्मा की शुद्धता को मोक्ष कहा है, उसे प्राप्त करना ही मोक्ष का मार्ग है। इसप्रकार कारण-कार्य एक जाति के ही होते हैं। शुभराग कारण होकर अशुद्ध कार्य को ही करता है, शुद्ध कार्य को नहीं। शुद्ध कार्य का कारण तो शुद्ध ही होता है, रागरहित ही होता है। ऐसा वस्तुस्वरूप होने पर भी कोई बाह्य में

होनेवाली जड़ की क्रियाओं को मोक्ष का कारण माने तो यह उसकी मूढ़ता ही है।

समकिती को स्व-आश्रय से जितनी शुद्ध-उपादानरूप परिणति हुई है, उतना मोक्ष का कारण है। ध्रुवभावरूप, अक्रिय त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य मोक्ष का कारण नहीं होता, तथा शुद्ध द्रव्य से विमुखरूप वर्तते भाव भी मोक्ष के कारण नहीं होते, शुद्ध द्रव्य के सन्मुख होकर वर्तते निर्मलभाव मोक्ष के कारण होते हैं। इसप्रकार यहाँ पर्याय में कारण-कार्यपना कहा है। ऐसे तो उस-उस समय की पर्याय अपने-अपने समय में शुद्धद्रव्य का अवलम्बन करके स्वयं पूर्ण शुद्धरूप से प्रगट होती है। वह पूर्व पर्याय में से नहीं आती। पर पूर्व में इतनी शुद्धिपूर्वक ही पूर्ण शुद्धता होती है, इसलिये उनमें कारण-कार्यपना कहा और उनसे विरुद्ध भावों का निषेध किया है। इसप्रकार किस भाव से मोक्ष साधा जाता है-यह बताया है।

औपशमिकादि भावत्रयरूप शुद्धात्मभावना मोक्ष का कारण है, परन्तु शुद्ध-पारिणामिकभाव मोक्ष का कारण नहीं है। यह बनिया माल लेने जाता है तो बुद्धि का प्रयोग करता है, मोल भाव कर-करके माल खरीदता है, पर यहाँ धर्म की बात आए तो उसमें हाँ जी हाँ जी करे, यहाँ बुद्धि का प्रयोग नहीं करता। पर भाई! यह तो त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर सर्वज्ञदेव की वाणी है। अहा! जिनकी सभा में इन्द्र, मुनिराज और गणधर विराजते हों, नाग और बाघ भी जिनकी वाणी सुनते हों वह वाणी कैसे होगी बापू! दया करो, व्रत पालो, भक्ति करो - ऐसी बातें तो रथ्या पुरुष भी करते हैं, इसमें क्या नया है? पचास वर्ष पहले तो ऐसा रिवाज था कि श्रावणमास में कुम्भकार अवा लगाना बन्द कर देता था, तेली घानी नहीं पेलता था। पर भाई! यह धर्मरूप परिणाम नहीं है।

मोक्ष का मार्गरूप निर्मल रत्नत्रय मोक्ष का कारण है, त्रिकाली शुद्धद्रव्य मोक्ष का कारण नहीं है। अहाहा! चिदानन्दघन प्रभु भगवान आत्मा, जिसे कारण जीव, कारण परमात्मा कहते हैं, वह मोक्ष का कारण नहीं है। भाई जहाँ जिस पद्धति से बात कही हो, वहाँ उसे उसी दृष्टि से यथार्थ समझना चाहिए। यदि त्रिकाली भावरूप कारण परमात्मा मोक्ष का कारण हो तो मोक्षरूप कार्य सदा ही होना चाहिये; क्योंकि द्रव्य तो सदैव विद्यमान है। परन्तु मोक्षरूप कार्य

तो नया प्रगट होता है, इसलिये उसका कारण त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य नहीं, परन्तु पर्याय है। अहाहा! कारण परमात्मद्रव्य सदा ही शुद्ध है, इसका भान करके पर्याय जब इसकी भावनारूप परिणमी, इसमें एकाकार होकर परिणमी, तब वह शुद्ध होकर मोक्ष का कारण हुई। इसप्रकार मोक्ष का कारण पर्याय है, शुद्ध द्रव्य नहीं।

प्रश्न : आप कहते हैं कि कारणपरमात्मा अनादि से विद्यमान है, तो उसका कार्य क्यों नहीं होता ? कारण है तो उसका कार्य होना चाहिए न?

समाधान : कारणपरमात्मा तो त्रिकाल सत् है। पर तूने इसका अस्तित्व माना कहाँ है? इसे स्वीकार किये बिना पर्याय में इसका कार्य कहाँ से होगा? जब पर्याय स्वाभिमुख होकर वर्तती है, तब इसका कार्य आता ही है। कार्य तो पर्याय में आता है, परन्तु स्वाभिमुख होने पर ही आता है। इसप्रकार स्वाभिमुख पर्याय मोक्ष का कारण होती है, त्रिकाली शुद्धद्रव्य नहीं; क्योंकि द्रव्य तो अक्रिय-अपरिणामी है।

इसप्रकार मोक्ष का कारण दर्शाकर अब शक्तिरूप और व्यक्तिरूप मोक्ष की चर्चा करते हैं।

भगवान आत्मा शुद्ध शक्तिरूप से तो पहले से ही त्रिकाल मोक्षस्वरूप, अबंधस्वरूप ही है। समयसार गाथा १४-१५ में भी आत्मा को 'अबद्धस्पृष्ट' कहा है। अबद्ध कहो या मुक्त कहो, एक ही बात है।

पन्द्रहवीं गाथा में कहा है- जो कोई आत्मा को अबद्धस्पृष्ट देखता है, वह सकल जिनशासन को देखता है। देखो, यह जैनधर्म! भगवान आत्मा राग और कर्म के संबंध से रहित अबद्धस्पृष्ट है। ऐसे शुद्ध चिदानंद भगवान का जिसने अन्तर्मुख होकर अनुभव किया, वह सर्व जिनशासन को देखता है। वह जिनशासन बाह्य में द्रव्यश्रुत तथा अभ्यन्तर में ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है। अहा! जिस पुरुष ने निज शुद्धोपयोग में आत्मानुभव करके मोक्षमार्ग प्रगट किया, उसने सकल जिनशासन देखा। यह जिनशासन एक वीतरागभावरूप है।

वीतरागी संत, मुनिवर श्री जयसेनाचार्यदेव कहते हैं—मोक्ष के दो प्रकार हैं—एक शक्तिरूप मोक्ष और दूसरा व्यक्तिरूप मोक्ष। पर्याय में परिणमन होकर

आत्मा का व्यक्तिरूप में पूर्ण लाभ प्राप्त होना व्यक्तिरूप मोक्ष है और शुद्ध-पारिणामिक स्वभावरूप वस्तु त्रिकाल शक्तिरूप मोक्ष है। त्रिकाल परम स्वभाव भावरूप जो शक्तिरूप मोक्ष है, उसमें मोक्ष करना है- ऐसा नहीं है, क्योंकि वह तो पहले से ही मोक्षस्वरूप है और उसका आश्रय करके परिपूर्ण स्वभावरूप प्रगट होने वाली पर्याय व्यक्तिरूप मोक्ष है।

त्रिकाल शुद्ध पारिणामिकभाव शक्तिरूप मोक्ष तो पहले से ही विद्यमान है। यहाँ तो व्यक्तिरूप मोक्ष की बात है। जो अनंतज्ञान, अनतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य—ऐसे अनंत चतुष्टयरूप है। यह व्यक्तिरूप मोक्ष मोक्षमार्ग की पर्याय से प्राप्त होता है। यह मोक्ष, द्रव्य से प्राप्त नहीं होता। भाई! पर्याय में जो मोक्ष होता है, वह मोक्षमार्ग के कारण से होता है। जैसे परपदार्थ व्यक्तरूप मोक्ष पयार्य का कारण नहीं है, वैसे त्रिकाली द्रव्य भी उस मोक्ष पर्याय का कारण नहीं है।

यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को मोक्ष का कारण कहा है। यह बात भी किसी अपेक्षा से है। मोक्षमार्ग की पर्याय का व्यय होकर मोक्ष की पर्याय प्रगट होती है - इस अपेक्षा से उसे मोक्ष का कारण कहा है।

अहो! आचार्यदेव ने आत्मा का त्रिकाली ध्रुवस्वभाव और इसके आश्रय से प्रगट होने वाला मोक्षमार्ग समझाकर अंतर का खजाना खोल दिया है। हे भाई! तेरा चैतन्य खजाना अंदर मोक्षस्वभाव से भरपूर है। इसमें अन्दर उतर कर जितना चाहिये, उतना निकाल। सम्यग्दर्शन निकाल, सम्यग्ज्ञान निकाल, सम्यक्चारित्र निकाल, केवलज्ञान निकाल और मोक्ष निकाल। अहा हा! सदाकाल इसमें से पूर्ण ज्ञान और आनन्द लिया ही कर, तेरा खजाना घटे-ऐसा नहीं है। तेरा आत्मद्रव्य अविनाशी अनन्त गुणों से भरा हुआ सदा मोक्षस्वरूप ही है। जिसे ऐसे निज स्वभाव का ज्ञान-श्रद्धान हुआ, उसे मोक्ष प्रगट होने में क्या देर है? जिसने अन्तर में शक्तिरूप मोक्ष देखा उसे मोक्ष की भणकार आ गई और उसे अल्पकाल में ही व्यक्तिरूप मोक्ष होता है। शक्तिरूप मोक्ष ध्रुव आत्मद्रव्य त्रिकाल है, और उसके आश्रय से व्यक्तिरूप मोक्ष नया प्रगट होता है। पर्याय में मिथ्यात्व हो या सम्यक्त्व हो, बन्धन हो या मोक्ष हो, द्रव्यस्वभाव

तो त्रिकाल मोक्षस्वरूप ही है, उसमें बन्धन नहीं, आवरण नहीं, अशुद्धता नहीं और अल्पज्ञता भी नहीं है। अहा हा! वस्तु तो सदा परिपूर्ण ज्ञानघन, आनन्दघन मोक्षस्वरूप ही है। ऐसे निजस्वभाव का अन्तर्मुख होकर भान करने वाले की पर्याय में बन्धन टलकर पूर्ण शुद्ध मोक्षदशा प्रगट होने लगती है। अहो! मोक्ष का मार्ग ऐसा अलौकिक है और इसका नाम धर्म है।

अब कहते हैं— **''इसीप्रकार सिद्धान्त में कहा है कि ''निष्क्रियः शुद्धः पारिणामिकः'' अर्थात् शुद्ध-पारिणामिक (भाव) निष्क्रिय है।''**

देखो, यह विशेष स्पष्ट करते हैं कि पारिणामिक ध्रुव स्वभावभाव मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि वह निष्क्रिय है। अहा हा! शुद्ध-पारिणामिक-शुद्ध चेतना मात्र वस्तु पर दृष्टि पड़ने से जो निर्मल परिणमन होता है वह मोक्ष का कारण है, परन्तु शुद्ध पारिणामिक वस्तु मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि वह उत्पाद-व्यय रहित निष्क्रिय चीज है। इसमें बन्धमार्ग या मोक्षमार्ग की क्रियायें नहीं होती, वह ऐसी निष्क्रिय चीज है।

परमार्थवचनिका में पण्डित श्री बनारसीदासजी ने कहा है कि ''मोक्षमार्ग साधना व्यवहार और शुद्ध द्रव्य अक्रियरूप वह निश्चय है।'' तथा अन्त में वहाँ कहा है कि ''यह वचनिका यथायोग्य सुमतिप्रमाण केवली वचनानुसार है। जो जीव यह सुनेगा, समझेगा, श्रद्धेगा उसे भाग्यानुसार कल्याणकारी होगी।''

देखो, इसमें क्या कहा? कि मोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। यहाँ शुभराग रूप व्यवहार, व्यवहार मोक्षमार्ग है—ऐसा नहीं कहा। भाई! व्यवहार मोक्षमार्ग तो मार्ग ही नहीं है, यह तो उपचारमात्र है, कथनमात्र है, वास्तव में तो यह रागरूप होने से बन्धरूप ही है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा से सिद्ध हुई बात है, यह कोई कल्पना की बात नहीं है।

''मोक्षमार्ग साधना व्यवहार और शुद्ध द्रव्य अक्रिय निश्चय।'' इसमें शुद्ध द्रव्य को अक्रिय कहा है। अहा! वस्तु त्रिकाली नित्यानन्द ध्रुव प्रभु है, वह अक्रिय है। जिसमें मोक्षमार्ग की अथवा मोक्ष की पर्याय भी नहीं—ऐसी त्रिकाली ध्रुव वस्तु अक्रिय है। इसे अक्रिय कहो या निष्क्रिय कहो—एक ही बात है।

त्रिकाली द्रव्य सदा ध्रुव निष्क्रिय तत्त्व है। तथापि उसमें दृष्टि करने से, उसका आश्रय करके परिणमित होने से जो शुद्ध अरागी-वीतरागी परिणमन होता है उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहते हैं। वह मोक्ष का मार्ग है। ऐसा मोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। यह धर्मी का व्यवहार और धर्मी की क्रिया है। धर्मात्मा निर्मलरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को साधता है, वह कहीं व्यवहार-रत्नत्रय को (रागको) नहीं साधता।

अरे! यह जीव चौरासी लाख योनियों में दुःखी होकर भटक रहा है। कोई शुभभाव हो जाये तो पुण्योदयवश वह एकेन्द्रिय पर्याय से बाहर त्रसपर्याय में आता है। एकेन्द्रिय पर्याय में भी जीव को क्षण में शुभ और क्षण में अशुभ भाव निरन्तर हुआ करता है, पर मनुष्यगति में आवे - ऐसा शुभभाव नहीं होता। मनुष्यपने में आये - ऐसा शुभभाव जीव को कभी-कभी होता है। भाई! पुण्योदयवश तुझे मनुष्यपना मिला है। यदि इस अवसर में निज अन्तःतत्त्व मोक्षस्वरूप आत्मवस्तु में जाये तो सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो, सम्यक्चारित्र हो, मोक्षमार्ग हो। यदि अन्दर न जाये तो यह अवसर तो चला जा रहा है और एकेन्द्रिय पर्याय से बाहर आये हुए अन्य जीव जैसे पुनः एकेन्द्रियादि में चले जाते हैं, वैसे तू भी एकेन्द्रियादि में चला जायेगा। छहढाला में आता है न —

जो विमानवासी हूँ थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय ।
तहतैं चय थावर तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करे ॥

लोग तो बाह्य व्यवहार की—राग की (जड़) क्रियाओं में धर्म मानते हैं और मनवाते हैं। एकबार खाना या निराहार उपवास करना तपस्या है और वह तपस्या मोक्ष का कारण है—ऐसी मान्यता जगत में चलती है। अरे भगवान्! यह तू क्या करता है? प्रभु! तूने पूरा मार्ग विपरीत कर दिया। यहाँ तो दिगम्बर सन्त पुकार करके कहते हैं कि त्रिकाली सहजानंदस्वरूप अक्रिय आत्मवस्तु निश्चय है और उसके अवलम्बन से निर्मल परिणमनरूप मोक्षमार्ग साधना व्यवहार है। जैसी वस्तु है वैसी समझना पड़ेगी। बाहर के जवाहरात आदि के धन्धे कुछ काम आनेवाले नहीं हैं। उलटे इनकी एकत्वबुद्धि से परिणमित होने से कौआ, कुत्ता आदि की पर्यायों में संसार-समुद्र में गोता खाता हुआ डूब मरेगा।

कितने ही लोग कहते हैं कि आप किसी के साथ बातचीत (वाद) क्यों नहीं करते? क्या आपको यह मतभेद खड़ा रखना है?

अरे भाई! तू यह क्या कहता है? बापू! यह अध्यात्म की बात वाद-विवाद करने से समझ में आये — ऐसी नहीं है। यह तो अन्तर परिणमन से समझ में आनेवाली चीज है। देखो न, समयसार गाथा ११ के भावार्थ में पण्डित श्री जयचन्दजी ने कैसा सरस स्पष्टीकरण किया है —

१. प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकाल से ही है।

२. इसका उपदेश बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं।

३. जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलंब (सहायक) जानकर बहुत किया है।

४. पर, इसका फल संसार ही है।

व्यवहार करते-करते निश्चय होगा — ऐसा व्यवहार का पक्ष तो जीवों को अनादि से ही है। एक-दूसरे को इसका उपदेश भी करते हैं कि व्रत, तप, दान, भक्ति, पूजा इत्यादि करो — इससे परंपरा मोक्ष होगा, तथा शास्त्रों में भी शुद्ध-नय का हस्तावलम्ब जानकर व्यवहार का उपदेश बहुत किया है; पर भाई! इसका फल संसार ही है। तथा वहाँ कहा है —

१. शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं।

२. इसका उपदेश भी विरल है, कहीं-कहीं पाया जाता है।

३. इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर इसका उपदेश प्रधानता से दिया है कि —

"शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं, इसे जाने बिना जहाँ तक जीव व्यवहार में मग्न है, वहाँ तक आत्मा का ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।" देखो, गृहस्थाश्रम में रहने वाले पण्डित श्री जयचन्दजी ने ऐसा भावार्थ लिखा है।

यहाँ जयसेनाचार्यदेव कहते हैं—**सिद्धांत में ऐसा कहा है कि शुद्धपारिणामिक (भाव) निष्क्रिय है। यहाँ निष्क्रिय का क्या अर्थ है? इसके उत्तर में कहते हैं —**

"शुद्धपारिणामिकभाव बंध की कारणभूत क्रिया (रागादि परिणति) रूप नहीं होता और मोक्ष के कारणभूत क्रिया (शुद्धभावना-परिणति) रूप भी नहीं होता। इसलिये ऐसा जानने में आता है कि शुद्ध पारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं।"

प्रश्न : निष्क्रिय अर्थात् क्या? जड़ की और पर की क्रिया रहित चीज ? आत्मा शरीर आदि पर की क्रिया नहीं कर सकता, क्या मात्र इस कारण वह निष्क्रिय है?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। भाई! तू जरा धैर्य से सुन, बंध के कारणभूत जो क्रिया अर्थात् रागादि मलिन भाव, उसरूप शुद्ध पारिणामिक नहीं है, इसलिए उसे निष्क्रिय कहते हैं। पुण्य-पाप का भाव बंध की कारणरूप क्रिया है और उसका शुद्ध पारिणामिक भाव में अभाव है, इसलिये उसे निष्क्रिय कहा है वह क्रिया पर्याय में तो है, पर शुद्ध द्रव्य (वस्तु) में उसका अभाव है, इसलिये शुद्ध द्रव्य (वस्तु) निष्क्रिय है। भाई! यह जैनतत्व बहुत सूक्ष्म है।

लोक में तो धर्म के नाम पर अन्य बहुत सी मिथ्या मान्यताएँ चलती हैं। सच्ची बात यह है कि निश्चय-सम्यग्दर्शन का ध्येय जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य, वह रागरूप क्रिया की परिणति से भिन्न है। राग की किसी भी क्रिया से वह प्राप्त होनेवाला नहीं है।

देखो, त्रिकाली शुद्धपारिणामिकभाव निष्क्रिय है। यह शुद्ध पारिणामिकभाव जैसे बंध के कारणभूत (रागादि परिणति) क्रियारूप नहीं होता, वैसे ही मोक्ष के कारणभूत — निर्मल, निर्विकार शुद्धभावना परिणति क्रियारूप भी नहीं होता, इसलिये वह निष्क्रिय है। अहाहा! सम्यग्दर्शन का विषय जो त्रिकाली शुद्ध द्रव्य है। वह सम्यग्दर्शन की क्रियारूप नहीं होता। भाई! यह तो त्रिलोकनाथ जैन वीतरागी परमेश्वर की दिव्यध्वनि में आया हुआ अमृत है। अहो! समयसार, प्रवचनसार इत्यादि द्वारा आचार्यदेव ने अमृत बरसाया है।

बोलना, चलना, खाना, पीना, लिखना इत्यादि जड़ की क्रियायें तो भगवान आत्मा में है ही नहीं, आत्मा की पर्याय में जो रागादि विकार की क्रियायें होतीं हैं, उन क्रियारूप भी शुद्धद्रव्य नहीं होता। अहा! जो एक ज्ञायकभाव है, वह तो वही है, वह कभी प्रमत्त-अप्रमत्तरूप नहीं हुआ। इसलिये त्रिकाली शुद्ध-

द्रव्य अक्रिय है। अहो! कोई अलौकिक शैली से वीतरागी संतों ने शुद्ध द्रव्यस्वभाव का रहस्य खोला है।

(यह तो पहले कहा जा चुका है कि शुद्ध-उपादानभूत शुद्धद्रव्यार्थिकनय से जीव कर्तृत्व-भोक्तृत्व से तथा बंध-मोक्ष के कारण और परिणाम से शून्य है। बंध और बंध का कारण, मोक्ष और मोक्ष का कारण—ये चारों ही चीजें त्रिकाली शुद्ध-द्रव्य में नहीं है।)

दया, दान, व्रत, तप के परिणाम बंध की कारणरूप क्रियायें हैं। ये आत्मद्रव्य में नहीं है। और शुद्धभावना परिणति जो कि निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है, वह मोक्ष की कारणरूप क्रिया है। वह भी आत्मद्रव्य में नहीं है; इसलिये ऐसा जानने में आता है कि — शुद्धपारिणामिकभाव ध्येयरूप हैं, ध्यानरूप नहीं है। शुद्ध-पारिणामिकभावरूप त्रिकाली शुद्धद्रव्य नित्यानंद चिदानन्द प्रभु ध्यान का ध्येय है, ध्यान नहीं।

यहाँ कहते हैं—शुद्ध-पारिणामिकभावरूप चिन्मूर्ति प्रभु आत्मा ध्यान का ध्येय है, वह ध्यानरूप नहीं। पर्याय को कथंचित् द्रव्य से भिन्न कहा है न? यही बात यहाँ सिद्ध की हैं।

त्रिकाली वस्तु शुद्ध चैतन्य का महा सागर है। 'शुद्ध-चेतनासिंधु हमारो रूप है' - किसी कवि ने भी ऐसा कहा है। अनंत गुणों का एकरूप दल प्रभु आत्मा है। वह ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं। सम्यग्दर्शन पर्याय ध्यानरूप है और त्रिकाली ध्रुव-द्रव्य इसका ध्येय है। ध्यान तो ध्येय में एकाग्र हुई पर्याय है और ध्येय त्रिकाल ध्रुवस्वभाव है। यद्यपि ध्यान की पर्याय ही ध्येय को ध्याती है तो भी जो ध्येय है वह ध्यानरूप नहीं होता। अहो! यह तो अलौकिक बात है।

भगवान! निज ध्येय को भूलकर अपनी नजर को तूने राग में रोक रखा है, इसलिये ध्येयरूप निज ज्ञानानंद का दरिया तुझे नहीं दिखता। तूने नजर को वर्तमान पर्याय की रुचि में रोक दिया है, इसलिए अनंत गुणनिधि शुद्धचेतना सिंधु भगवान आत्मा तुझे भासित नहीं होता। अरे भाई! ध्यानरूप पर्याय रागरहित निर्मल भावरूप है और इसका ध्येय परमस्वभाव भावरूप त्रिकाली शुद्ध-आत्मद्रव्य है। इसलिये रुचि को पलट दे और ध्रुव स्वभाव में उपयोग

को स्थिर करके उसका ध्यान कर! उपयोग को ध्येय में एकाग्र करके ध्याने पर जो ध्यान प्रगट होगा उसमें अतीन्द्रिय आनन्द की धारा उल्लसित होगी।

वास्तव में तो पर तरफ ढली हुई ज्ञान की पर्याय में भी ज्ञायक ही जानने में आ रहा है। यह बात आचार्यदेव ने १७वीं-१८वीं गाथा में कही है। ज्ञान की पर्याय का स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, इसलिये वर्तमान ज्ञानपर्याय में त्रिकाल परम-पारिणामिकभाव रूप वस्तु जानने में आती है। अज्ञानी के ज्ञान में भी वह त्रिकाली द्रव्य जानने में आता है, पर उसकी नजर इसके ऊपर नहीं है। ध्रुव की दृष्टि करने के बदले वह अपनी नजर पर्याय पर, राग पर, निमित्त पर और बाहर के पदार्थों पर रखता है, इसलिये उसे अन्दर का चैतन्यनिधान नहीं दिखता।

अरे! धन-दौलत में बिल्कुल सुख नहीं है। बापू! ये तो सब धूल के ढेर हैं और इसका ध्यान करके परिणमित होना अकेला दुःख का ढेर है। पंचमहाव्रत का विकल्प भी राग है, दुःख है, बन्ध का कारण है। तू इसे भ्रम से संवर मानकर सेवन करता है, पर आचार्यदेव ने इसे 'तत्त्वार्थसूत्र' में आस्रव में गिना है। भाई! आस्रव से तुझे लाभ है — ऐसी दृष्टि स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान होने में बाधक है।

यहाँ कहते हैं — "शुद्ध-पारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं। कारण कि ध्यान विनश्वर है और शुद्ध-पारिणामिकभाव अविनाशी है।"

देखा? जो ध्यान है वह पर्याय है, औपशमिकादिभावरूप है और वह पलट जाती है इसलिये ध्येयरूप नहीं है। ध्येयरूप तो एक शुद्ध-पारिणामिकभाव है, क्योंकि वह अविनश्वर है, नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, एकरूप है, वह ध्यानरूप कैसे हो सकता है? भाई! यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप जो मोक्षमार्ग की पर्याय है वह नाशवान है, क्योंकि मोक्षदशा प्रगट होने पर मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश हो जाता है—व्यय हो जाता है, इसलिये वह ध्येयरूप नहीं है और त्रिकाली शुद्ध द्रव्य नित्य अविनाशी होने से ध्येयरूप है, परन्तु ध्यानरूप नहीं है। यह भाषा तो सादी है, पर भाव तो जो है, वही है।

लोग कहते हैं कि सरल करो; पर सरल क्या करें? यह सरल ही है। तू व्रत, तप, उपवास आदि के विकल्प को सरल मानता है, पर बापू! ये तो सब राग की मंदता की क्रियायें हैं।

ध्यान पर्याय विनश्वर है। शुक्लध्यान की पर्याय भी विनश्वर है, इसलिये वह ध्येयरूप नहीं, ध्येय से भिन्न है। आचार्य योगीन्द्रदेव ने परमात्मप्रकाश की गाथा ६८ में कहा है —

णवि उपज्जइ णवि मरई, बन्धु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवर एउ भणेइ ॥

हे योगी, परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं, मरता भी नहीं और बन्ध-मोक्ष भी नहीं करता-ऐसा श्री जिनवर कहते हैं। अहाहा! शुद्ध-द्रव्य रूप त्रिकाली वस्तु परमार्थ से नरकगति, मनुष्यगति, सिद्धगति इत्यादि पर्यायों में उपजता नहीं तथा मरता भी नहीं।

नियमसार की गाथा ३८ में कहा है कि त्रिकाली ध्रुव एक ज्ञायकभाव-शुद्ध-पारिणामिकभावमात्र वस्तु है, वही वास्तव में आत्मा है। पर्यायरूप आत्मा तो व्यवहार-आत्मा है, त्रिकाली की अपेक्षा यह अभूतार्थ-असत्यार्थ है।

भाई! गणधर भगवान के रचे हुए शास्त्र कैसे होंगे? केवली परमात्मा के श्रीमुख से जो ओमध्वनि निकलती है, जिसे सुनकर चार ज्ञान के धारक श्री गणधरदेव अन्तर्मुहूर्त्त में बारह अंग और चौदह पूर्व की रचना करते हैं, वह चीज कैसी होगी? उसमें कोई लौकिक वार्ता नहीं होती। उसमें तो यही अलौकिक वात आती है कि— "नित्य ध्रुव एक चिन्मात्र वस्तु को आत्मा कहते हैं। ऐसा आत्मा एक समय की पर्याय में नहीं समाता। त्रिकाली ध्रुव अन्तःतत्त्व आत्मा मोक्षमार्ग या मोक्ष की एक समय की पर्याय रूप से उपजता और विनशता नहीं है। उस रूप से पर्याय उपजती है, पर शुद्ध जीव नहीं उपजता।"

ऐसी बात जिसने कभी सुनी न हो उसे लगता है कि क्या जैन का मार्ग ऐसा होगा? तथा किसी को यह सुनकर वेदान्त जैसा लगता है; पर वेदान्त में तो यह बात ही नहीं है। आत्मा को एकान्त से नित्य एक सर्वव्यापक मानना

तो गृहीत मिथ्यादर्शन है। भाई! वेदान्त मतवाले पर्याय को कहाँ मानते हैं? अनन्त आत्माओं को कहाँ मानते हैं? अनन्त परमाणुओं को कहाँ मानते हैं? अनन्त गुणों को कहाँ मानते हैं? उनके मत में मूल वस्तुस्वरूप की वात ही कहाँ है? तुझे वेदान्त जैसा लगता है; पर वापू! वेदान्त दर्शन में और जैनदर्शन में वहुत वड़ा (जमीन-आसमान जैसा) अन्तर है।

परमार्थ से जीव उपजता नहीं, मरता भी नहीं। यह उपजना-विनशना पर्याय में होता है। अहा! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रगट होने का जन्मक्षण है। प्रत्येक पर्याय की उत्पत्ति का स्वकाल है और उसी काल में वह उत्पन्न होती है। यह बात प्रवचनसार में आती है। प्रवचनसार के पहले अधिकार में ज्ञान तत्त्व का निरूपण है, दूसरे ज्ञेय अधिकार में छहों द्रव्यों के स्वरूप का वर्णन है। जिस समय द्रव्य में जो पर्याय होना हो उस समय वही पर्याय प्रगट होती है। वह पर्याय आगे-पीछे नहीं होती तथा वह किसी अन्य के कारण भी नहीं होती। प्रत्येक पर्याय अपने क्रमवद्ध अवसर में प्रगट होती है। वहीं गाथा ९९ में कहा है कि जिस समय में जो पर्याय होने वाली हो वह अपने अवसर में प्रगट होती है, आगे-पीछे प्रगट नहीं होती। यह जैनदर्शन की मूल बात है। द्रव्य में समस्त पर्यायें क्रमवद्ध ही अपने-अपने अवसर में प्रगट होती हैं।

प्रश्न : पर्यायें क्रमवद्ध ही होती है तो फिर पुरुषार्थ कहाँ रहा?

उत्तर : भाई! तू जरा धैर्यधारण करके सुन! जीव जब स्वभावसन्मुख होकर स्वानुभव प्रगट करता है, तभी उसे क्रमवद्धपर्यायों का यथार्थ निर्णय होता है और यही पुरुषार्थ है। अज्ञानी को पुरुषार्थ है ही कहाँ? क्रमवद्ध का निर्णय कहो कि स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ कहो—एक ही वात है। क्रमवद्ध के निर्णय वाले को पुरुषार्थ का अभाव कभी नहीं होता और जिसे पुरुषार्थ का अभाव है उसे क्रमवद्ध का यथार्थ निर्णय कभी नहीं होता। यहाँ कहते हैं कि जिस पर्याय में केवलज्ञान हुआ, उस पर्याय में भगवान आत्मा का ध्रुवस्वभाव नहीं आता।

परमार्थ से जीव बन्ध-मोक्ष को भी नहीं करता। ऐसा भगवान जिनेश्वरदेव कहते हैं। कहा भी है—"**जिणवर एउ भणेइ**"।

देखो, भगवान ने एक समय में तीनकाल-तीनलोक देखा। केवलज्ञान की पर्याय में तीनकाल, तीनलोक जानने में आता है—ऐसा कहना व्यवहार है; क्योंकि ज्ञान की पर्याय को जानते ही उसमें लोकालोक जानने में आ जाता है, उसे देखने नहीं जाना पड़ता तथा केवलज्ञान लोकालोक को उसमें तन्मय होकर नहीं जानता।

अनन्त सर्वज्ञ परमात्माओं की दिव्यध्वनि में आया है कि त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्द परमात्मद्रव्य बन्ध-मोक्ष के परिणाम और बन्ध-मोक्ष के कारण को नहीं करता; क्योंकि वह तो त्रिकाल सदृश एकरूप भाव है, जब कि बन्ध-मोक्ष का परिणाम विसदृश है, भाव-अभावरूप है। उत्पाद भावरूप है और व्यय अभावरूप है, परन्तु ध्रुव वस्तु में भाव-अभाव नहीं है, उत्पाद-व्यय नहीं है। इसलिये बन्ध के कारणरूप रागादि परिणाम तथा मोक्ष के कारणरूप शुद्धभावना परिणति (निर्मल-रत्नत्रय) को ध्रुवस्वभावी शुद्धात्मद्रव्य नहीं करता।

प्रश्न : यदि आत्मा बन्ध-मोक्ष का भाव नहीं करता तो फिर यह दीक्षा कैसी? यह आनन्द की दशा का परिणमन कैसे?

उत्तर : भाई! अनंत तीर्थङ्कर देवों ने यह कहा है कि परमार्थरूप निश्चय जीव दीक्षा के परिणामरूप या आनन्द की दशारूप नहीं उपजता तथा उस दशा का व्यय होने पर वह मरता भी नहीं है। मनुष्यरूप से उत्पाद और देवगति का व्यय—ये दोनों उत्पाद-व्ययरूप अवस्थायें हैं जरूर, पर उस-उस अवस्था के काल में भी ध्रुव आत्मद्रव्य उत्पाद-व्ययरूप नहीं होता। वह तो त्रिकाल एकरूप शुद्ध ज्ञायकभावरूप से ही रहता है। ऐसा ही द्रव्य-पर्यायरूप वस्तुस्वरूप है।

'जिणवर एउ भणेइ' भगवान जिनेश्वर देव दिव्यध्वनि द्वारा ऐसा कहते हैं कि बन्ध-मोक्ष के परिणाम को शुद्धजीव नहीं करता अर्थात् शुद्धजीव नित्यानन्द चिदानन्द प्रभु बन्ध-मोक्ष की पर्यायरूप नहीं होता। अहो! ऐसा अलौकिक शुद्ध जीवतत्त्व सम्यग्दर्शन का विषय है।

"और विशेष कहते हैं कि — विवक्षित एकदेश शुद्धनयाश्रित यह भावना निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने से यद्यपि एकदेश व्यक्ति-रूप है, तो भी ध्याता पुरुष ऐसा ध्याता है कि — जो सकल

निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्षप्रतिभासमय अविनश्वर शुद्ध-पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य है, वही मैं हूँ, खण्डज्ञानरूप मैं नहीं हूँ।''

विवक्षित अर्थात् कहने में आनेवाली आंशिक शुद्धिरूप परिणति एकदेश शुद्धनयाश्रित है। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावना एकदेश शुद्ध है, आंशिक शुद्ध है, पूर्ण शुद्ध नहीं। पूर्ण शुद्धि तो भगवान केवली को होती है। पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित रहस्यपूर्ण चिट्ठी में आता है कि ''इसीप्रकार चौथे गुणस्थानवर्ती आत्मा को ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट हुए हैं तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा को ज्ञानादिगुण सर्वदेश प्रगट हुए हैं। इन दोनों की एक ही जाति है।''

ऐसा समझना कि साधक को जो निर्मल रत्नत्रयरूप भावना प्रगट हुई है वह एकदेश शुद्ध है, आंशिक शुद्ध है।

आकाश के प्रदेश अनंत है, इनसे अनंतगुणे एक जीव के गुण हैं। सम्यग्दर्शन होने पर प्रत्येक गुण का जो आंशिक शुद्ध परिणमन होता है, उसे यहाँ एकदेश शुद्धनयाश्रित भावना कहा है। यहाँ प्रगट परिणति को शुद्धनय कहा है। समयसार की चौदहवीं गाथा में शुद्धनय, अनुभूति और आत्मा को एकार्थवाची कहा है। त्रिकाली परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा को ध्येय बनाकर परिणमित होने पर प्रगट होने वाली निर्मल दशा एकदेश शुद्धनयाश्रित भावना है। द्रव्यसंग्रह में मोक्षमार्ग की प्रगट पर्याय के ६५ नाम दिये हैं। यहाँ उसके दो नाम देकर कहा है कि — वह अध्यात्मभाषा में 'शुद्धात्माभिमुख परिणाम', 'शुद्धोपयोग' इत्यादि पर्यायसंज्ञा पाता है।

द्रव्यसंग्रह में कहे गए ६५ नामों में से कुछ इसप्रकार कहे गए हैं —

वह भावना परमब्रह्मस्वरूप है, परमविष्णुस्वरूप है, परमशिवस्वरूप है, परमबुद्धस्वरूप है, परमजिनस्वरूप है, परमनिज आत्मोपलब्धिरूप है, सिद्धस्वरूप है, निरंजनस्वरूप है, निर्मलस्वरूप है, स्व-संवेदनज्ञानरूप है, परमतत्त्वज्ञान है, वह परमावस्थारूप परमात्मा का स्पर्शन है, वह परमावस्थारूप है, परमात्मज्ञान है, वही ध्यान करने योग्य शुद्ध-पारिणामिक भावरूप है, वह ध्यान भावनारूप है, वही शुद्ध चारित्र है, वही अन्तरंग तत्व है, वही परमात्मतत्व है, वही शुद्धात्मद्रव्य है, वही परमज्योति है।

इसीप्रकार अन्य नाम भी हैं। मोक्षमार्ग एकदेश व्यक्त पर्याय है। यह आंशिक शुद्धिरूप परिणति निर्विकार स्व-संवेदन लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने से एकदेश व्यक्तिरूप है।

एक समय की पर्यायरहित त्रिकाली द्रव्यस्वभाव—ध्रुवभाव को यहाँ निश्चय जीव कहा है, वह जीव (शुद्धजीव) सिद्धपर्यायरूप उत्पन्न नहीं होता और पूर्व की मनुष्यगति का व्यय होने पर भी वह (शुद्धजीव) व्ययरूप नहीं होता, अहा! ऐसा जो नहीं उपजने और नहीं मरनेवाला शुद्ध पारिणामिक भावरूप शुद्धजीव, सम्यग्दर्शन का विषय है—यह बात यहाँ सिद्ध करना है, इसलिए ऐसी भाषा में कहा — "शुद्धपारिणामिक भाव ध्येयरूप है ध्यानरूप नहीं। क्योंकि ध्यान विनश्वर है और शुद्ध पारिणामिकभाव अविनश्वर है।"

प्रश्न : वह शुद्ध पारिणामिकभाव कैसे प्राप्त हो?

उत्तर : सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर सहज वीतरागी आनन्द की अनुभूतिवाले स्व-संवेदन ज्ञान से वह प्राप्त होता है। ध्रुव से ध्रुव जानने में नहीं आता; क्योंकि ध्रुव में जाननेरूप क्रिया नहीं है, निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान से ध्रुव जानने में आता है।

वस्तु का त्रिकाली स्वरूप ध्रुवभावरूप है। वह ध्रुव-भावरूप वस्तु पर्याय में प्राप्त होती है। कैसी है वह पर्याय? तो कहते हैं—एकदेश प्रगट शुद्धनय की भावनारूप है। अहाहा! ऐसी भाषा और ऐसा भाव। इसे कभी सुना नहीं। एकदेश शुद्धनयाश्रित यह भावना अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति लक्षणवाले निर्विकार स्व-संवेदन ज्ञानरूप है। यह निर्विकार स्व-संवेदन लक्षण ज्ञान क्षायोपशमिकभाव है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष का मार्ग तीन भावरूप है - उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक। इन तीनों में स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान क्षयोपशमभावरूप है। शुद्ध-आत्मतत्त्व की प्राप्ति क्षयोपशम ज्ञान में होती है। मोक्षमार्ग की पर्याय को तीन भावरूप कहा है, परन्तु वह ज्ञान क्षयोपशमभावरूप है, उपशम या क्षायिक भावरूप नहीं।

यह भावना निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण क्षायोपशमिक ज्ञानरूप होने से एकदेश व्यक्तिरूप है। देखो, तीनों भावों में यह निर्विकार स्व-संवेदन लक्षण ज्ञान क्षयोपशमभाव है।

सम्यग्दर्शन होने पर जो ज्ञान प्रगट हुआ वह ज्ञान क्षयोपशमभावरूप है। भले सम्यग्दर्शन उपशम हो, क्षयोपशम हो या क्षायिक हो; परन्तु उसके साथ होने वाला ज्ञान तो क्षायोपशमिक ज्ञान है। तथा कैसा है वह ज्ञान? निर्विकार आनन्द का स्वाद जिसके अनुभव में आता है वह ऐसा स्वसंवेदन लक्षण ज्ञान है। अहा! वह ज्ञान स्व-स्वरूप के जानने अनुभवने में प्रवृत्त है।

भावना सम्बन्धी यह वर्णन बन्ध-अधिकार तथा सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार के अन्त में श्री जयसेनाचार्यदेव की टीका में आता है, तथा परमात्मप्रकाश में भी आता है। यही बात यहाँ कही है। मिथ्यात्व, अज्ञान और रागद्वेष से होनेवाले बन्ध के विनाश के लिए विशेष भावना है। अहा! मैं तो एक त्रिकाली ध्रुव परम-स्वभाव भावमय शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपी परमात्मद्रव्य ही हूँ। दया, दान का विकल्प भी मैं नहीं, गुणभेदका विकल्प भी मैं नहीं और एक समय की पर्याय भी मैं नहीं—इसप्रकार यह भावना ध्रुव में एकरूप रहकर ध्रुव का निर्णय करती है। इसका नाम जैनदर्शन है।

जिसे स्वद्रव्य के आश्रय से अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। ऐसा धर्मी जीव इसप्रकार भाता है कि मैं तो सहज शुद्ध सच्चिदानन्दमय परमानन्दमय परमात्मा ही हूँ और जगत के सर्व जीवों का अन्तरंग में ऐसा ही स्वरूप है। परमात्मप्रकाश के अन्त में आचार्यदेव कहते हैं—इस परमात्मप्रकाश वृत्ति का व्याख्यान जानकर भव्यजीवों को ऐसा विचार करना चाहिए कि "शुद्ध निश्चय से मैं एक हूँ, तीन लोक में तीन काल में मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से उदासीन हूँ, निज निरंजन शुद्ध आत्मा के सम्यक्श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्अनुष्ठानरूप निश्चय-रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द-सुखानुभूतिमात्र लक्षणवाले स्व-संवेदनज्ञान से स्व-संवेद्य हूँ, परिपूर्ण हूँ तथा राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पाँच इन्द्रियों का विषय-व्यापार, मन-वचन-काय का व्यापार, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म,

ख्याति, पूजा, लाभ, देखे, सुने और अनुभवे हुए भोगों की आकांक्षारूप निदान, माया, मिथ्यात्व शल्य आदि सर्व विभाव परिणामों से रहित हूँ, शून्य हूँ। सभी जीव ऐसे ही हैं—निरन्तर ऐसी भावना करना। देखो, यह धर्मी की एकरसरूप (समरसी) भावना है।

अहा! सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा ऐसा भाता है कि मैं निर्विकल्प हूँ, शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, परम-उदासीन हूँ, और जगत के सब जीव भी स्वभाव से ऐसे ही हैं। सूक्ष्म निगोद के जो अनन्त जीव हैं, उन सबका स्वरूप भी ऐसा शुद्ध सच्चिदानन्दमय है। कन्दमूल के एक अंश में असंख्य जीव है। इन सब जीवों का द्रव्य शुद्ध चिद्घन आनन्दघन ही है—ऐसी भावना भाता है। जगत के सर्व जीवों को धर्मात्मा द्रव्यदृष्टि से ऐसा ही देखता है।

अहा! मैं ऐसा शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, ज्ञानमूर्ति प्रभु आत्मा हूँ—ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति स्वरूप स्व-संवेदन ज्ञान में जाना जाता है। इसके सिवाय वह शुद्ध-बुद्ध आत्मा भगवान से नहीं जाना जाता, भगवान की वाणी से भी नहीं जाना जाता और व्यवहार-रत्नत्रय के विकल्प से भी नहीं जाना जाता। वह तो निर्विकार स्व-संवेदनलक्षण क्षयोपशमज्ञान से जाना जाता है। आत्मा स्वयं स्व-संवेद्य है न? अर्थात् स्वानुभव की दशा में जो ज्ञान स्वाभिमुख हुआ है, उससे ही वह जानने में आता है, अन्य किसी प्रकार से वह प्राप्त नहीं होता।

अहा! मैं अपनी केवलज्ञान आदि अनंत शक्तियों से भरा हुआ पूर्ण परमात्मा हूँ। निश्चय से मेरा आत्मा अनंत दर्शन, अनंत आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता अनन्त प्रकाश, अनन्त प्रभुता आदि अनन्त शक्तियों से भरा हुआ है। धर्म की पहली सीढ़ीवाला सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को इसप्रकार भाता है, ध्याता है। जगत के सभी आत्मा शक्तिरूप से भगवान हैं, रागद्वेषादि विभाव से रहित-शून्य हैं, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म से भिन्न हैं-ऐसा वह जानता है। अहा! जिस भाव से तीर्थङ्कर प्रकृति बँधे वह भाव भी विभाव अर्थात् विपरीत भाव है और इससे भगवान आत्मा शून्य है—ऐसा समकिती जानता है। अहो! जिसमें जगत के सर्वजीव समानपने शक्ति से परिपूर्ण भासते हैं, ऐसे समकिती

की भावना कोई अचिंत्य और अलौकिक है। अहा! अनन्त शक्ति से भरा पूर्ण चैतन्य दरिया जिसमें भासित हुआ, वह भावना अपूर्व है। (पास में पाँच-दस करोड़ का संयोग हो तो सेठ लोग मानते हैं कि — हम भी कुछ हैं; पर बापू! ये तो सब पुण्य की धूल है।)

प्रश्न : परन्तु इस जगत में इस धूल के बिना भी तो काम नहीं चलता ?

समाधान : जिसे इस संसार से थकान लगी हो, जिसे संसार दुःख रूप लगा है, उसकी यह बात है। (वस्तुतः इस धूल के बिना ही तेरा काम अनादि से नरक, तिर्यंच व देवगति में चल रहा था न? और मुक्ति में अनन्तकाल तक चलेगा क्योंकि तेरे द्रव्य-गुण पर्याय में यह धन की धूल कहाँ है? भाई! आत्मा में परद्रव्य का तीनोंकाल अभाव है और स्वभाव का सदा ही सद्‌भाव है। भाई! तेरे स्वभाव में परद्रव्य तो क्या, एक समय की पर्याय भी प्रवेश नहीं पाती-ऐसा तेरा द्रव्य स्वभाव है।

निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण भगवान आत्मा क्षायोपशमिक ज्ञान में जाना जाता है। यह ज्ञान भावश्रुतज्ञान होने से क्षयोपशमभावरूप है, सम्यक्त्व भले क्षायिक हो, पर ज्ञान तो क्षायोपशमिकभावरूप ही है।

देखो, श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यक्त्व था, स्वानुभवमण्डित भावश्रुतज्ञान था। तीर्थङ्कर प्रकृति बाँधी थी, परन्तु उसके पूर्व में नरक की आयु बँध गई थी; इसलिए अभी पहले नरक के संयोग में गये हैं। वहाँ भी क्षायिक सम्यक्त्व वर्तता है। वहाँ क्षण-क्षण तीर्थङ्कर प्रकृति बँधती है। अहा! नरक के ऐसे पीड़ाकारी संयोग में भी वे अपने आत्मा को शुद्ध-बुद्ध चिदानन्दस्वरूप परमात्मस्वरूप अनुभवते हैं। अज्ञानी को इसकी खबर कैसे पड़े? यह करो, वह करो—एकान्त से ऐसे क्रियाकाण्ड में ही वह रुक गया है। उसे भगवान केवली की आज्ञा की खबर ही नहीं है। बापू! यह तो जगत से अत्यन्त निराली बात है, जगत के साथ इसका मेल नहीं बैठता।

समकिती को जो भावश्रुतज्ञान है वह क्षयोपशमरूप है और एकदेश व्यक्तरूप है, क्षायिक की तरह पूर्ण व्यक्तरूप नहीं है, सर्वदेश व्यक्तरूप क्षायिकज्ञान तो केवली परमात्मा को होता है। सम्यग्दृष्टि को तथा भावलिंगी

मुनिवर को जो ज्ञान अन्दर प्रगट है, वह क्षायोपशमिक है। इसलिये वह एकदेश व्यक्तरूप है।

अहा हा! भगवान! तू जिन है, जिनवर है, जिन सो जिनवर और जिनवर सो जिन। ऐसा जिनस्वरूप भगवान आत्मा जिसमें जाना जाये, वह भावश्रुतज्ञान क्षायोपशमिक है और एकदेश प्रगटरूप है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। आत्मानुभव होने पर वे सब शक्तियाँ पर्याय में अंशरूप प्रगट होती हैं। सम्यग्दर्शन होने पर जो क्षयोपशमज्ञान प्रगट होता है, वह अंशरूप व्यक्त होता है, पूर्ण व्यक्त नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर को जो अनन्त शक्तियाँ हैं, वे सब पूर्ण व्यक्तरूप हैं, परन्तु साधक को तो वे शक्तियाँ मोक्षमार्ग के काल में आंशिक व्यक्तरूप हैं, ज्ञान भी एकदेश व्यक्तरूप है।

अभी तो जैनकुल में जन्म लेनेवालों को भी खबर नहीं है कि जैन परमेश्वर कौन है और उनके ज्ञान की कैसी अलौकिकता है? बापू! यह बात समझे बिना ही तू अनंतकाल से रखड़-रखड़कर मर रहा है। भाई! चौरासी लाख योनियों में अनन्तबार जन्म-मरण करके तू चकनाचूर हो गया, अब तो समझ। अरे! यह बात समझे बिना ये करोड़पति और अरबपति लोग भी दुःखी ही हैं।

अहा हा! धर्मी जीव को आनन्द की अनुभूति सहित स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट हुआ। वह ज्ञान एकदेश व्यक्तरूप है। उसमें अपना पूर्ण परमात्मद्रव्य जाना जाता है। ज्ञानी उस पूर्ण परमात्मस्वरूप निज आत्मद्रव्य का ध्यान करते हैं।

''धुन रे धुनियाँ अपनी धुन, जाकी धुन में पाप न पुन्न।''

अहा! भगवान आत्मा की जिसे धुन लगी है, उसे पुण्य-पाप की तरफ का लक्ष्य नहीं होता। आत्मा की धुन में पाप-पुण्य के भाव बिलकुल नहीं होते। हे भाई! तू निर्मल आनन्द का नाथ प्रभु परमात्मद्रव्य है। एकबार इसकी धुन तो लगा, तुझे सम्यग्दर्शन होगा, सुखी होने का मार्ग प्रगट होगा। भाई! यह सर्वज्ञ-परमात्मा की कही हुई बात है।

अहा! अनन्तगुणमण्डित अखण्ड एक परम जिनस्वरूप आत्मा का जिसे स्वानुभव में भान हुआ, उसकी स्वानुभव की दशा एकदेश प्रगटरूप है। भाई! धर्मात्मा को निज परमात्मद्रव्य के लक्ष्य से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की

दशा प्रगट हुई, वह दशा एकदेश व्यक्तरूप है। धर्मी पुरुष उस दशा का ध्यान नहीं करता, पर "अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय परमात्मद्रव्य मैं हूँ"—ऐसा ध्यान करता है।

अहा! त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा फरमाते हैं कि अनन्त शक्तिस्वरूप आत्मा का अनुभव करने पर अनन्त शक्तियों का एक अंश पर्याय में प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन के रूप में श्रद्धा का अंश प्रगट होता है, भावश्रुतज्ञान के रूप में ज्ञान अंश प्रगट होता है, चारित्र का अंश प्रगट होता है, वीर्य का अंश प्रगट होता है, स्वच्छता और प्रभुता का अंश भी पर्याय में व्यक्त होता है। वे सब निर्मल पर्यायें, ध्याता पुरुष के ध्यान का ध्येय नहीं हैं। ध्याता पुरुष उन प्रगट पर्यायों को जानता जरूर है, पर उन पर्यायों का ध्यान नहीं करता, उन पर्यायों को ध्याता नहीं है।

अहा! यह सच्चिदानन्दमय निज भगवान के स्वरूप को कहने वाली भगवान के घर की भागवत् कथा है। स्वद्रव्य के अवलम्बन से प्रगट होने वाली वीतराग-विज्ञानमय दशा को धर्मात्मा पुरुष नहीं ध्याता, तो किसे ध्याता है? धर्मी पुरुष किसका ध्यान करते हैं? त्रिकाल विद्यमान सकल निरावरण अखण्ड, एक, प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध-पारिणामिक परमभाव-स्वरूप निज-परमात्मद्रव्य का ध्यान करते हैं।

अहाहा! अन्दर शक्तिस्वरूप जो आत्मवस्तु है, वह त्रिकाल निरावरण है। भाई! तेरा द्रव्य, स्वभाव से सदा ही निरावरण है, पर्याय में राग के साथ और कर्म के साथ एक समय का सम्बन्ध व्यवहार से भले हो, पर अन्दर जो भूतार्थ वस्तु है, चिदानन्दमय सदा विद्यमान वस्तु है, वह निरावरण है। भगवान! तेरी परमानन्दमय वस्तु अन्दर सदा निरावरण है, कर्म और राग के सम्बन्ध से रहित है। परन्तु यह सब कैसे बैठे? तू मान या न मान, पर अन्दर ज्ञानघन वस्तु सकल निरावरण है, और उसे धर्मी पुरुष ध्याता है।

अनन्त-अनन्त शक्तियों का पिण्ड प्रभु आत्मा सकल निरावरण है तथा वह अनन्त गुणों से भरा होने पर भी गुणभेद से रहित अखण्ड एक है, खण्डरूप नहीं, भेदरूप नहीं, वह पर्याय के भेद से भी भेदरूप नहीं होता, ऐसा अभेद

एक है। तथा स्वसंवेदन ज्ञान में प्रत्यक्ष जाना जाये, ऐसा प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। आत्मा स्वभाव से ही प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है।

प्रश्न : परन्तु हमें तो ऐसा प्रत्यक्ष प्रतिभासमय आत्मा जानने में नहीं आता?

उत्तर : भाई! तू राग में या निमित्त में शोधे तो वह कैसे जानने में आये? आत्मा जहाँ है, वहाँ अन्तर्मुख होकर देख तो अवश्य जानने में आयेगा—ऐसा वह प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। आत्मा चैतन्यप्रकाश का बिम्ब है। ज्ञान को उसमें एकाग्र करके देखने वालों को वह अवश्य जानने में आता है। अहाहा! आत्मा अन्तर्मुख उपयोग में—निज स्वसंवेदन ज्ञान में जाना जाये, ऐसा प्रत्यक्ष प्रतिभासमय है। भले मतिज्ञान हो या श्रुतज्ञान हो, सम्यग्ज्ञान की एक समय की पर्याय में सम्पूर्ण आत्मा एक अखण्डरूप से ज्ञात हो जाये, इसका ऐसा ही प्रत्यक्ष स्वरूप है। अन्तर्मुखी होकर देखे तो अवश्य ज्ञात होगा ही।

निज परमात्मतत्त्व सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय त्रिकाल अविनश्वर वस्तु है और वही ध्याता पुरुष के ध्यान का ध्येय है। सम्यग्दर्शन का विषय भी यही है और कल्याणकारी ध्यान का ध्येय भी वही है।

अरे! यह जीव चैतन्य निधानस्वरूप अपने भगवान को भूलकर अनादि से उल्टे रास्ते चल रहा है! स्वयं चैतन्य लक्ष्मी से भरा हुआ त्रिकाल विद्यमान होने पर भी यह बाह्य जड़ लक्ष्मी और पुण्यप्राप्ति की भावना करता है। तीन लोक का नाथ जिनस्वरूप प्रभु भिखारी होकर घर-घर डोलता है और स्वयं सुखस्वरूप सुख का निधान दूसरों से सुख की भीख माँगता है—यह कैसे शोभे? भगवान! तू यह क्या करता है? अपने उपयोग को अन्तर में ले जा, तुझे सुख निधान प्रभु आत्मा प्राप्त होगा। भाई! तेरे सुखी होने का यह एक ही उपाय है। धर्मी पुरुष अन्तर्मुख होकर परमभावस्वरूप इस एक को ही ध्याते हैं।

पर्याय की अपेक्षा से केवलज्ञानादि को परमभाव कहते हैं, पूर्ण दशा को परमभाव कहते हैं, परन्तु द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से तो त्रिकाल एकस्वरूप शुद्ध-पारिणामिकभाव ही परमभाव है। छठवीं गाथा में जिसे एक ज्ञायकभाव कहा, वही परमभाव है। ऐसा परमभावस्वरूप अखण्ड एक ज्ञायकभाव जिसका भाव है, वह निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ-ऐसा धर्मात्मा ध्याता है। धर्मात्मा

अपने को अरहन्तादि सर्वज्ञ परमात्मारूप नहीं ध्याते, वे तो अपने ही त्रिकाली आत्मा को "मैं परमात्मद्रव्य हूँ" — ऐसा ध्याते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं। प्रगटरूप सर्वज्ञ परमात्मा तो परद्रव्य है, उसे ध्याने से तो राग होता है।

प्रश्न : भगवान को तारण-तरण कहा जाता है न?

उत्तर : हाँ, भगवान को व्यवहार से तारण-तरण कहते हैं। जब तरनेवाला स्वयं अपने स्वरूप का अनुभव करके तरता है, तब भगवान को निमित्त होने के कारण व्यवहार से तारण-तरण कहा जाता है। ध्याता अपने आत्मा को अन्तर्मुखपने ध्यावे, यही मोक्ष के कारणरूप ध्यान है। कोई एकान्त से पर भगवान का ध्यान धरकर मोक्ष होना माने तो यह ठीक नहीं है।

भाई! यह तो अनन्त तीर्थङ्करों ने गणधरों और मुनिवरों के समक्ष धर्मसभा में जो फरमाया है, वही यहाँ दिगम्बर संत जगत के सामने प्रगट करते हैं। भगवान का यह संदेश है कि आत्मा स्वयं चिदानन्दघन प्रभु, सकल निरावरण, अखण्ड, एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय, अविनश्वर है; शुद्ध-पारिणामिक परमभाव लक्षण परमात्मद्रव्य है। अहा! मैं ऐसा निज परमात्मद्रव्य हूँ, ध्याता पुरुष ऐसा ध्याते हैं, भाते हैं और यही मोक्ष के कारण रूप ध्यान है। जिसमें अपना त्रिकाली शुद्ध आत्मा ही ध्येयरूप है, वह परमार्थ ध्यान है और वही मोक्ष के कारणरूप है।

देखा ? निज परमात्मद्रव्य ही मैं हूँ, परन्तु संवेदन की पर्याय मैं नहीं हूँ। सम्यग्दर्शन-ज्ञान की प्रगट पर्याय में निराकुल आनन्द का वेदन साथ में ही है, परन्तु वह पर्याय ऐसा भाती है कि यह त्रिकाली शुद्ध निज-परमात्मद्रव्य ही मैं हूँ, यह प्रगट पर्याय मैं नहीं हूँ। यद्यपि यह बात सूक्ष्म है; परन्तु इसको स्वीकार किए बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा।

अहाहा! धर्मी ऐसा भाता है कि अखण्ड एक निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ, परन्तु ऐसा नहीं भाता कि मैं भावश्रुतज्ञान हूँ। आनन्द के अनुभव सहित जो श्रुतज्ञान प्रगट हुआ वह एक समय की पर्याय है, इसलिये धर्मी पुरुष इसका ध्यान नहीं करता। पर्याय खण्डरूप विनश्वर है न? इसलिये धर्मात्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का ध्यान नहीं करता। अहा! ध्यान करनेवाली पर्याय है, परन्तु वह पर्याय का—भेद का ध्यान नहीं करती। वह अखण्ड, अभेद, एक

परमात्मद्रव्य को ही ध्याती है। धर्मात्मा की ध्यान की दशा एक ध्रुव को ही ध्याती है, वह भेद के सामने देखती ही नहीं। इसप्रकार धर्मी पुरुष निज-परमात्मतत्त्व को भाकर, ध्याकर ध्यान के फलरूप अविचल मोक्ष दशा को प्राप्त हो जाता है।

अरे रे! अज्ञानी ने अपने अन्तरंग परमात्मस्वरूप से इंकार करके अपने को मरण तुल्य कर दिया है! इसने अनंतकाल में अपनी दया नहीं की। जैसा अपना पूर्ण त्रिकाली ध्रुव चैतन्यतत्त्व है, वैसा उसे नहीं माना। उसने अपने को रागवाला और पुण्यवाला माना है, पर्यायदृष्टि करके अपने को पर्यायरूप माना है। इसप्रकार मानकर अज्ञानी ने स्वयं अपना ही घात किया है; क्योंकि वस्तु पर्यायमात्र नहीं है।

यहाँ कहते हैं—"मैं निज कारण परमात्मद्रव्य हूँ।" धर्मात्मा ऐसी भावना करता है, परन्तु "मैं खण्डज्ञानरूप हूँ", ऐसी भावना नहीं करता। अहा! समकिती को ज्ञान और आनन्द की निर्मल पर्याय प्रगटी है, उसे वह जानता है, पर उसकी भावना नहीं करता। निर्मल पर्याय के प्रति भी वह उदासीन है। भाई! शास्त्र की यह भाषा और भाव जिसकी समझ में आता है, उसे भवनाशिनी शुद्धात्मभावना प्रगट होती है। और यही इस 'तात्पर्यवृत्ति' का तात्पर्य है।

अब अन्त में कहते हैं —"विवेकीजनों को ऐसा जानना चाहिए कि — यह व्याख्यान परस्पर सापेक्ष आगम-अध्यात्म दोनों नयों के अभिप्राय के अविरोध से कहा गया सिद्ध होता है।"

देखो, भगवान के कहे हुए शास्त्रों में आगम और अध्यात्म के शास्त्र हैं। भगवान के द्वारा कहे हुए द्रव्यों का जिसमें निरूपण हो, उसे आगम कहते हैं। अनंत आत्मा हैं, अनंतानंत पुद्गलद्रव्य हैं, एक धर्मास्तिकाय, एक अर्धास्तिकाय, एक आकाश और असंख्यात कालाणु—इसप्रकार जाति से छह द्रव्य हैं और संख्या से अनंत हैं। जिसमें इन सबका निरूपण हो, वह आगम है, तथा जिसमें शुद्ध निश्चयस्वरूप आत्मद्रव्य और उसकी निर्मल पर्यायों का निरूपण हो, वह अध्यात्मशास्त्र है। आचार्य कहते हैं—यहाँ इन दोनों का सापेक्ष कथन किया है।

नयद्वय के अभिप्राय के अविरोधपूर्वक ही यहाँ कहने में आया है। इसलिये यह कथन सिद्ध है, निर्बाध है-ऐसा विवेकियों को जानना चाहिए। वर्तमान पर्याय में आनन्द का अनुभव होकर जो निर्विकल्प निर्मल भावनारूप दशा प्रगट हुई वह पर्यायार्थिकनय का—व्यवहारनय का विषय है, और जिसका लक्ष्य करके वह (निर्मलपर्याय) प्रगट हुई, वह त्रिकाली शुद्ध परमात्मद्रव्य शुद्ध-निश्चयनय का—द्रव्यार्थिकनय का विषय है। ऐसे नयद्वय के अविरोधपूर्वक सर्वकथन परस्पर सापेक्ष है। इसलिए यह कथन सिद्ध है, निर्दोष है, निर्बाध है—ऐसा विवेकी पुरुषों को जानना चाहिए। जिसे विवेक नहीं, वह भले जैसा रुचे वैसा माने, पर विवेकी पुरुषों को तो इसे प्रमाणरूप जानकर जैसे भवनाशिनी शुद्धात्मभावना प्रगट हो वैसे प्रवर्तना; क्योंकि ऐसी भावना द्वारा ही भव का नाश होकर सिद्धपद की प्राप्ति होती है।

इसप्रकार इस गाथा की जयसेनाचार्य कृत टीका पर प्रवचन पूरा हुआ। •

कुत एतत ?

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बन्ध मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥ ३२०॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव।
जानाति च बन्धमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्नि दर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंडवत्स्वयमौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंतविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदमयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च, किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति।

अब प्रश्न होता है कि (ज्ञानी कर्त्ता-भोक्ता नहीं है मात्र ज्ञाता ही है) यह कैसे है? इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं —

ज्यों नेत्र त्यों ही ज्ञान नहिं, कारक नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को॥

गाथार्थ—[यथा एव दृष्टिः] जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों को करता-भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है), [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानम्] ज्ञान [अकारकं] अकारक [अवेदकं च एव] तथा अवेदक है, [च] और [बंधमोक्षं] बन्ध, मोक्ष [कर्मोदयं] कर्मोदय [निर्जरां च एव] तथा निर्जरा को [जानाति] जानता ही है।

टीका—जैसे इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से दृश्य पदार्थ को न तो करता है

और न भोगता है। यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने पर संधुक्षण[१] की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व (जलाना) और लोहे के गोले की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए।[२] किन्तु केवल दर्शनमात्र स्वभाववाला होने से वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है; इसीप्रकार ज्ञान भी स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से कर्म को न तो करता है और न वेदता (भोगता) है, किन्तु केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला (जानने के स्वभाववाला) होने से कर्म के बन्ध को तथा मोक्ष को और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।

गाथा ३२० की आत्मख्याति पर प्रवचन

शिष्य पूछता है कि — ज्ञानी अनेक तरह के विकल्प करता हुआ, उन्हें वेदता हुआ दिखता है और आप कहते हैं कि वह करता नहीं, भोगता नहीं—ऐसा कैसे हो सकता है? ऐसे विस्मयकारी स्वभाव को जानने की जिसे अन्तर में जिज्ञासा जगी है, उस शिष्य को इस गाथा में दृष्टांतपूर्वक उत्तर देते हैं।

"जिसप्रकार इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने में असमर्थ होने से उन दृश्य पदार्थों को करता नहीं और वेदता नहीं ..."

यहाँ पहले जगत का अस्तित्व सिद्ध किया है, छह द्रव्यमय जगत की मौजूदगी बताई है। जगत है—इसप्रकार उसकी अस्ति सिद्ध करके यह कहा है कि नेत्र उस आस्त रूप दृश्य पदार्थ से अर्थात् देखने योग्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है। यह आँख जिस पदार्थ को देखती है, उससे अत्यन्त भिन्न है, इसलिए वह आँख उसे करने और वेदने में असमर्थ है। देखो, यहाँ यह सिद्धान्त कहा कि — दृश्य पदार्थ से आँख भिन्न है और आँख से दृश्य पदार्थ भिन्न हैं। जहाँ

---

१. संधुक्षण—संधुकण; अग्नि जलानेवाला पदार्थ; अग्नि को चेतानेवाली वस्तु।

२. यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए; और नेत्र को अग्नि की ऊष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता और भोक्ता नहीं है।

परस्पर ऐसी भिन्नता है, वहाँ आँख भिन्न वस्तु को कैसे करे और कैसे वेदे? जो पदार्थ अपने से अभिन्न होते हैं, उन्हीं में कर्तृत्व और भोक्तृत्व संभव है। जिसे आँख स्पर्श भी नहीं करती, उसे वह करे और भोगे — यह कैसे संभव है? भाई! आँख जगत की चीज को देखती है, पर वह जगत की उस दृश्य वस्तु को करती नहीं और वेदती भी नहीं।

अतः स्पष्ट है कि भिन्नपने के कारण आँख दृश्य पदार्थ को करती और वेदती नहीं है। यदि करे और वेदे तो अग्नि को देखने से सन्धुक्षण अर्थात् ईंधन की तरह आँख को अग्नि का कर्त्तापना व भोक्तापना आ जायेगा। जैसे — सन्धुक्षण सुलगता है अर्थात् ईंधन वैसे ही आँख को भी अग्नि को प्रज्वलित करने का प्रसंग आ जाएगा, अर्थात् जिस पदार्थ पर नजर पड़ेगी, उस पदार्थ के सुलगने का प्रसंग आएगा; और यदि आँख पर को वेदे तो जैसे लोहे का गोला अग्नि में ऊष्ण हो जाता है, वैसे अग्नि को देखने मात्र से आँख अग्निमय हो जाएगी, जलने लगेगी। यदि आँख भिन्न वस्तु का अनुभव (वेदन) करे तो आँख से भिन्न अग्नि के देखने मात्र से आँख अग्निमय हो जाएगी; उसे लोहे के गोले की तरह अग्नि का अनुभव दुर्निवार हो जाएगा।

देखो, यहाँ दो बातें की हैं—एक तो यह कि — यदि आँख पर को—भिन्न वस्तु को करे तो जैसे सन्धुक्षण (ईंधन) अग्नि को करता है, वैसे ही आँख की जहाँ नजर पड़े, वहाँ उसी पदार्थ में अग्नि प्रगट हो जाए। यदि आँख पर को करे तो जैसे सन्धुक्षण द्वारा अग्नि जलती है वैसे आँख के द्वारा अग्नि जलना चाहिए।

दूसरी बात यह है कि यदि आँख पर को वेदे तो अग्नि को देखने मात्र से ही आँख को अग्नि की उष्णता का अनुभव होना चाहिए, पर ऐसा नहीं है, अर्थात् आँख अग्नि को देखती तो है, पर वह अग्नि का अनुभव नहीं करती। यदि वह उसमें एकाकार हो तो अनुभव हो, पर अग्नि तो आँख से भिन्न चीज है। आँख भिन्न वस्तु को करती भी नहीं और वेदती भी नहीं।

आचार्यदेव कहते हैं —'ऐसा तो नहीं होता' अर्थात् आँख से कोई जलता भी नहीं और आँख अग्नि को वेदती भी नहीं। देखने योग्य पदार्थ को आँख

देखे; — इतना सम्बन्ध तो है, पर उसे करे और भोगे—ऐसा सम्बन्ध नहीं है। इसलिए दृश्य पदार्थ को नेत्र करता भी नहीं और वेदता भी नहीं।

देखो? आँख का तो केवल देखना स्वभाव है। इसलिए वह सबको केवल देखती ही है; किसी को करे या वेदे—ऐसा नहीं है। यदि करे और वेदे तो देखने मात्र से ही वह दृश्य पदार्थ में अग्नि को करे और स्वयं ही अग्नि को वेदे; परन्तु आँख अग्नि को करती नहीं तथा अग्नि को देखने पर जलती भी नहीं, इसलिए आँख सबको देखती ही है, किसी को करती नहीं, वेदती भी नहीं। यह दृष्टान्त कहा। अब इसे सिद्धान्त में उतारते हैं।

ज्ञान अर्थात् ज्ञान स्वभावी आत्मा नेत्र की तरह देखनेवाला है, वह पर को देखता है—ऐसा व्यवहार संबंध है। आँख जैसे पर को—दृश्य को देखती है, वैसे भगवान आत्मा पर को देखता जरूर है; परन्तु देखने के अलावा पर का करना और वेदना उसमें नहीं है।

अहाहा! नेत्र की तरह, ज्ञान अर्थात् भगवान आत्मा पर को देखता तो है; किन्तु करता नहीं है। पर को देखता है — ऐसा कहना व्यवहार है। इतना व्यवहार यहाँ स्वीकार किया है।

प्रश्न : जैसे आत्मा पर को देखता है — ऐसा व्यवहार है, वैसे पर को करता है — ऐसा व्यवहार भी होना चाहिए न?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। आँख पर को देखती है इससे आँख—अग्नि वगैरह को करती है या वेदती है—ऐसा नहीं है, इसीप्रकार भगवान आत्मा पर को देखता, जानता तो है; इतना तो व्यवहार संबंध है, पर अन्य को करे या वेदे—ऐसा सम्बन्ध नहीं है।

अहाहा! भगवान आत्मा कर्म से अत्यन्त भिन्न है। अकेला भिन्न ही नहीं, अत्यन्त भिन्न है। जैसे आँख दृश्य पदार्थ से भिन्न है, वैसे शुद्ध-चिदानन्दमय चैतन्यरत्नाकर प्रभु कर्म से अत्यन्त भिन्न है, पर पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है। अत्यन्त भिन्नपने के कारण, जैसे आँख दृश्य पदार्थ को देखती है, परन्तु करती-वेदती नहीं है; वैसे ही भगवान आत्मा पर पदार्थ को देखे-जाने जरूर, परन्तु पर को करता या भोगता नहीं है।

प्रश्न : आत्मा देखने-जानने की अपनी क्रिया करता है तो फिर साथ में पर का भी करता है या नहीं?

उत्तर : आत्मा अपने निर्मल परिणामों का कर्ता-भोक्ता है। यहाँ निर्मल परिणाम को करने-भोगने की ही बात है, मलिन की बात नहीं। आत्मा परको देखे-जाने इतने संबंध मात्र से पर को करे और पर को वेदे—ऐसा अर्थ कहाँ से आया? पर को देखना, इतना तो इसका संबंध है, परन्तु इतने संबंध मात्र से उसका पर का कर्ता होना संभव नहीं है। क्या वह हाथ-पैर को हिलाता है? आँख को हिलाता है या भाषा बोलता है? जो चीज है उसे देखता है, परन्तु देखने पर भी वह पर का कुछ कर दे — ऐसा नहीं है। आत्मा देखनेवाला होने पर भी कर्म से अत्यन्त भिन्नपने के कारण कर्म को नहीं करता, रागादि को नहीं करता।

ज्ञान अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा का व्यवहार से पर को देखने-जानने का संबंध तो है; पर निश्चय से उसमें देखने के अलावा परवस्तु को करने-वेदने की असमर्थता है। इसलिए ज्ञान अर्थात् आत्मा कर्म को करता या वेदता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि — स्वयं दुकान पर बैठा हो और माल आए-जाए, पैसा आए और जाए; तो आत्मा का इन सबके साथ देखने मात्र का संबंध है, अर्थात् आत्मा इन्हें मात्र जानता है, जानने के साथ-साथ वह सबको करे और वेदे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। जैसे — आँख अग्नि वगैरह दृश्य पदार्थ में कुछ करती नहीं, वैसे भगवान आत्मा कर्म या कर्म से प्राप्त चीजों में कुछ करता या वेदता नहीं है।

आत्मा का केवल ज्ञानमात्र स्वभाव है, जाननमात्र स्वभाव है, रागादि करने का आत्मा का स्वभाव नहीं; परवस्तु का करना तो कहीं दूर रहा, राग करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। केवल ज्ञानस्वभाव कहा न? अर्थात् जाने सबको, परन्तु करे किसी को नहीं, ऐसी बात है। विषयवासना के काल में संयोग को देखे, पर वह संयोग को ओर संयोगीभावरूप वासना को करता नहीं, भोगता नहीं। आत्मा सामने की वस्तु को करता और भोगता हुआ दिखता है; परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मा का ज्ञानमात्र स्वभाव होने से वह पर का करता और भोगता नहीं है।

प्रश्न : यहाँ ज्ञान को ज्ञानस्वभाववाला कहकर क्या एकान्त नहीं किया है?

उत्तर : वापू! ये तो सम्यक् एकान्त है; क्योंकि भगवान आत्मा का एकान्त ज्ञानस्वभाव ही है। कथंचित् ज्ञानस्वभाव और कथंचित् कर्ता-स्वभाव, ऐसा आत्मवस्तु का स्वरूप ही नहीं है, ऐसा ज्ञान का स्वरूप ही नहीं है।

प्रश्न : कथंचित् बंध-मोक्ष का कर्तापना कहो तो अनेकान्त हो ?

उत्तर : भाई! ऐसा नहीं है; भगवान आत्मा केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से जानने कि क्रिया तो करे; पर जिसतरह वह वंध-मोक्ष को नहीं करता, इसीप्रकार वह राग को भी नहीं वेदता। ज्ञान वंध को या राग को जाने तो, पर उसे वह करे या वेदे नहीं। जव रागादि का ही कर्ता नहीं तो जवाहरात, हीरा, माणक-मोती और कपड़ा वगैरह का करना तो कहीं दूर रह गया।

अहाहा! यह आत्मा एक रजकण से लेकर सारी दुनिया को जानता है, परन्तु जानने के संवंध मात्र से इसे पर को तथा राग को करने और वेदने का संवंध हो जाये—ऐसी वस्तु नहीं है। ज्ञानस्वभावी वस्तु वहुत सूक्ष्म है। लोग तो इसे स्थूल संयोग के और राग के संवंध से मानते हैं, पर यहाँ कहते हैं कि राग से और पर से भिन्न शुद्ध ज्ञानतत्व केवल ज्ञानमात्र स्वभाववाला है। इसलिये वह कर्म के वन्ध को मात्र जानता ही है। अहा! कहते हैं कि — कर्म का जो वंध होता है, उसे परज्ञेय रूप से जानता है, परन्तु करता या भोगता नहीं है। शुभभाव के पक्षवालों को यह वात कठिन पड़ सकती है, पर क्या करें? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

आत्मा को ज्ञानमात्र स्वभाववाला कहा, इससे ऐसा नहीं समझना कि आत्मा में अकेला ज्ञान है, इसमें अन्य अनन्त गुण भी साथ ही अविनाभाव रूप से रहते हैं—ऐसा जानना। इसमें राग का या पर करना नहीं, इसलिये 'ज्ञानमात्र भाववाला' कहा है। यह वोले नहीं, खाये नहीं, चले नहीं, अन्य को उपदेश दे नहीं, अन्य से उपदेश ले नहीं, पर का कुछ करे नहीं; ऐसा ज्ञानमात्र तत्व आत्मा है।

यहाँ कहते हैं—केवल 'ज्ञानमात्र' स्वभाववाला होने से आत्मा कर्म के वंध को करता नहीं, मात्र जानता ही है। देखो, शास्त्र में आता है कि चौथे गुणस्थान

में इतनी प्रकृति सत्ता में होती हैं, इतनी का उदय होता है, इतनी प्रकृतियाँ बँधती हैं और इतनी की उदीरणा होती है; परन्तु भाई! जो कुछ होता है आत्मा तो, उसे मात्र जानता ही है, करता नहीं। कर्म के उदयादि नजदीक की चीज को भी मात्र जानता ही है, करता नहीं, तो फिर पर चीज को करे, यह बात कहाँ रही? बोलना, चलना, पर की मदद करना, पर से मदद लेना आदि पर की क्रिया करना आत्मा के स्वरूप में नहीं है।

देखो, इसमें एक 'भाव' नाम का गुण है। इस गुण के कारण उसे प्रतिसमय नियत पर्याय होती ही है। जब ऐसे द्रव्य का स्वीकार हुआ तब पर्याय में जो बंध आदि है, उसे वह जानता ही है, करता नहीं। उसे गुणस्थान के अनुसार कर्म का उदय आता है और उदीरणा होती है, परन्तु इसे वह करता नहीं। अहाहा! यह ३२० गाथा बहुत ऊँची है, आखिरी हद है। बहुत खींचकर भी हम कहें तो यह कह सकते हैं कि आत्मा जानता देखता है। वास्तव में तो (पर का) जानना-देखना भी व्यवहार है।

अहाहा! आत्मा स्वयं अपने को जानता है—यह निश्चय है और पर को जानता है—यह व्यवहार है। पर को करे और वेदे-यह तो बात ही नहीं है। भाई! यहाँ तो यह कहना है कि यदि तू अधिक आग्रह करे तो बस इतना रख कि यह पर को देखता-जानता है, पर का करना और वेदना तो आत्मा में है ही नहीं। ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा मोक्ष को करता है—ऐसा भी नहीं है।

प्रश्न : तो इसका पुरुषार्थ क्या हुआ ?

उत्तर : बापू! आत्मा जानता है, यही इसका पुरुषार्थ है। जानना इसका स्वभाव है, इसलिये जानने के प्रति वीर्य जागृत हो, यही पुरुषार्थ है; क्योंकि मैं करूँ तो पर्याय (पर का कार्य) हो—ऐसा वस्तु के स्वरूप में कहाँ है?

ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से आत्मा बन्ध को नहीं करता तथा मोक्ष को भी नहीं करता। यदि मोक्ष की पर्याय उस काल में होने वाली हो तो होती है। जो हो ही रही हो, उसे करना क्या? जाननेवाले को मोक्ष की पर्याय को भी करना कहाँ है? बापू! मोक्ष की पर्याय भी स्वयं होती है। जो 'है' उसे करना तो परस्पर विरुद्ध हो गया। उसे तो बस जानना ही है, यह वस्तुस्वरूप है।

द्रव्य सत् है, गुण सत् है और एक समय की पर्याय भी सत् है। मोक्ष की जो अवस्था होती है, वह सत् है। जो सत्पने होती ही है, उसे 'मैं करता हूँ' — यह मानना मिथ्या है? सत् है; जो 'है' रूप से है, उसे कोई क्या करे? अहा! जिसे यथार्थ द्रव्यदृष्टि हुई है, वह मोक्ष को भी जानता ही है, मोक्ष को करता नहीं। आत्मा ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से बन्ध को तथा मोक्ष को नहीं करता, मात्र जानता ही है।

आगे कहते हैं—"**आत्मा ज्ञानमात्र स्वभाववाला होने से कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।**" अहाहा! कर्म का उदय भी है, उदय को आत्मा पररूप से ही जानता है। निर्जरा को भी बस जानता ही है, करता नहीं।

अशुद्धता का गलना, शुद्धता का बढ़ना और कर्म का खिर जाना—इसप्रकार निर्जरा तीन प्रकार की है। इसमें अशुद्धता का गलना व्यवहारनय से है और कर्म का टलना असद्भूत व्यवहारनय से है। शुद्धता का बढ़ना वास्तविक निर्जरा है। एक समय में ये तीनों ही हैं। इन्हें करना क्या? शुद्धता का बढ़ना एक समय का सत् है, यह पर्याय सत् - विद्यमान ही है, इसे करना क्या? अहाहा! शुद्धोपयोग की स्थिरता होने पर शुद्धता का बढ़ना होता है। जो है, उपजता है, उसे करना क्या? जैसे मोक्ष उपजता है, वैसे निर्जरा भी उत्पन्न होती है। जो अपना अस्तित्व लेकर उत्पन्न होता है, उसे करने की बात ही कहाँ रही, इसलिए वह निर्जरा को भी नहीं करता, मात्र जानता ही है।

अहाहा! पर्याय के क्रमबद्ध प्रवाह में अपने स्वकाल में निर्जरा होती है, उसे करना क्या? यह बात लोगों की समझ में आती नहीं है, इसलिये ऐसा कहते हैं और ऐसा ही मानते भी हैं कि दूसरों की सहायता करना, गरीबों के आँसू पोंछना, एक-दूसरे की मदद करना, अन्न, वस्त्र, औषधि देना धर्म है। 'जनसेवा ही प्रभुसेवा है' ऐसा भी कहते हैं; क्योंकि अनन्त काल से उनकी दृष्टि पराधीन है, परन्तु बापू! यह तो विपरीत दृष्टि है। यह वीतरागता का मार्ग नहीं है। भूमिकानुसार यह भाव भी आते हैं, परन्तु ये तो शुभभाव हैं, धर्म नहीं।

जैसे ज्ञानस्वभावी त्रिकाली आत्मद्रव्य सहज सत् है, वैसे ही उसकी एक समय की पर्याय भी वर्तमान सत् ही है। जैसे त्रिकाली को करना नहीं, वैसे

वर्तमान वर्तती पर्याय को भी नहीं करना है। जैसे आत्मवस्तु त्रिकाल सत् है वैसे निर्जरा और मोक्ष की पर्याय भी उस-उस काल में सत् ही है। अब जो सत्पने 'है', इसे क्या करना? इसे मात्र जानना है। अहा! गजब की बात है। यह सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार है न? यहाँ तो ज्ञानरूप पर्याय निर्जरा और मोक्ष को जानती है—ऐसा कहा है। करती है — ऐसा नहीं कहा, परन्तु वास्तव में तो निर्जरा को और मोक्ष को उस-उस काल में जाने—ऐसी जाननेरूप जो पर्याय स्वतः होने वाली ही है, वही होती है। क्या कहा? निर्जरा और मोक्ष की पर्याय उस-उस काल में विद्यमानरूप से है, उसे ज्ञान जानता है—ऐसा कहा जाता है, परन्तु जानने की पर्याय भी उस काल में उसी प्रकार सत् है। निर्जरा और मोक्ष है, इसलिये उसे जाननेवाली पर्याय है—ऐसा ज्ञान की पर्याय में ऐसी पराधीनता नहीं है।

भाई! यहाँ तो पर्याय को सत्रूप से सिद्ध करते हैं। एक समय की ज्ञान की पर्याय है, परवस्तु भी है; जो है उसे ज्ञान जानता है—ऐसा भले कहो, वास्तव में तो जाननेरूप पर्याय भी उस काल में सत् ही है। परवस्तु है, पर्याय है, इसलिये ज्ञान उसे जानता है—ऐसा नहीं है। जो है, उसे उसी काल में उसी प्रकार से जाने—ऐसी ज्ञान की पर्याय भी स्वयं सत् है। अन्य वस्तु है, इसलिये वह उसे जानती है—ऐसा नहीं है। जानने वाली पर्याय अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखती। वह स्वयं अपने क्रम में जानने रूप में अपने से ही विद्यमान है। अन्य को जानती है—ऐसा कहना तो व्यवहार है।

यहाँ चार बोल लिये हैं। अब बाकी क्या रहा? बन्ध, मोक्ष, उदय और निर्जरा को उस-उस काल में ज्ञान जानता ही है। राग (बन्ध) होता है, उसे उस काल में ज्ञान स्वयं अपने से जानता हुआ प्रगट होता है। राग और बंध है, इसलिये ज्ञान जानता है—ऐसी अपेक्षा ज्ञान को नहीं है। राग की—बन्ध की अपेक्षा रखकर जानने की पर्याय होती है—ऐसा नहीं है। वास्तव में इसे ज्ञान जानता है—ऐसा कहना व्यवहार है। अहाहा! अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें, बन्ध, मोक्ष आदि को उस-उस काल में ज्ञान की पर्याय उस-उस रूप से स्वयं जानती है—इसप्रकार वह स्वतः स्वतन्त्र उत्पन्न होती है।

कुछ लोग कहते हैं—जो आत्मा को पर का करता न माने वह दिगम्बर जैन नहीं। अरे प्रभु! यह तू क्या कहता है? ये दिगम्बराचार्य क्या कहते हैं? यह तो देख! तू कर्त्ता तो नहीं, पर वास्तव में तो पर का जाननेवाला भी नहीं है। जाननेवाली पर्याय जाननेवाले को जानती हुई सत्पने उत्पन्न होती है। यहाँ तो ज्ञान बन्ध, उदय आदि को जानता है—ऐसा व्यवहार सिद्ध किया है। जाननेवाली पर्याय और बन्ध-मोक्ष आदि पर्याय तथा अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें अक्रम से (एक साथ ही) उत्पन्न होती हैं, उन्हें उस-उस काल में उसीप्रकार से ज्ञान जानता है—यह व्यवहार है।

प्रश्न : 'जानने' में गर्भितरूप से कर्त्तापना भी आया कि नहीं?

उत्तर : अहा! जानूँ अर्थात् जाननेरूप क्रिया करूँ — ऐसा भी नहीं है। ये जानने की पर्याय उस काल में सहजपने ही सत्रूप है और होती है। अब जहाँ ऐसा वस्तुस्वरूप है, वहाँ मैं यह करूँ और वह करूँ, मैंने बच्चों को पाला-पोषा और बड़ा किया, मैंने व्यापार-धंधा किया और बहुत पैसा कमाया—यह बात ही कहाँ रहती है? बापू! यह तो सब मिथ्या कल्पना ही है।

"जहाँ ज्ञानपर्याय अपनी निर्जरा और मोक्ष की पर्याय को भी जानने का ही काम करती है" — यह भी कथनमात्र है, वहाँ परपदार्थ को—रजकणों को और स्कंध को यह आत्मा पलटावे-यह बात ही कहाँ रहती है? आत्मा रोटी बनाये और खाये तथा व्यापार करे—ये सब बातें झूठ ही हैं। बापू! ये रोटी वगैरह पर्याय तो उस-उस समय की सत् है, इसलिये इसप्रकार परिणमन होता है। उसमें तेरे हेतु की कहाँ जरूरत है? और उस-उस काल में ज्ञान उसे ऐसा ही जानता है, इसमें उस पर्याय की कहाँ अपेक्षा है? यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि भगवान! तू ज्ञानस्वरूप है तो तू इन्हें (बंध-मोक्ष आदि को) जाने-बस इतना मान। तू इन्हें करे और वेदे—यह तेरा स्वरूप ही नहीं है।

प्रश्न : एकेन्द्रिय आदि की रक्षा करो, हिंसा न करो; क्या यह जैन का मार्ग नहीं है?

उत्तर : भाई! ये सब व्यवहार के वचन हैं। क्या तू अन्य जीव की रक्षा कर सकता है? उस-उस काल में हिंसा होने वाली है ही नहीं, रक्षा होने वाली है,

उसे ज्ञान जानता है। वह भी परजीव की रक्षा होती है—इसकी अपेक्षा रखकर ज्ञान नहीं होता। अहाहा! सत् का ऐसा अलौकिक स्वरूप है।

श्री योगीन्द्रदेव भी कहते हैं —

ण वि उपज्जइ ण वि मरइ, बन्धु ण मोक्खु करेइ ।
जिउ परमत्थे जोइया, जिणवर एउ भणेइ ॥

श्री जयसेनाचार्य ने इसकी टीका करते हुए लिखा है कि '**जिनवर ऐसा कहते हैं**'; परन्तु भाई! वाणी, वाणी के कारण से खिरती है, परन्तु भगवान उस काल में निमित्त है; वैसे वाणी भी उस काल में स्वतः विद्यमान है। (वह भी किसी अन्य के कारण नहीं है।) यह तो सर्वोत्कृष्ट निमित्त का ज्ञान कराने के लिये कहा कि "जिणवर एउ भणेइ"।

जिनवर कहते हैं—योग को आत्मा में जोड़ने वाले हे योगी! परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं और बन्ध तथा मोक्ष को करता भी नहीं। इसका अर्थ ही यह हुआ कि आत्मा का जो ज्ञानमात्र स्वभाव है, उसकी तरफ जहाँ जानने का लक्ष्य हुआ, वहाँ सब छूट गया। बस जो है, उसे यह जानता ही है। निर्जरा को और मोक्ष को भी ये जानता ही है। साधकदशा के काल में निर्जरा को जाने और साध्य-काल में मोक्ष को जाने, बस जाने इतना ही, वहाँ जानने की पर्याय भी उस काल में वैसी ही अपने से उत्पन्न होती है।

यहाँ कहते हैं—परमार्थ से जीव उपजता नहीं और मरता भी नहीं। किसमें उत्पन्न नहीं होता? तो कहते हैं कि पर्याय में उत्पन्न नहीं होता है; क्योंकि परमार्थ से उसमें उत्पाद भी नहीं और व्यय भी नहीं। प्रवचनसार गाथा १०२ में आया है कि जो पर्याय उत्पन्न होती है उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं है। अब जहाँ इसे अपने ध्रुव की भी अपेक्षा नहीं, वहाँ पर की अपेक्षा की तो बात ही कहाँ रही? बन्ध-मोक्ष इत्यादि जैसा ज्ञेय हो, ज्ञान वैसा ही उस काल में जानता है, पर उसे (ज्ञान की पर्याय को) बंध-मोक्ष आदि ज्ञेय की अपेक्षा नहीं है। अहाहा! जाननेवाले ज्ञान में, जानने योग्य ज्ञेय बराबर आये, इसलिये ज्ञान उसे जानता है—ऐसी अपेक्षा लेकर ज्ञानपर्याय उत्पन्न नहीं होती है।

पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण ज्ञानघन ज्ञानस्वभावमय भगवान आत्मा है, उसकी पर्याय में (ज्ञानपर्याय में) अनन्त पर्यायें और द्रव्य-गुण ज्ञात होते हैं; वे पर्यायें सहज होती हैं, उन्हें मैं उत्पन्न करता हूँ—ऐसा नहीं है। बन्ध को, मोक्ष को, उदय को, निर्जरा को केवल जानता हूँ, जो है उसे मात्र जानता ही हूँ, परन्तु करता हूँ या भोगता हूँ—ऐसा नहीं है। पर की दया करना और पर की मदद करना इत्यादि बातें तो अत्यन्त तत्त्व-विरुद्ध है; यह यथार्थ मार्ग नहीं है।

अब, जो जैन साधु भी सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं, उनका निषेध करते हुए आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं —

(अनुष्टुभ्)

ये तु कर्तारमात्मानं, पश्यंति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां, न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥ १९९ ॥

श्लोकार्थ : [**ये तु तमसा तताः आत्मानं कर्तारम् पश्यन्ति**] जो अज्ञान-अंधकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्ता मानते हैं, [**मुमुक्षताम् अपि**] वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों; तथापि [**सामान्यजनवत्**] सामान्य (लौकिक) जनों की भाँति [**तेषां मोक्षः न**] उनकी भी मुक्ति नहीं होती॥ १९९ ॥

कलश १९९ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि जो जैन साधु भी सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को पर का कर्ता ही मानते हैं, वह मिथ्या है उनकी इस मिथ्या मान्यता का निषेध करनेवाला और आगामी तीन गाथाओं का सूचक यह श्लोक है —

भगवान आत्मा तो एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी ही है। अपने ऐसे ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप को न जानकर अज्ञान से राग की क्रियायें—(दया-दान-व्रत-भक्ति आदि) करना मेरा स्वभाव है, अर्थात् ये क्रियायें करना मेरा कर्तव्य है—ऐसा जो मानते हैं, वे मूढ़ मिथ्यादृष्टि हैं।

मैं छह काय के जीवों की रक्षा कर सकता हूँ और यह मेरा कर्तव्य है—ऐसी जिसकी मान्यता है, वे भले बाहर से जैन मतानुयायी हों, द्रव्य चारित्र

पालते हों, देव-शास्त्र-गुरु की विनय-भक्ति करते हों तथा शास्त्रों में पारंगत हों, तो भी अपने आत्मा को राग का कर्ता माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं।

ऐसी मान्यतावाला पुरुष भले ही मुमुक्षु हो, मोक्ष का बांछक हो, तो भी सामान्य जनों की भाँति-तापस आदि अन्य मतों के साधुओं की भाँति ही उनका भी मोक्ष नहीं होता।

यह सुनकर किसी को बुरा लगे तो हम क्या करें? किन्तु यह किसी के अनादर करने की बात नहीं है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है।

भले, पाप का कर्ता हो या पुण्य का कर्ता हो - दोनों एक जैसे ही विपरीत दृष्टिवाले हैं; क्योंकि भगवान आत्मा तो अकर्ता स्वभावी है। ज्ञाता-दृष्टा है। इस कारण जो आत्मा को पुण्य का कर्ता मानते हैं, वे भी अन्य लौकिक मिथ्यादृष्टियों की भाँति मोक्ष प्राप्त नहीं करते।

लोयस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए ॥ ३२१ ॥
लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि ॥ ३२२ ॥
एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोयसमणाणं दोण्हं पि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥ ३२३ ॥

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान् ।
श्रमणानामपि चात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥ ३२१ ॥
लोकश्रमणानामेकः सिद्धान्तो यदि न दृश्यते विशेषः ।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥ ३२२ ॥
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि ।
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान् ॥ ३२३ ॥

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्यपसिद्धांतस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।

अब इसी अर्थ को काव्य द्वारा कहते हैं :—

ज्यों लोक माने "देव, नारक आदि जीव विष्णु करे" ।
त्यों श्रमण भी माने कभी, "षट्काय को आत्मा करे" ॥ ३२१ ॥
तो लोक-मुनि सिद्धांत एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे ।
विष्णु करे ज्यों लोकमत में, श्रमणमत आत्मा करे ॥ ३२२ ॥
इस भाँति लोक-मुनि उभय का मोक्ष कोई नहिं दिखे ।
जो देव, मानव, असुर के त्रयलोक को नित्यहि करे ॥ ३२३ ॥

गाथार्थ : [लोकस्य] लोक के (लौकिक जनों के) मत में [सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्] देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य-प्राणियों

को [**विष्णुः**] विष्णु [**करोति**] करता है; [**च**] और [**यदि**] यदि [**श्रमणानाम् अपि**] श्रमणों (मुनियों) के मन्तव्य में भी [**षड्विधान् कायान्**] छह काय के जीवों को [**आत्मा**] आत्मा [**करोति**] करता हो [**यदि लोकश्रमणानाम्**] तो लोक और श्रमणों का [**एकः सिद्धान्तः**] एक ही सिद्धान्त हो गया, [**विशेषः न दृश्यते**] उनमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता; (क्योंकि) [**लोकस्य**] लोक के मत में [**विष्णुः**] विष्णु [**करोति**] करता है [**श्रमणानाम् अपि**] और श्रमणों के मत में भी [**आत्मा**] आत्मा [**करोति**] करता है। (इसलिये कर्तृत्त्व की मान्यता में दोनों समान हुए)। [**एवं**] इसप्रकार, [**सदेवमनुजासुरान् लोकान्**] देव, मनुष्य और असुर लोक को [**नित्यं कुर्वताम्**] सदा करते हुए (अर्थात् तीनों लोक के कर्ताभाव से निरन्तर प्रवर्तमान) ऐसे [**लोकश्रमणानां द्वयेपाम् अपि**] वे लोक और श्रमण-दोनों का भी [**कोऽपि मोक्षः**] कोई मोक्ष [**न दृश्यते**] दिखाई नहीं देता।

टीका : जो आत्मा को कर्ता ही देखते—मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता का अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि, लौकिक जनों के मत में परमात्मा विष्णु देवनारकादि कार्य करता है, और उन (लोकोत्तर भी मुनियों) के मत में अपना आत्मा वे कार्य करता है—इस प्रकार (दोनों में) अपसिद्धान्त की समानता है। इसलिये आत्मा के नित्य कर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण, लौकिक जनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।

भावार्थ : जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मुनि हो गये हों तथापि वे लौकिकजन जैसे ही हैं; क्योंकि, लोक ईश्वर को कर्ता मानता है और उन मुनियों ने आत्मा को कर्ता माना है—इस प्रकार दोनों की मान्यता समान हुई। इसलिये जैसे लौकिक जनों का मोक्ष नहीं होता उसीप्रकार उन मुनियों को भी मुक्ति नहीं है। जो कर्ता होगा वह कार्य के फल को भी अवश्य भोगेगा और जो फल को भोगेगा उसकी मुक्ति कैसी?

गाथा ३२१ से ३२३ की टीका एवं भावार्थ पर प्रवचन

भगवान आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड प्रभु एक ज्ञाता-दृष्टा स्वभावमय है। अपने ऐसे निज स्वभाव को भूलकर अपने में हो रहे पुण्य के भावों का कर्ता

स्वयं को मानता है, वह भले ही श्रावक या मुनि ही क्यों न हो, तो भी लौकिक मान्यता का अतिक्रमण नहीं कर पाता। वह भी लौकिक जन जैसा ही है, क्योंकि लौकिक मान्यता में जैसे ब्रह्मा, विष्णु आदि को जगत का कर्ता माना जाता है, वैसा ये भी स्वयं को रागादि एवं पर द्रव्य का कर्ता मानते हैं।

प्रवचनसार की गाथा २३६ की टीका में कहा है कि स्व-पर के विभाग के अभाव के कारण काया और कषायों के साथ एकता का अध्यवसाय करनेवाले ऐसे वे जीव, विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं होने से छह जीव-निकाय के घाती होकर सब ओर से प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये उनके सर्वत: निवृत्ति का अभाव है।"

भगवान आत्मा चैतन्य विम्ब जो चैतन्य प्रकाश का नूर है, वह रागरूप अंधकार को कैसे करे? क्या प्रकाश अंधकार का कर्ता होता है? जो अंधकार का नाशक स्वभावी है, वह अंधकार का कर्ता कैसे हो सकता है? फिर भी यदि कोई ऐसा माने कि - दया, दान, व्रत, भक्ति शुभभावों का मैं कर्ता हूँ तो वह मिथ्या श्रद्धा से स्वयं को ठगता है, अपना ही नाश करता है।

अब कहते हैं कि भाई! जिसतरह यह छह द्रव्यमय लोक अनादि-अनंत स्वयं सिद्ध है, उसका कोई कर्ता नहीं है; उसीप्रकार रागादि का कर्ता भी आत्मा नहीं है। फिर भी अज्ञानी राग करने को अपना स्वभाव मानता है; इस कारण वह आत्मा को राग का नित्य कर्ता मानते हुये निरन्तर राग के कर्तव्य में रुका या अटका रहेगा तथा इस फल में चार गतियों में भ्रमण करेगा।

अहा···! अपने को राग का कर्ता माननेवाला भले ही लोकोत्तरमार्गी - मुनि ही क्यों न हो, वह भी लौकिकजन अर्थात् अजैनों की भाँति मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।

अब आगे के श्लोक में यह कहते हैं कि परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है? इसलिये उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है।

(अनुष्टुभ्)

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः॥ २००॥

श्लोकार्थ : [परद्रव्य-आत्मतत्त्वयोः सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति] परद्रव्य और आत्मतत्त्व का (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है; **[कर्तृ-कर्मत्व-सम्बन्ध-अभावे]** इसप्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से **[तत्कर्तृता कुतः]** आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है?

भावार्थ : परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसप्रकार जहाँ कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है? ॥ २०० ॥

कलश २०० पर प्रवचन

इस लोक में अनन्त आत्मायें एवं अनन्तानंत पुद्‌गल द्रव्य हैं। इनमें एक का दूसरे के साथ कुछ भी संबंध नहीं है। परस्पर एक-दूसरे के बीच में अभाव है न ?

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणमन में निमित्त भले हों, परन्तु निमित्त कुछ करता नहीं है। स्व-द्रव्य के और पर-द्रव्य के चतुष्टय भिन्न-भिन्न हैं। स्वचतुष्टय में पर्याय भी आ जाती है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं से ही होती है, परद्रव्य के कारण किसी अन्य द्रव्य की पर्याय तीन काल में कभी होती ही नहीं है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि एक द्रव्य का प्रभाव दूसरे द्रव्य पर पड़ता है, परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है। भाई! यह प्रभाव क्या वस्तु है — द्रव्य है, गुण है या पर्याय है? लोक में इनके सिवाय अन्य तो कुछ है ही नहीं, और ये द्रव्य-गुण-पर्याय अपने-अपने स्वचतुष्ट्य में आ ही जाते हैं, जो कि परचतुष्टय से सर्वथा भिन्न और अप्रभावी हैं।

प्रश्न : निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो है न ?

उत्तर : हाँ है, परन्तु पहले यह तो जान लें कि निमित्त की पर्याय और स्वद्रव्य की पर्याय का परस्पर कौनसा संबंध है, कैसा संबंध है तथा निमित्त-नैमित्तिक संबंध का स्वरूप क्या है?

अरे भाई! निमित्त तो पर वस्तु का नाम है। वह अपने द्रव्य-पर्याय में सत् रूप से विद्यमान है, एक-दूसरे में प्रविष्ट हो - ऐसा तो वस्तु का स्वरूप है ही नहीं। ऐसी स्थिति में निमित्तरूप परद्रव्य आत्मा के स्वद्रव्य में क्या करे, कैसे करे, क्यों करे? जबकि वे दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। इसप्रकार वस्तुतः स्वद्रव्य का परद्रव्य के साथ किसी भी प्रकार कोई संबंध नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि कोई भी परद्रव्य की क्रिया नहीं कर सकता।

कलश २०० के भावार्थ पर प्रवचन

यद्यपि इस कलश की भाषा सीधी-सादी है, परन्तु भाव बहुत गंभीर है। कहा है कि परद्रव्य व आत्मतत्त्व का कोई भी संबंध नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप का ही कर्ता है, इसलिये एक-दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकते। आँख की पलक झपकाना भी आत्मा का कार्य नहीं है। एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता तो है ही नहीं, साथ ही एक का दूसरे पर प्रभाव भी नहीं पड़ता।

प्रश्न : नाग व नेवला तथा बाघ और गाय विरोधी और हिंसक भाव छोड़कर एक साथ भगवान की वाणी सुनने आते हैं या नहीं? यह अतिशय तो है या नहीं?

उत्तर : बापू! यह सब तो उपचार से कहा जाता है। वस्तुतः अतिशय के कारण वे शांत नहीं होते, वल्कि उस काल में उन जीवों की उस रूप होने की ही स्वतंत्र पर्यायगत योग्यता होती है, उस-उस समय भगवान की वाणी तो निमित्त मात्र है। भाई! उस पर्याय का वही जन्मक्षण है। आत्मा को परद्रव्य का कर्तापना तो त्रिकाल संभव ही नहीं है

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था ।
जाणंति णिच्छएण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि ॥ ३२४॥
जह को वि णरो जंपदि अम्हं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति जस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा ॥ ३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णीसंसयं हवदि एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि ॥ ३२६॥
तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोण्ह वि एदाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणेज्जो दिट्ठिरहिदाणं ॥ ३२७॥

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः ।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥ ३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम् ।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥ ३२५॥
एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः ।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ ३२६॥
तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम् ।
परद्रव्ये जानन् जानीयात् दृष्टिरहितानाम् ॥ ३२७॥

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढ़ाः परद्रव्यं ममेदमिति पश्यंति। ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यंति। ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः, तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात्। अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात्।

अब, "जो व्यवहार नय के कथन को ग्रहण करके यह कहते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है', और इस प्रकार व्यवहार को ही निश्चय मानकर आत्मा को

परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं", इत्यादि अर्थ की सूचक गाथायें दृष्टान्त सहित कहते हैं —

व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद् परद्रव्य को मेरा कहे।
"अणुमात्र भी मेरा न" ज्ञानी जानता निश्चय हि से ॥ ३२४॥
ज्यों पुरुष कोई कहे "हमारा ग्राम, पुर अरु देश है"।
पर वो नहीं उसका अरे! जीव मोह से "मेरा" कहे ॥ ३२५॥
इस रीत ही जो ज्ञानी भी 'मुझे' जानता परद्रव्य को।
वो जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्य को ॥ ३२६॥
इससे 'न मेरा' जान जीव, परद्रव्य में इन उभय की।
कर्तृत्वबुद्धी जानता, जाने सुदृष्टीरहित की॥ ३२७॥

गाथार्थ : [अविदितार्थाः] जिन्होंने पदार्थ के स्वरूप को नहीं जाना है ऐसे पुरुष [व्यवहारभाषितेन तु] व्यवहार के वचनों को ग्रहण करके [परद्रव्यं मम] 'पर द्रव्य मेरा है' [भणंति] ऐसा कहते हैं, [तु] परन्तु ज्ञानी जन [निश्चयेन जानंति] निश्चय से जानते हैं कि [किंचित्] 'कोई [परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र भी [न च मम] मेरा नहीं है'।

[यथा] जैसे [कः अपि नरः] कोई मनुष्य [अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्] 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट्र' [जल्पति] इस प्रकार कहता है, [तु] किन्तु [तानि] वे [तस्य] उसके [न च भवंति] नहीं हैं, [मोहेन च] मोह से [सः आत्मा] वह आत्मा [भणंति] 'मेरे हैं' इस प्रकार कहता है; [एवम् एव] इसी प्रकार [यः ज्ञानी] जो ज्ञानी भी [परद्रव्यं मम] 'परद्रव्य मेरा है' [इति जानन्] ऐसा जानता हुआ [आत्मानं करोति] परद्रव्य को निजरूप करता है, [एषः] वह [निःसंशयं] निःसंदेह अर्थात् निश्चयतः [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [भवति] होता है।

[तस्मात्] इसलिये तत्त्वज्ञ [न मे इति ज्ञात्वा] 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, [एतेषां द्वयेषाम् अपि] इन दोनों का (लोक का और श्रमण का)—[पर-द्रव्ये] परद्रव्य में [कर्तृव्यवसायं जानन्] कर्तृत्व के व्यवसाय को जानते हुए, [जानीयात्] यह जानते हैं कि [दृष्टिरहितानाम्] यह व्यवसाय सम्यग्दर्शन से रहित पुरुषों का है।

टीका : अज्ञानीजन ही व्यवहारविमूढ़ (व्यवहार में ही विमूढ़) होने से परद्रव्य को ऐसा देखते—मानते हैं कि 'यह मेरा है'; और ज्ञानीजन निश्चय प्रतिबुद्ध (निश्चय के ज्ञाता) होने से परद्रव्य की कणिका मात्र को भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते—मानते। इसलिये, जैसे इस जगत में कोई व्यवहारविमूढ़ ऐसा दूसरे के गाँव में रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है' इस प्रकार देखता—मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (विपरीत दृष्टिवाला) है, उसीप्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकार से व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्य को 'यह मेरा है' इसप्रकार देखे-माने तो उससमय वह भी निःसंशयतः अर्थात् निश्चयतः, परद्रव्य को निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है, इसलिये तत्त्वज्ञ पुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, यह सुनिश्चिततया जानता है कि—'लोक और श्रमण-दोनों के जो यह परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय है वह उनकी सम्यग्दर्शनरहितता के कारण ही है'।

भावार्थ : जो व्यवहार से मोही होकर परद्रव्य के कर्तृत्व को मानते हैं, वे लौकिकजन हों या मुनिजन हों—मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर परद्रव्य को 'अपना' मानता है, तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।

गाथा ३२४ से ३२७ पर प्रवचन

देखो, अपनी शुद्ध चैतन्य वस्तु से अजान अज्ञानी व्यवहार विमूढ़ होते हैं। वे स्त्री-पुत्र-परिवार, धन-दौलत शरीर आदि परद्रव्य को 'ये मेरे हैं' — ऐसा मानते हैं। यद्यपि व्यवहार में इन्हें ज्ञानी भी अपना कहते हैं, परन्तु अज्ञानी उन्हें निश्चय से ऐसा ही मान लेते हैं कि 'परद्रव्य मेरे हैं'। अज्ञानी को स्वद्रव्य-परद्रव्य, स्वसत्ता-परसत्ता संबंधी कोई विवेक नहीं है, भेदविज्ञान नहीं है।

ज्ञानी इससे विपरीत है। भले व्यवहार से वह कुछ भी कहता हो, परन्तु निश्चय से जो अपना एक शुद्ध चैतन्यतत्व है, चिदानन्दमय ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी आत्मा है, उसी को निज मानता है। वह मानता है कि 'मैं' तो एक उपयोगरूप चिन्मूर्ति आत्मा हूँ।' वह परद्रव्य के एक कण मात्र को, रजकण को अपना नहीं मानता।

भरत चक्रवर्ती क्षायिक समकिती थे, छह खण्ड और छियानवें हजार रानियों के स्वामी थे, अपरिमित-राजवैभव के संयोगों में रहते हुये भी वे ऐसा मानते थे कि इस वैभव में मेरा कुछ भी नहीं है। मैं जहाँ (उपयोग स्वरूप में) हूँ, वहाँ यह परद्रव्य का वैभव नहीं है और जहाँ यह परद्रव्य है, वहाँ मैं नहीं हूँ। ऐसा ज्ञातास्वरूप आत्मा परद्रव्य के कण मात्र को अपना नहीं मानता। इसप्रकार ज्ञानी जीव के परद्रव्य में सुखबुद्धि या स्वामित्व का भाव नहीं होता।

जैसे कोई ग्रामवासी ऐसा माने कि 'यह ग्राम मेरा है' तो उसकी यह दृष्टि झूठी है, विपरीत है, उसीप्रकार ज्ञानी भी किसी भी प्रकार से व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्य को अपना माने तो उस काल से वह भी निःसंदेह मिथ्यादृष्टि ही है। "मेरे देव, मेरे गुरु, मेरे शास्त्र, मेरा कुटुम्ब परिवार" — ऐसा कहना तो व्यवहार है; परन्तु ऐसा मानना तो मिथ्यादर्शन ही है। ज्ञानी किसी भी परद्रव्य को अपना नहीं मानता।

परमात्मप्रकाश में कहा है — जो शुभराग को उपादेय मानता है, उसे भगवान आत्मा हेय है और जो आत्मा को उपादेय मानता है, उसे शुभराग हेय है। अहा! राग मेरा नहीं है, हेय है — ऐसी दृष्टि चौथे गुणस्थान से धर्मी जीव को हो जाती है। राग का सर्वथा क्षय तो शुद्धोपयोग की पूर्णता होने पर होता है, किन्तु 'राग क्षय करने योग्य है' — ऐसी श्रद्धा तो समकिती को पहले से ही होती है। उसे तो एक शुद्धोपयोग की ही भावना होती है। निर्मल रत्नत्रय ही करने योग्य होने से उसे वह प्रगट करने योग्य, उपादेय समझता है।

नियमसार में तो संवर-निर्जरा की पर्याय को भी हेय कहा है, किन्तु वहाँ अपेक्षा जुदी है। वहाँ धर्मात्मा के आलम्बन की अपेक्षा है। धर्मात्मा को आलम्बन एक शुद्ध त्रिकाली भाव का ही होता है, पर्याय का नहीं; इसकारण एक शुद्ध भाव को ही उपादेय कहकर संवर-निर्जरा आदि के परिणाम को भी हेय कहा है। भाई! पर्याय को जो उपादेय मानता है, आश्रय करने योग्य मानता है; वह नियम से मिथ्यादृष्टि ही होता है।

लौकिक जन (ईश्वरवादी) ऐसा मानते हैं कि जगत का कर्ता ईश्वर है। यदि जैन श्रमण भी ऐसा माने कि "परद्रव्य का कर्ता मैं हूँ" तो इसप्रकार तो

परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय दोनों के समान ही ठहरता है और ऐसा माननेवाले लोगों को तो तत्त्वज्ञजन तथा त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा फरमाते हैं—वे सब मिथ्यादृष्टि ही हैं, जो परद्रव्य को कर्ता मानते हैं। "मैं पर की हानि या लाभ कर सकता हूँ" — ऐसा माननेवाले नियम से मिथ्यादृष्टि ही हैं।

गाथा ३२४ से ३२७ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, समयसार गाथा ८ में कहा है कि परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहार स्थापन करने योग्य है, परन्तु वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। वस्तु स्वरूप से अनजान अज्ञानी जीव व्यवहार में ही विमोहित हो रहा है। अतः वह ऐसा मानता है कि ये परद्रव्य, शुभविकल्प और भेद मेरे हैं। इसी तरह परद्रव्यों का, परभावों का, मैं करता हूँ—ऐसा मानता है। उनके संदर्भ में यहाँ कहते हैं कि ऐसा माननेवाले चाहे वे लौकिक जन हों या मुनिजन हों, वे सब मिथ्यादृष्टि ही हैं।

शास्त्रों में जो ऐसे व्यवहार कथन आते हैं कि भगवान की भक्ति से संसार वृक्ष का नाश हो जाता है, जिनबिंब के दर्शनों से निधत्ति और निकाचित कर्म भी टल जाते हैं, जीव पंगु है, कर्म जीवों को चार गतियों में भ्रमण कराता है इत्यादि। और भी ऐसे अनेक कथन आते हैं — ये सब व्यवहार वचन हैं। अज्ञानी इन कथनों का आशय तो समझता नहीं है और शब्दार्थों को पकड़कर निश्चय रूप से ऐसा ही मानने लगता है। यहाँ आचार्य कहते हैं कि ऐसा जो एक द्रव्य को अन्य द्रव्य का कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि ही है।

जिस समकिती धर्मी पुरुष को अन्तर में निश्चय भक्ति-आत्म आराधना प्रगट हुई होती है, उसकी बाह्य में प्रगट व्यवहार भक्ति को संसार के नाश का कारण कहा जाता है। वस्तुतः तो वह निश्चय भक्ति ही संसार के नाश का अर्थात् मुक्ति का कारण है। समकिती को बाह्य में भगवान जिनेन्द्र की भक्ति का राग भी आता है। उसकी उस व्यवहार भक्ति में निश्चय भक्ति का उपचार करके कहा है कि भगवान की भक्ति से संसार वृक्ष का नाश होता है। ऐसे

व्यवहार के वचनों का यथार्थ अर्थ समझे बिना यदि कोई भगवान की भक्ति के राग में ही लीन हो जाये तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। अपना स्वभाव तो जिनस्वरूप - वीतराग स्वरूप ही है। यदि कोई व्यक्ति जिनविम्ब का दर्शन करके जिनस्वरूप जैसा ही निजस्वरूप है, — ऐसे भानपूर्वक अपने ज्ञायकस्वभाव की ओर झुककर उसी में एकाग्र हो जाए तो उसे निजस्वरूप का तथा जिनस्वरूप का श्रद्धान प्रगट हो जाता है और तब उसके निधत्ति और निकाचित जैसे सामान्यतया अटल कर्म भी टल जाते हैं, अकर्म रूप हो जाते हैं।

यहाँ जिनवाणी के उपर्युक्त कथन के समझने में सावधानी रखने की वात यह है कि — कर्म अकर्म रूप होने की जो बात कही है, सो वस्तुत: कर्म तो अपने स्वयं की तत्समय की योग्यता से ही अकर्म रूप हुये हैं या होते हैं, जिन बिम्ब दर्शन उन्हें अकर्म रूप नहीं करते, परन्तु दोनों का ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सहज संबंध जानकर व्यवहार से ऐसा कहा है कि जिनबिम्ब के दर्शन से निधत्ति एवं निकाचित कर्म टल जाते हैं।

भगवान आत्मा स्वभाव से ज्ञानानन्द स्वरूप ही है। उसमें ऐसी शक्ति ही नहीं है, जो उसे विकार रूप करे। अत: पर्याय में जो विकार होता है, वह आत्मा का कार्य नहीं है। जो विकार होता है, वह कर्मप्रकृति के निमित्त से, स्वयं कर्मप्रकृति के वश होकर परिणमने से होता है और इसका फल चार गति रूप परिभ्रमण है। इस कारण निमित्त की मुख्यता से यह कहा है कि आत्मा पंगु है। कर्म उसे चार गति में ले जाते हैं।

वस्तुस्वरूप की अपेक्षा देखें तो यह बात यथार्थ नहीं है कि कर्मों के कारण विकार होता है अथवा कर्म आत्मा को विकारी बनाते हैं। तथापि यदि कोई ऐसा ही माने कि कर्मों के कारण आत्मा चार गतियों में भटकता है और विकारी होता है तो उसका यह मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि कर्म तो परद्रव्य हैं, वे आत्मा का क्या कर सकते हैं? कुछ भी नहीं कर सकते। फिर भी जो व्यवहार विमोहित जीव व्यवहार के वचनों को पकड़ कर परद्रव्य का कर्तृत्व मानते हैं, वे लौकिक जन हों या मुनिजन हों, मिथ्यादृष्टि ही हैं।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं –

(वसन्ततिलका)

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं,
संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥ २०१ ॥

श्लोकार्थ : [**यतः**] क्योंकि [**इह**] इस लोक में [**एकस्य वस्तुनः अन्यतरेण सार्धं सकलः अपि सम्बन्धः एव निषिद्धः**] एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, [**तत्**] इसलिये [**वस्तुभेदे**] जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहाँ [**कर्तृकर्मघटना अस्ति न**] कर्ताकर्मघटना नहीं होती–[**मुनयः च जनाः च**] इसप्रकार मुनिजन और लौकिकजन [**तत्त्वम् अकर्तृ पश्यन्तु**] तत्त्व को (-वस्तु के यथार्थ स्वरूप को) अकर्ता देखो, (यह श्रद्धा में लाओ कि–कोई किसी का कर्ता नहीं, परद्रव्य पर का अकर्ता ही है) ॥ २०१ ॥

कलश २०१ पर प्रवचन

देखो, इस लोक में अनन्त जीव, अनन्तानंत पुद्गल, एक-एक धर्म, अधर्म और आकाश तथा असंख्यात कालाणु — इसप्रकार जाति अपेक्षा छह तथा संख्या अपेक्षा अनन्तानन्त द्रव्य हैं। उनमें प्रत्येक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ सभी प्रकार के संबंधों का निषेध किया गया है। एक वस्तु अन्य वस्तु के - अभाव स्वभाव-वाली ही है। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु के अभाव से ही स्वतंत्र टिक रही है।

लोग कहते हैं कि मेरा अमुक-अमुक वस्तुओं के बिना नहीं चलता। पैसे बिना तो एक क्षण भी नहीं चल सकता। उससे कहते हैं कि अरे भाई! तेरा अनन्त काल से तो इन सबके बिना ही चल रहा है, यदि ऐसा न होता तो अनन्त काल से अब तक अनन्त वस्तुयें भिन्न-भिन्न अपनी सत्ता के साथ रह ही नहीं सकती थीं। सब मिलकर एकमेक हो गई होतीं।

इसलिये कहा है कि जहाँ भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, वहाँ कर्ता-कर्म की घटना घटित होती ही नहीं है।

जगत में अनन्त द्रव्य हैं, उनमें कोई भी किसी भी समय बिना कार्य का है ही नहीं। प्रति समय वह अपने कार्य अर्थात् पर्याय को तो करता ही है न? जब वह खाली, फुरसत में या निठल्ला है ही नहीं, तो वह अन्य का कार्य करे भी कैसे?

दूसरी बात, जब तुझे कोई अन्य द्रव्य स्पर्श ही नहीं करता, छूता ही नहीं है तो वह तेरा कार्य, तेरी पर्याय का परिणमन कैसे करेगा? तीसरी गाथा में ही यह बात आ चुकी है कि अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनंत धर्मों के चक्र का चुम्बन करते हुए भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करते।

आत्मा प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप एक ज्ञान मात्र वस्तु है। उसको तू राग का एवं पर का अकर्ता देख, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का अकर्ता ही है। यही श्रद्धान वास्तविक श्रद्धान है। समकिती को ऐसा ही श्रद्धान होता है। •

"जो पुरुष ऐसा वस्तुस्वभाव का नियम नहीं जानते, वे अज्ञानी होते हुए कर्म को करते हैं; इसप्रकार भावकर्म का कर्ता अज्ञान से चेतन ही होता है।" — इस अर्थ का एवं आगामी गाथाओं का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं —

(वसन्ततिलका)

ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥ २०२॥

श्लोकार्थ : (आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं कि –) [**बत**] अरे!! [**ये तु इमम् स्वभावनियमं न कलयन्ति**] जो इस वस्तुस्वभाव से नियम को नहीं जानते [**ते वराकाः**] वे बेचारे, [**अज्ञानमग्न महसः**] जिनका (पुरुषार्थ रूप—पराक्रमरूप) तेज अज्ञान में डूब गया है ऐसे, [**कर्म कुर्वन्ति**] कर्म को करते हैं; [**ततः एव हि**] इसलिये [**भावकर्मकर्ता चेतनः एव स्वयं भवति**] भावकर्म का कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, [**अन्यः न**] अन्य कोई नहीं।

भावार्थ : वस्तु के स्वरूप के नियम को नहीं जानता इसलिये परद्रव्य का कर्ता होता हुआ अज्ञानी (-मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभाव में परिणमित होता है; इसप्रकार अपने भावकर्म का कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं॥ २०२॥

२०२ कलश पर प्रवचन

देखो, आचार्यदेव को परमात्मदशा प्रगट नहीं है। यद्यपि प्रचुर आनन्द की दशा प्रगटी है, परन्तु परम आनन्द की प्राप्ति नहीं हुई, इस कारण बीच-बीच में थोड़ा-सा करुणा का भाव आता है तो खेदपूर्वक कहते हैं कि अरे रे! जो इस वस्तुस्वरूप के नियम को नहीं जानते वे बिचारे कर्म के कर्ता बनते हैं।

भगवान आत्मा अंतरंग में स्वयं पूर्ण चैतन्य सम्पदा से भरपूर है, परन्तु अपनी स्वरूप सम्पदा के स्वभाव को जो जानते नहीं हैं, वे बेचारे हैं, रंक हैं, दया के पात्र हैं। देखो, लोक जिन्हें श्रीमंत मानते हैं, उन्हें यहाँ रंक कहा है; क्योंकि वे अपनी चैतन्य सम्पदा को जानते-पहचानते नहीं हैं।

अहा! जो आत्मसन्मुख होकर निराकुल आनन्द का अनुभव नहीं करते, वे भले अरबपति हों या अहमिन्द्र हों, सभी भिखारी ही हैं; क्योंकि बाहर की सम्पदा अपनी कभी होती ही नहीं है और वह उसे अपनी मानता है, अतः दीन-दुःखी ही रहता है। जो थोड़ा धन-वैभव माँगे वह छोटा भिखारी और जो अधिक धन-वैभव माँगे — चाहे वह बड़ा भिखारी है; क्योंकि स्वरूप सम्पदा के भान बिना लोगों को पर सम्पदा की ही आशा है।

जो इन अध्रुव एवं नाशवान संयोगों एवं संयोगी भावों को अपना मानता है, वह नियम से वस्तुस्वरूप को नहीं पहचानता है। उसका पुरुषार्थरूपी तेज अज्ञान में डूब गया है, अनंत पराक्रम अज्ञान अंधकार में विलीन हो गया है। ऐसा बिचारा अज्ञानी जीव राग का एवं शुभाशुभ कर्मों का कर्ता बनकर अपने अज्ञान का ही पोषण करता है।

प्रश्न : भक्ति, दया, दान, व्रतादिरूप शुभभाव ज्ञानी के भी तो होते हैं?

उत्तर : हाँ, होते हैं; परन्तु ज्ञानी उन्हें कर्ता होकर नहीं करता। उनका स्वामी नहीं बनता। जबकि अज्ञानी ऐसा मानता है कि राग मेरा कर्तव्य है। बस, यही कर्ताबुद्धि उसका अज्ञान है।

२०२ कलश के भावार्थ पर प्रवचन

अज्ञानी वस्तुस्वरूप के नियम को नहीं जानता। वस्तुस्वरूप का नियम यह है कि — "मैं चिन्मात्र वस्तु अकर्ता स्वभावी आत्मा हूँ, राग का कर्तापना मुझे नहीं है। तथा पर्याय में जो विकार का परिणाम होता है, वह स्वयं अपने स्वचतुष्टय से होता है, परद्रव्य से नहीं होता। विकार का कर्तापना परद्रव्य के नहीं है।" इसकारण वह अज्ञानी अपने चैतन्यस्वभाव को भूलकर राग-द्वेष-मोहादि भाव से परिणमता है, राग-द्वेष-मोह को ही करता है।

वस्तु स्थिति यह है कि जीव को जो रागादि विकारी भाव होते हैं, उनका अपना स्वतंत्र जन्मक्षण है। उन्हें पर कारकों की अपेक्षा नहीं है।

अहाहा! अनंतगुण व शक्तियों का पिण्ड भगवान आत्मा में राग व विकार करने की कोई शक्ति ही नहीं है। है न गजब की बात! पर्याय में जो विकार होता है, वह अपने षट् कारकों के परिणमन से होता है। ऐसा ही वस्तु के स्वभाव का नियम है।

प्रश्न : विकारी परिणमन में निज शुद्ध द्रव्य व गुणों की तो अपेक्षा नहीं है, परन्तु निमित्त की अपेक्षा तो है न?

उत्तर : नहीं, बिल्कुल नहीं; निमित्तादि पर कारकों की कोई अपेक्षा नहीं है?

प्रश्न : यदि इन शुभाशुभ विकल्पों को जिसतरह शुद्ध द्रव्य व गुणों की अपेक्षा नहीं, उसीतरह परद्रव्यरूप निमित्तादि की भी अपेक्षा नहीं तो फिर ये किस के कार्य हैं?

उत्तर : वस्तुस्वरूप के नियम को न जानने के कारण रागादि विकार का कर्ता होता हुआ मिथ्यादृष्टि जीव अपने ही अज्ञान भाव से परिणमता है। उसे कोई अन्य नहीं परिणमाता। विकार रूप होने की उसकी स्वयं की योग्यता न हो तो दूसरा कोई भी अन्य द्रव्य उसको रागादि रूप परिणमा ही नहीं सकता और विकार रूप होने की जीव की स्वयं की तत्समय की योग्यता है तो फिर ...गे परद्रव्य की क्या अपेक्षा रह जाती है? कुछ भी नहीं।

इसीप्रकार धर्म की प्रथम दशा - सम्यग्दर्शन होने में भी कोई परद्रव्य की अपेक्षा नहीं है। समकित होने में ऐसी कोई अपेक्षा नहीं होती कि "कर्मों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम हो तो समकित हो। अथवा राग की मन्दता हो तो समकित हो।" अहा! अपने स्वरूप के भान बिना अज्ञानी जीव स्वयं ही रागादि भावों से परिणमता है। इसप्रकार अपने भाव कर्मों का कर्ता अज्ञानी जीव स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं।

प्रश्न : शास्त्र में दो कारण कहे हैं। आचार्य जयसेन की टीका में भी दो कारणों की बात है।

उत्तर : भाई! वहाँ तो प्रमाण का ज्ञान कराने के लिए उपादान के साथ निमित्त को सम्मिलित करके बात की है। परन्तु निश्चय को उड़ाने की बात नहीं है। विकार स्वयं से ही होता है - ऐसा निश्चय रखकर साथ में निमित्त भी है - ऐसा जानना ही तो प्रमाण ज्ञान है। बापू! निमित्त को तो उपचार से कारण कहा है, वास्तव में निमित्त कार्य का कर्ता नहीं है। इस रीति से अपने भावकर्मों का कर्ता अज्ञानी जीव स्वयं ही है।

समयसार गाथा ३२८-३३१

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो ॥ ३२८ ॥
अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो ॥ ३२९ ॥
अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं ॥ ३३० ॥
अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥ ३३१ ॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम् ।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता ॥ ३२८ ॥
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम्
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥ ३२९ ॥
अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुतः मिथ्यात्वम् ।
तस्मात् द्वाभ्यां कृतं तत् द्वावपि भुंजाते तस्य फलम् ॥ ३३० ।
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वम् ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं *मिथ्यात्वं* तत्तु न खलु *मिथ्या* ॥ ३३१ ॥

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, तस्याचेतन-प्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगात् । स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगात् । न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ, जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगात् । न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगात् । ततो जीवः कर्ता, स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धम् ।

अब, '(जीव के) जो मिथ्यात्वभाव होता है उसका कर्ता कौन है?'—इस बात की भली-भाँति चर्चा करके, 'भावकर्म का कर्ता (अज्ञानी) जीव ही है' यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैं —

मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, मिथ्यात्वि जो जीव को करे।
तो तो अचेतन प्रकृति ही कारक बने तुझ मतविषें!॥ ३२८॥
अथवा करे जो जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को।
तो तो बने मिथ्यात्वि पुद्गलद्रव्य आत्मा नहिं बने॥ ३२९॥
जो जीव अरु प्रकृती करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
तो उभयकृत जो होय तत्फल भोग भी हो उभय को॥ ३३०॥
जो प्रकृति नहिं नहिं जीव करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
पुद्गलदरब मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो?॥ ३३१॥

गाथार्थ : [**यदि**] यदि [**मिथ्यात्वं प्रकृतिः**] मिथ्यात्व नामक (मोहनीय कर्म की) प्रकृति [**आत्मानम्**] आत्मा को [**मिथ्यादृष्टिं**] मिथ्यादृष्टि [**करोति**] करती है ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**ते**] तुम्हारे मत में [**अचेतना प्रकृतिः**] अचेतन प्रकृति [**ननु कारका प्राप्ता**] (मिथ्यात्वभाव की) कर्ता हो गई! (इसलिये मिथ्यात्वभाव अचेतन सिद्ध हुआ!)

[**अथवा**] अथवा, [**एषः जीवः**] यह जीव [**पुद्गलद्रव्यस्य**] पुद्गलद्रव्य के [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्व को [**करोति**] करता है ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः**] पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा!—[**न पुनः जीवः**] जीव नहीं!

[**अथ**] अथवा यदि [**जीवः तथा प्रकृतिः**] जीव और प्रकृति दोनों [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य को [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्वभाव रूप [**कुरुते**] करते हैं ऐसा माना जाये, [**तस्मात्**] तो [**द्वाभ्यां कृतं तत्**] जो दोनों के द्वारा किया [**तस्य फलम्**] उसका फल [**द्वौ अपि भुञ्जाते**] दोनों भोगेंगे!

[**अथ**] अथवा यदि [**पुद्गलद्रव्यं**] पुद्गलद्रव्य को [**मिथ्यात्वम्**] मिथ्यात्वभाव रूप [**न प्रकृतिः कुरुते**] न तो प्रकृति करती है [**न जीवः**] और न जीव करता है (-दोनों में से कोई नहीं करता) ऐसा माना जाय, [**तस्मात्**] तो [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं**] पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा [**तत् तु न खलु मिथ्या**] क्या यह वास्तव में मिथ्या नहीं है?

(इससे यह सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभाव का—भावकर्म का कर्ता जीव ही है।)

टीका : जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है; क्योंकि यदि वह (भाव-कर्म) अचेतन प्रकृति का कार्य हो तो उसे (भावकर्म को) अचेतनत्व का प्रसंग आ जायेगा। जीव अपने ही मित्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्‌गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्म को करे तो पुद्‌गलद्रव्य को चेतनत्व का प्रसंग आ जायेगा और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के कर्ता हैं ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता हों तो जीव की भाँति अचेतन प्रकृति को भी उस (भावकर्म) का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के अकर्ता हों सो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यदि वे दोनों अकर्ता हों तो स्वभाव से ही पुद्‌गलद्रव्य को मिथ्यात्वादि भाव का प्रसंग आ जायेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि—जीव कर्ता है और अपना कर्म कार्य है (अर्थात् जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है और अपना भावकर्म अपना कार्य है)।

भावार्थ : इन गाथाओं में यह सिद्ध किया है कि भावकर्म का कर्ता जीव ही है। यहाँ यह जानना चाहिये कि—परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता इसलिये जो चेतन के भाव हैं उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। इस जीव के अज्ञान से जो मिथ्यात्वादि भावरूप परिणाम हैं वे चेतन हैं, जड़ नहीं; अशुद्धनिश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इस प्रकार वे परिणाम चेतन हैं, इसलिये उनका कर्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है—यह परमार्थ है। अभेददृष्टि में तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है, किन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होता है तब वह उन-उन परिणामों से युक्त होता है और तब परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है। अभेददृष्टि में तो कर्ता-कर्मभाव ही नहीं है, शुद्धचेतनामात्र जीव वस्तु है। इसप्रकार यथार्थतया समझना चाहिये कि चेतन कर्म का कर्ता चेतन ही है।

गाथा ३२८ से ३३१ एवं टीका पर प्रवचन

अब यहाँ आगम व युक्ति से यह सिद्ध करते हैं कि भावकर्मों का कर्ता जीव ही है, अन्य कोई नहीं। भाई! जो विकार होता है, वह अपनी स्वयं की

भूल से ही होता है, स्वयं को भूल गया यही सबसे बड़ी भूल है। अन्दर में स्वयं चिदानन्द भगवान ज्ञायकस्वरूप है। उसे भूलकर स्वयं ही षट्कारकों से पर्याय में मिथ्यात्वादि विकारी भाव करता है।

"पुण्यभाव करते-करते धर्म होगा, तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख है" — ऐसा जो अभिप्राय है, वह मिथ्यात्व भाव है। ऐसे अभिप्रायवालों से कहते हैं कि - देखो, दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा आदि शुभभाव तथा हिंसा-झूठ-चोरी विषयभोगों की वांछा आदि अशुभ भाव हैं। दोनों विकारी भाव हैं। उनमें भले-बुरे की कल्पना करना मिथ्यात्व भाव है और इस मिथ्यात्व भाव का तथा राग-द्वेष, पुण्य-पापादि भावों का कर्ता जीव स्वयं ही है। अन्य कोई इनका कर्ता नहीं है।

विकारी भावों का कर्ता जीव स्वयं ही हैं, क्योंकि यदि वे भावकर्म अचेतन प्रकृति के कार्य हों तो उन भावकर्मो को अचेतनपने का प्रसंग प्राप्त होगा, किन्तु विकारी परिणाम अचेतन नहीं है। यह तो चैतन्य की ही विकारी दशा है।

प्रश्न : विकारी परिणामों को अन्यत्र अचेतन जड़ कहा है न?

उत्तर : हाँ, कहा है, परन्तु वहाँ दूसरी अपेक्षा से कथन है। वहाँ अचेतन प्रकृति के लक्ष्य से होने के कारण विकारी भावों को अचेतन कहा गया है तथा वे विकारी भाव जीव के स्वभाव नहीं हैं, इसलिये उन्हें अचेतन कहकर वहाँ से लक्ष्य हटाया है। अज्ञानी जीव विकार को अपना स्वभाव मानता है न? उससे कहते हैं विकारी परिणाम जड़ हैं। वे आत्मा का स्वभाव कैसे हो सकते हैं?

यहाँ राग-द्वेष के विकारी भावों को जो चेतन कहा है, उसका कारण यह है कि ये विकारी भाव जड़ परमाणु रूप नहीं है, किन्तु यह तो जीव की ही अरूपी विकृत दशा है। भाव कर्मों को यदि अचेतन कर्म प्रकृति करे तो वह जड़-अचेतन हो जाये, परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये राग-द्वेष और मिथ्याश्रद्धान आदि विकारी भावों का कर्ता जीव ही है - ऐसा सिद्ध हुआ।

अब इसी का विशेष स्पष्टीकरण करते हैं - पुद्गल द्रव्य में अर्थात् कर्म प्रकृतियों में यदि मिथ्यात्वादि विकारी परिणाम हों तथा उनका कर्ता जीव हो तो पुद्गल कर्मप्रकृतियों के चेतनपने का प्रसंग प्राप्त होगा, जड़ प्रकृति के

परिणाम चेतनमय हो जायेंगे किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। इसलिये जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता है, पुद्गल द्रव्य के परिणामों का कर्ता नहीं है – ऐसा सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त कथन से दो बातें सिद्ध हुई —

१. अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता जीव ही है, जड़ प्रकृति नहीं।

२. जीव अपने भावकर्मों का कर्ता है, किन्तु जड़ प्रकृति के परिणामों का कर्ता नहीं है।

अब कहते हैं कि जिसतरह हल्दी और चूना मिलने से लाल रंग हो जाता है, उसीतरह जीव और कर्मप्रकृति – दोनों मिलकर जीव के विकारी भावों को करते हैं, ऐसा माने तो जीव की ही भाँति अचेतन प्रकृति को भी उन भाव कर्मों का फल भोगने का प्रसंग प्राप्त होगा, जो संभव नहीं है; क्योंकि भावकर्मों का फल तो एकमात्र जीव ही भोगता है। इसलिये जीव व कर्मप्रकृतियाँ – दोनों मिलकर विकार करते हैं यह कहना / मानना ठीक नहीं है। ऐसा मानने से दोनों ही के मिथ्यात्वादि भावों का प्रसंग प्राप्त होगा अर्थात् मिथ्यात्व भाव से परिणमना पुद्गल का भी स्वभाव ठहरेगा।

इसलिये ऐसा सिद्ध हुआ कि जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्मों का कर्ता है और स्वयं के भावकर्म ही जीव के कार्य हैं।

प्रश्न : यह ठीक है, परन्तु कर्मप्रकृतियाँ रागादि के होने में निमित्त तो हैं न?

उत्तर : यह बात तो समयसार गाथा ८०, ८१ एवं ८२ में बहुत स्पष्टीकरण के साथ आ चुकी है। विशेष वहाँ देखें।

सामान्य उत्तर यह है कि – परस्पर निमित्त तो है, किन्तु दोनों के परिणाम तो समकाल में होते हैं, दोनों का काल तो एक ही है न? इसलिये 'निमित्त से कार्य हुआ' – ऐसा कहना मात्र उपचार है। वस्तुतः तो जिस समय जीव का विकारी परिणाम अपनी तत्समय की योग्यता से होता है, उसी काल में वहाँ कर्मप्रकृतियों का उदय रूप परिणमन उनके अपने स्वचतुष्टय से, अपनी तत्समय की योग्यता से होता है और उन कर्मप्रकृतियों में जीव के परिणामों

को तथा जीव के परिणामों में कर्म-प्रकृतियों के उदय को निमित्त कहा जाता है। निमित्त नैमित्तिक में कोई विलक्षणता उत्पन्न कर देता हो - ऐसा बिल्कुल भी नहीं है।

गाथा ३२८ से ३३१ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, कहते हैं कि मिथ्यात्व और विकारी भावों का कर्ता जीव ही है। मोहनीय कर्म का उदय तो उसमें निमित्तमात्र है। यद्यपि गोम्मटसार आदि करणानुयोग के शास्त्रों में आता है कि दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से जीव को मिथ्यात्व के भाव होते हैं, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से ज्ञान रुकता है; परन्तु कर्म का उदय तो जड़ में आता है, वह जड़ का कार्य है और मिथ्यात्वादि भाव तो जीव में होते हैं। दोनों भिन्न-भिन्न द्रव्यों में होनेवाली क्रियायें हैं तथा परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भावों का कर्ता होता नहीं है। इस कारण कर्म के उदय के कारण मिथ्यात्वादि भाव जीव को होते हैं - ऐसा कहना मात्र उपचार है, वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। जड़ कर्म, कर्ता व जीव के विकार कार्य - ऐसी वस्तु व्यवस्था नहीं है। गोम्मटसार आदि में बस निमित्त की मुख्यता से उपचार से ऐसा कथन है, सो उस अपेक्षा से वह कथन भी पूर्ण सत्य है।

प्रश्न : यदि निमित्तरूप कर्म का उदय जीव के विकारोत्पत्ति में कुछ नहीं करता है तो फिर दसवें-ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने पर भी जीव पुनः क्यों गिर जाता है, कैसे गिर जाता है? वह तो कर्मोदय की बलजोरी से ही गिरता है न?

उत्तर : अरे भाई! जो जीव दसवें-ग्यारहवें गुणस्थान तक चढ़ गया, वह अपने पुरुषार्थ से ही चढ़ा है न? किसी कर्म के कारण तो नहीं चढ़ा? जिस तरह अपने पुरुषार्थ से ऊपर चढ़ता है, उसीप्रकार अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से ही नीचे गिर जाता है। कर्मोदय के कारण नीचे नहीं गिरता; क्योंकि परमार्थ से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कारण है ही नहीं। भले ही कर्म का उदय निमित्त हो, किन्तु अस्थिरता रूप परिणमन तो स्वतंत्र अपने ही से है।

प्रवचनसार की सोलहवीं गाथा में आत्मा को 'स्वयंभू' कहा है। उस गाथा की टीका में वहाँ कहा है कि - "इसप्रकार स्वयं छह कारकरूप परिणमता

होने से वह 'स्वयंभू' कहलाता है। अथवा अनादिकाल से अति दृढ़ बँधे हुये द्रव्य व भाव घातिया कर्मों को नष्ट करके स्वयं ही आविर्भूत हुआ- इस कारण उसे 'स्वयंभू' कहा जाता है।'' द्रव्य घाति कर्म जड़ है और अपनी हीन दशारूप से परिणत जीव भावघाति कर्म है। उन भावघाति कर्मों का कर्ता जीव ही है। जीव में जो भावघाति कर्म हुये हैं, उनका कर्ता जड़ या द्रव्यघाति कर्म नहीं है।

प्रश्न : यहाँ एक ओर विकारी भावों को चेतन के भाव कहा है, जबकि गाथा ५० से ५५ में इन्हीं भावों को पुद्गल के परिणाम कहा है - यह कथन किस अपेक्षा से है?

उत्तर : देखो, जो ये विकारी भाव हैं, वे चेतन की पर्याय के अस्तित्व में होते हैं। इस कारण वे चेतन के भाव हैं - ऐसा यहाँ कहा है; परन्तु वे चैतन्य के स्वभाव नहीं है, किन्तु विभाव भाव हैं तथा पुद्गल के - द्रव्यकर्म के उदय के संग में होते हैं। स्वभाव की दृष्टि होने पर नष्ट हो जाते हैं, इस कारण वे जीव के नहीं हैं, किन्तु पुद्गल के हैं - ऐसा ५०वीं गाथा से ५५वीं गाथा में कहा है। स्वभाव की दृष्टि होने पर विकार का भाव अपनी अनुभूति से भिन्न ही रह जाता है।

इसप्रकार अपने को भूलकर अज्ञानवश जो मिथ्यात्वादि विभावरूप परिणाम होते हैं, वे चेतन के भाव हैं और उनका कर्ता भी चेतन ही है, अन्य पुद्गल द्रव्य नहीं।

यही कहते हैं - देखो, जीव का ज्ञान-दर्शन रूप जो उपयोग है, उसे चेतन कहते हैं, ज्ञान-दर्शन के सिवाय इसके जो अनंत गुण हैं, उन्हें अचेतन कहा है, क्योंकि वे अन्य गुण स्वयं को तो जानते ही नहीं हैं, पर को भी नहीं जानते। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से शास्त्र में कथन आता है। उसे यथार्थ जानना चाहिए। अचेतन के भी जुदे-जुदे प्रकार हैं।

शरीर, मन, वाणी आदि अचेतन हैं। पुण्य-पाप और मिथ्यात्व के जो भाव जीव के होते हैं, उन्हें भी शुद्ध चैतन्य की अपेक्षा से अचेतन कहा है।

जीव के ज्ञान-दर्शन के उपयोग की अपेक्षा अन्य गुणों को अचेतन कहा , क्योंकि अन्य गुणों में जानने-देखने रूप उपयोग की शक्ति नहीं है।

परन्तु यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ दूसरी बात है। यहाँ तो मिथ्यात्व और पुण्य-पाप आदि विकारी भाव जीव की पर्याय के अस्तित्व में होते हैं, इस कारण उन्हें चेतन कहा है और उनके चेतन होने से उनका कर्ता चेतन ही है - ऐसा सिद्ध किया है।

अब कहते हैं कि अन्दर में तो वस्तु त्रिकाल एकरूप चिद्रूप है। उसे अभेददृष्टि से देखें तो वह शुद्ध चेतना मात्र ही है, परन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होती है, तब वह विकारी परिणामों से युक्त होती है और तभी परिणाम-परिणामी की भेद दृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव स्वयं ही होता है। ये पुण्य-पाप आदि विकारी भाव जो हुये, वे परिणाम और जीव परिणामी - ऐसी भेददृष्टि में अपने पुण्य-पापादि विकारी भावों का कर्ता जीव ही है।

अभेददृष्टि में तो कर्ता-कर्म भाव है ही नहीं। जीव वस्तु शुद्ध चेतना मात्र ही है। अभेददृष्टि में तो रागादि विकार है ही नहीं। ज्यों ही चिदानन्द चैतन्यस्वरूप की अभेददृष्टि हुई, त्यों ही कर्ता-कर्म भाव का अभाव हो जाता है।

इसप्रकार यथार्थ रीति से समझ लेना चाहिए कि चेतन कर्म का कर्ता चेतन ही है। ऐसी स्वतंत्रता को स्वीकार करके अन्य द्रव्य, गुण, पर्यायों पर से दृष्टि हटाकर द्रव्यदृष्टि प्रगट करना - बस, इस कथन का यही एक तात्पर्य है।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥ २०३ ॥

श्लोकार्थ : [**कर्म कार्यत्वात् अकृतं न**] जो कर्म (अर्थात् भावकर्म) है वह कार्य है, इसलिये वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसी के द्वारा किये बिना नहीं हो सकता। [**च**] और [**तत् जीव-प्रकृत्योः द्वयोः कृतिः न**] ऐसा भी नहीं है कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनों की कृति हो, [**अज्ञायाः**

प्रकृतेः स्व-कार्य-फल-भुग्-भाव-अनुषंगात्] क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा। [**एकस्याः प्रकृतेः न**] और वह (भावकर्म) एक प्रकृति की कृति (-अकेली प्रकृति का कार्य-) भी नहीं है, [**अचित्त्वलसनात्**] क्योंकि प्रकृति का तो अचेतनत्व प्रगट है अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है)। [**ततः**] इसलिये [**अस्य कर्ता जीवः**] उस भावकर्म का कर्ता जीव ही है [**चिद्-अनुगं**] और चेतन का अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वयरूप (-चेतन के परिणामरूप-) ऐसा [**तत्**] वह भावकर्म [**जीवस्य एव कर्म**] जीव का ही कर्म है [**यत्**] क्योंकि [**पुद्गलः ज्ञाता न**] पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है (इसलिये वह भावकर्म पुद्गल का कर्म नहीं हो सकता)।

भावार्थ : चेतनकर्म चेतन के ही होता है; पुद्गल जड़ है, इसलिये उसके चेतन-कर्म कैसे हो सकता है॥ २०३॥

कलश २०३ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

ये जो पुण्य-पाप आदि भाव कर्म हैं, वे कार्य हैं। जो कार्य होता है, वह अकृत नहीं होता, किसी के किये बिना नहीं होता। यह देखकर जिसप्रकार अन्य मतावलम्बी-ईश्वरवादी आदि इसे ईश्वरकृत मान लेते हैं, उसीप्रकार जैनदर्शन के अध्यात्म से अनभिज्ञ जन इन कार्यों का कर्ता जड़ कर्मों को मान लेते हैं। इसप्रकार दोनों ही विपरीत मान्यतावाले हैं। अतः यहाँ कहते हैं कि देखो, ये पुण्य-पाप आदि विकारी भाव जीव और जड़ कर्म प्रकृतियों में से किसी का भी कार्य नहीं है, दोनों के मिलकर किया हुआ भी नहीं है; क्योंकि यदि दोनों मिलकर करें तो जड़ प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग प्राप्त होगा, किन्तु ऐसा है नहीं।

प्रश्न : क्या कुम्भकार के बिना घड़ा हो जाता है?

उत्तर : हाँ, भाई! सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में आया है कि कुम्भकार के बिना ही घड़ा बनता है। घड़े का कर्ता कुम्भकार नहीं है। समयसार गाथा ३७२

में आचार्य कहते हैं कि - "माटी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती होने से कुम्भकार घड़े का उत्पादक नहीं है। माटी भी कुम्भकार के स्वभाव का स्पर्श न कर सकने के कारण अपने स्वभाव से उत्पन्न होती है।"

निमित्ताधीन दृष्टि होने से अज्ञानी ऐसा मानता है कि "निमित्त हो तो कार्य हो, परन्तु दिगम्बर संत तो ऐसा कहते हैं कि कुम्भकार घड़ा बनाता है" हमें ऐसा तो दिखाई नहीं देता। माटी ही घड़े की कर्ता है और घड़ा माटी का कार्य है, यही परमार्थ है। कुम्भकार कर्ता व घड़ा उसका कार्य - ऐसा है ही नहीं। अरे! जीव व अजीव - दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। इस बात की लोगों को खबर नहीं है।

भावकर्म अकेली कर्म प्रकृति का भी कार्य नहीं है। जीव और कर्म प्रकृति - दोनों का मिला-जुला कार्य भी नहीं है। अतः भावकर्मों का कर्ता जीव ही है, पर अज्ञानी जीव उनका कर्ता है। यहाँ अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि जीव की बात है।

पूर्ण आनन्द का नाथ प्रभु मैं एक ज्ञायकस्वभावी आत्मा हूँ - ऐसा जिसको अन्तर में भान हो गया है, वह सम्यग्दृष्टि जीव भावकर्मों का कर्ता नहीं है। जो राग होता है, बस उसका वह मात्र ज्ञाता ही रहता है। परन्तु भाई! यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि परमार्थ से राग का कर्ता कौन है?

उसके लिये कहते हैं कि जिसे अपनी शुद्ध चैतन्य सत्ता का भान नहीं है - ऐसा अज्ञानी जीव राग का कर्ता स्वयं को मानता है, जबकि यथार्थ बात यह है कि अभेददृष्टि में तो कर्ता-कर्म भाव ही नहीं है, जीव वस्तु शुद्ध चेतना मात्र है, परन्तु परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है, जड़ कर्म कर्ता नहीं है।

यहाँ परमात्मा जिनेश्वर कहते हैं कि राग अज्ञानभाव से होता है, कर्म के कारण नहीं। राग को निज का माननेवाला पर्यायबुद्धि जीव राग को करता है। वह राग स्वयं से होता है, पर से नहीं।

जिसकी दृष्टि अपने त्रिकाली शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर पड़ी है - ऐसा धर्मी ज्ञानी जीव राग का कर्ता नहीं है, अकर्ता ही है, ज्ञाता-दृष्टा ही है।

एक ओर जीव को कर्ता कहना और दूसरी ओर उसे ही अकर्ता कहना – ये दोनों ही कथन जुदी-जुदी अपेक्षाओं से हैं। इसी का नाम तो स्याद्वाद है। अज्ञानवश जीव कर्ता है और अज्ञानता मिटते ही, ज्ञान भाव प्रगट होते ही जीव अकर्ता है।

भावार्थ यह है कि चेतन कर्म चेतन के ही होता है। जड़ पुद्गल के चेतन कर्म कैसे हो सकता है? राग चेतन का कार्य है, राग जड़ परमाणुओं की दशा नहीं है। इसलिये जड़ कर्म राग का कर्ता नहीं है। किन्तु अज्ञान भाव से चेतन ही इसका कर्ता है और भावकर्म चेतन का ही कर्म या कार्य है।

अब आगे की गाथाओं में, जो भावकर्म का कर्ता भी कर्म को ही मानते हैं; उन्हें समझाने के लिए स्याद्वाद के अनुसार वस्तुस्थिति कहेंगे; पहले उसका सूचक काव्य कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते॥ २०४॥

श्लोकार्थ : [**कैश्चित् हतकैः**] कोई आत्मा के घातक (सर्वथा एकान्तवादी) [**कर्म एव कर्तृ प्रवितर्क्य**] कर्म को ही कर्ता विचार कर [**आत्मनः कर्तृतां क्षिप्त्वा**] आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर, '[**एषः आत्मा कथञ्चित् कर्ता**] यह आत्मा कथंचित् कर्ता है' [**इति अचलिता श्रुतिः कोपिता**] ऐसा कहनेवाली अचलित श्रुति को कोपित करते हैं (-निर्बाध जिनवाणी की विराधना करते हैं); [**उद्धत-मोह-मुद्रित-धियां तेषाम् बोधस्य संशुद्धये**] जिनकी बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गई है ऐसे उन आत्मघातकों के ज्ञान की संशुद्धि के लिये (निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) [**वस्तुस्थितिः स्तूयते**] वस्तुस्थिति कही जाती है—[**स्याद्वाद-प्रतिबन्ध-लब्ध-विजया**] जिस वस्तुस्थिति ने स्याद्वाद के प्रतिबन्ध से विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियम से निर्बाधतया सिद्ध होती है।)

भावार्थ : कोई एकान्तवादी सर्वथा एकान्ततः कर्म का कर्ता कर्म को ही कहते हैं और आत्मा को अकर्ता ही कहते हैं; वे आत्मा के घातक है। उन पर जिनवाणी का कोप है, क्योंकि स्याद्वाद से वस्तुस्थिति को निर्बाधतया सिद्ध करनेवाली जिनवाणी तो आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है। आत्मा को अकर्ता ही कहनेवाले एकान्तवादियों की बुद्धि उत्कट मिथ्यात्व से ढक गई है; उनके मिथ्यात्व को दूर करने के लिये आचार्यदेव स्याद्वादानुसार जैसी वस्तुस्थिति है वह, निम्नलिखित गाथाओं में कहते हैं॥ २०४॥

कलश २०४ पर प्रवचन

इस कलश में कहा है कि कोई एकान्तवादी आत्मघातक जीव में होनेवाले विकार का कर्ता एकान्ततः जड़कर्म को ही मानते हैं, तथा जीव के कर्तृत्व का सर्वथा निषेध करते हैं; परन्तु उनकी यह मान्यता खोटी है। कोई अन्य एकान्तवादी रागादि भावों को कर्म व जीव का सम्मलित कार्य मानते हैं, पर यह माननेवाले भी एकांतवादी – मिथ्यादृष्टि ही हैं; क्योंकि दो कभी एक नहीं होते।

जीवों में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है कि जीव द्रव्य या उसके गुणों में विकार हो। एक समय की पर्याय ही विकृत होती है, जीव में पर्यायगत योग्यता ही ऐसी है, जो विकारी होती है। द्रव्य अर्थात् त्रिकाली शक्तियों का पिण्ड, गुण अर्थात् त्रिकाली शक्ति तथा पर्याय अर्थात् वर्तमान क्षणिक अवस्था।

यहाँ कहते हैं कि पर्याय पर जिसकी दृष्टि है – ऐसे मूढ़ पर्यायदृष्टि जीव विकार के या भावकर्म के कर्ता हैं। फिर भी एकान्तवादी जड़ कर्मों को ही कर्ता मानते हैं। ऐसी मान्यतावाले आत्मा के कर्तापन को उड़ा देते हैं। इसप्रकार ऐसे लोग आत्मा विकार का कथंचित् कर्ता हैं – ऐसा कहने वाली जिनवाणी की विराधना करते हैं। कथंचित् कर्ता है – इसका अर्थ यह है कि जबतक अज्ञान है तबतक पुण्य-पाप आदि विकारी भावों का जीव कर्ता है, सम्यग्दर्शन प्रगट होने पर आत्मज्ञान होने पर वह राग का अकर्ता है। यह स्याद्वाद है।

प्रश्न : शास्त्रों में भी तो विकार को पुद्गलजन्य कहा है? कलश ३६ में **भावाः पौद्गलिकाः अमी** – ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। उसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर : हाँ, कहा है, परन्तु वहाँ उस प्रसंग में तो विकार औपाधिक भाव हैं, पुद्गल कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुये हैं तथा निज चिदानन्द स्वभाव के साथ में रहने पर वे निकल जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। अतः स्वभाव दृष्टि की अपेक्षा उन्हें पुद्गलजन्य कहा है। जीव जब स्वयं पुद्गल कर्म के अधीन होकर परिणमता है तब राग उत्पन्न होता है तथा जब स्वद्रव्य के अधीन रह परिणमता है तो राग निकल जाता है अर्थात् राग उत्पन्न ही नहीं होता। इसलिये उन रागादि भावों को स्वभाव की मुख्यता से पौद्गलिक कहा है, क्योंकि वह आत्मा का स्वभाव भाव नहीं है। भाई! जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे यथार्थ समझना चाहिए।

यहाँ यह अपेक्षा है कि – राग अज्ञान से जीव की स्वयं की पर्याय में स्वयं की तत्समय की योग्यता से ही होता है इसलिये वह जीव का – चेतना का परिणाम है। तथा जीव, चेतन ही उसका कर्ता है, जड़ कर्म नहीं। जो जड़ कर्म को ही वस्तुतः कर्ता मानते हैं, वे वस्तुतः जिनवाणी की विराधना करते हैं।

अहा! अनादि से अज्ञानवश अज्ञानी को जो विकार होता है, वह यह स्वयं ही करता है, कर्म इन विकार भावों का कर्ता नहीं है।

प्रत्येक द्रव्य की समय-समय पर जो-जो पर्यायें होनी होती हैं, वही होती हैं। जिस द्रव्य की जिस समय जिस क्षेत्र में जो पर्याय होनी हो, उस द्रव्य की उसी समय वहाँ वही पर्याय होती है – ऐसा पर्याय का स्वरूप है। इसका यथार्थ निर्णय करे तो कर्म से विकार होता है तथा निमित्त से उपादान का कार्य होता है एवं भक्ति आदि शुभराग से मुक्तिमार्ग होता है – इत्यादि बहुत मिथ्या मान्यतायें टूट जाती हैं। पर के कर्तृत्व का अभिमान भी समाप्त हो जाता है।

अहाहा ··· ! त्रिकाली ध्रुव एक सामान्य-सामान्य चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा में अभेददृष्टि करने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है। यही वस्तुतः धर्म है। यद्यपि प्रवचनसार ग्रंथ की ८०वीं गाथा में अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय जाननेवाले को आत्मज्ञान होने की बात कही है और मोह क्षय होने की बात भी कही है। उस कथन का क्या तात्पर्य है?

भाई! उस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रथम अरहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानकर अपने आत्मस्वभाव पर लक्ष्य करे तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप

की एकत्वपने अभेददृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तथा मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। जब तक भगवान के गुणों की ओर लक्ष्य रहता है, तब तक वह राग ही है, जब अन्तर्दृष्टि करे तब सम्यग्दर्शन होता है। समाधितंत्र में भी ऐसा कथन आता है कि सिद्ध का ध्यान करते हुए आत्मा का ध्यान होता है। उसका भी यही अर्थ है कि सिद्ध भगवान का ध्यान करते हुये मैं स्वयं स्वरूप से सिद्ध हूँ – ऐसी स्वरूप की अन्तर्दृष्टि होती है तब आत्मध्यान होता है।

अरे भाई! यदि तू अभी भी यह बात नहीं समझ सकेगा तो फिर कब समझेगा? देखते ही देखते आयु तो पूरी हो जायेगी। फिर मर कर तू कहाँ जायेगा? देख तो सही! भवसागर तो अपार है और तेरी बुद्धि तीव्र मोह से बिगड़ गई है। अतः ज्ञान की निर्मलता के लिये आगे की गाथाओं में वस्तु के स्वरूप की मर्यादा कहते हैं, उसे ध्यान से सुन!

अहा! जो अपने स्वभाव को छोड़कर निमित्त के साथ पराधीन होकर परिणमते हैं, उन्हें पर्याय में विकारी भाव उत्पन्न होता है। उन विकारी भावों का कर्ता वह स्वयं ही है। परद्रव्य या जड़कर्म उनका कर्ता नहीं है। ऐसी स्याद्वाद से सिद्ध हुई वस्तुस्थिति है, जो आगामी गाथाओं में विस्तार से कही जायेगी।

भाई! इस क्षणिक देह का कोई भरोसा नहीं है। रात्रि में सोया व्यक्ति सवेरे उठेगा ही – इसकी किसको खबर है? कौन जाने किसकी कब आयु पूरी हो जायेगी? इसलिये अभी ही तत्त्वनिर्णय कर ले। बादलों की बिजली की चमक में सूत में मोती पिरो ले तो ठीक, अन्यथा यों ही जिन्दगी चली जायेगी और हम भव समुद्र में डूब जायेंगे।

जड़ शरीर का एवं वाणी आदि क्रियाओं का कर्ता तो अज्ञानी भी नहीं है। पूजा करते समय जो हाथ पसार कर अष्ट द्रव्य चढ़ाता है और मुख से स्वाहा बोलता है, प्रवचन करता है, आदि सभी क्रियायें जड़ की क्रियायें हैं। उनका कर्ता तो जीव अज्ञानभाव से भी नहीं है। मात्र पर की ओर लक्ष्य जाने पर जो राग होता है, उस राग पर जिसकी दृष्टि है – ऐसा अज्ञानी जीव अज्ञानभाव से उस राग का कर्ता है। तथा जिसकी दृष्टि राग से हटकर अन्दर चित्स्वभाव पर चली जाती है, वह ज्ञानी जीव उस राग का कर्ता नहीं है।

कलश २०४ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अन्य मतवाले जगत का कर्ता ईश्वर को मानते हैं, जबकि कोई जैनमत-वाला (जैनाभासी) राग का कर्ता जड़कर्मों को मानता है। वे दोनों एक ही जाति की मान्यतावाले मिथ्यादृष्टि हैं। वे आत्मघाती हैं, क्योंकि विपरीत मान्यता से वे निरंतर निज आत्मद्रव्य की हिंसा ही करते हैं। उन पर जिनवाणी का कोप है। जिनवाणी आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है और यह अज्ञानी एकान्ती आत्मा को सर्वथा अकर्ता ही मानता है। इस कारण उन पर जिनवाणी का कोप है अर्थात् वह जिनवाणी का विराधक है - ऐसा आचार्य देव कहते हैं।

अज्ञानी जीव अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को जानता नहीं है। उसकी दृष्टि राग और पर्याय पर पड़ी है, इस कारण वह राग का कर्ता होता है। इसप्रकार आत्मा अनादि से अपने विकारी भावों का स्वतंत्र कर्ता है। ऐसा इसका पर्याय धर्म है, परन्तु पर की अपेक्षा बिना यह जैनाभासी मानता है कि विकार कर्म के कारण होता है, आत्मा इसका कर्ता नहीं है। इसकी यह मान्यता झूठी है, क्योंकि परद्रव्य और आत्मद्रव्य का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

जगत की रचना ईश्वर करता है - यह बात जितनी झूठी है, वैसी ही जैनाभासी अज्ञानी की भी कल्पनायें मिथ्या हैं। तीन लोक की सम्पूर्ण रचना अकृत्रिम है। यह अनादि वस्तुस्थिति है। उसीतरह संसारी जीवों को जो विकार होता है, वह उसका जन्मक्षण है। हाँ, इतना अवश्य है कि - विकार निमित्ताधीन होता है। तो भी निमित्त विकार को उत्पन्न नहीं करता। जीव स्वयं कर्मों के अधीन होकर विकार करता है, कर्म जीव में विकार नहीं कराता।

प्रवचनसार में ४७ नयों के प्रकरण में एक ईश्वरनय है। आत्मा ईश्वरनय से परतंत्रता भोगनेवाला है, अर्थात् आत्मा निमित्ताधीन होकर स्वयं ही परतंत्र होता है। कर्म जीवों को परतंत्र नहीं करता। चंदप्रभ भगवान की पूजा की जयमाला में आता है -

कर्म विचारे कौन, भूल मेरी अधिकाई।
अग्नि सहै घनघात, लोह की संगति पाई॥

जिसप्रकार अकेली अग्नि पर घन की चोट नहीं पड़ती, परन्तु जब वह लोहे की कुसंगति करती है तो घन की चोटे उस लोहे के साथ अग्नि को भी सहनी पड़ती है; उसीप्रकार अकेले आत्मा को विकार नहीं होता, वह स्वभाव

से तो निर्विकारी ही है; परन्तु जब वह स्वभाव को छोड़कर कर्मरूप निमित्त के साथ परिणमता है, पर की संगति करता है तो विकारी हो जाता है। इसमें कर्म का तो कोई दोष नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही उसका साथ करता है, सो यह इस आत्मा का ही अपराध है।

भाई! आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानकर जो ऐसा मानते हैं कि "निमित्त से ही कार्य होता है, कर्मोदय से ही विकार रूप कार्य होता है, आत्मा विकार का कर्ता नहीं है।" ऐसी मान्यतावाले आत्मघाती मिथ्यादृष्टि हैं। वास्तव में तो जीव अपने ज्ञानानन्द स्वरूप को भूलकर स्वतंत्रपने राग का कर्ता है। 'कर्म उसे विकार कराते हैं' – यह बात सत्यार्थ नहीं है। शत प्रतिशत विकार का कर्ता आत्मा (अज्ञानी जीव) ही है।

समयसार कलश १७५ में कहा है कि आत्मा अपने रागादि का निमित्त कभी भी नहीं है। उसे जो विकार होता है, उसमें निमित्त परद्रव्य का संग ही है। ऐसा वस्तु का स्वभाव प्रकाशमान है, किसी का किया हुआ नहीं है। अज्ञानी को निज द्रव्यस्वभाव का भान नहीं है। इस कारण वह बाह्य निमित्त के संग परिणमता है और उसे विकार ही होता है। समकिती को जितना स्वभाव का संग-संबंध है, उतनी निर्मल निर्विकार दशा है, धर्म है तथा जितना परद्रव्य से संबंध बढ़ाता है, उतना उसे राग होता है; परन्तु ज्ञानी उसका ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नहीं होता। अज्ञानी को निज द्रव्यस्वभाव का भान नहीं है, इस कारण वह बाह्य निमित्त के अर्थात् पर द्रव्य के संबंध रूप परिणमता है तथा इसी कारण उसे विकार होता है।

पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में यह बात स्पष्ट लिखी है कि जीव के जो विकार होता है वह उसके स्वयं के षट् कारकों के परिणमन से स्वतंत्र रूप से होता है। उसमें पर कारकों की कोई अपेक्षा नहीं है।

भाई! यह किसी पक्ष विशेष की बात नहीं है। यह तो वस्तु स्थिति है; जो आगम से व युक्ति से निर्बाध सिद्ध है। फिर भी यदि कोई ऐसा मानता है कि आत्मा सर्वथा अकर्ता ही है, तो वह मिथ्या मान्यता से ग्रस्त है। उसकी उस मिथ्या मान्यता के निवारणार्थ अब आचार्य भगवान आगामी गाथाओं में वस्तु, स्थिति का दिग्दर्शन करते हैं।

समयसार गाथा ३३२-३४४

'आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है' इस अर्थ की गाथायें अब कहते हैं —

कम्मेहि दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ॥ ३३२ ॥

कम्मेहि सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहि य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव ॥ ३३३ ॥

कम्मेहि भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च ।
कम्मेहि चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि ॥ ३३४ ॥

जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि ।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारगा होंति आवण्णा ॥ ३३५ ॥

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि ।
एसा आयरियपरंपरागदा एरिसी दु सुदी ॥ ३३६ ॥

तम्हा ण को वि जीवो अवंभचारी दु अम्ह उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिदं ॥ ३३७ ॥

जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी ।
एदेणत्थेण किर भण्णदि परघादणामेत्ति ॥ ३३८ ॥

तम्हा ण को वि जीवो वघादेओ अत्थि अम्ह उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कंमं घादेदि इवि भणिदं ॥ ३३९ ॥

एवं संखुवएसं जे उ परूवेंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे ॥ ३४० ॥

अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥ ३४१ ॥

अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि ।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहिओ य कादुं जे ॥ ३४२ ॥

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं ॥ ३४३ ॥

अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं ।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि ॥ ३४४॥

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः॥ ३३२॥

कर्मभिः सुखी क्रियते दुःखी क्रियते तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥ ३३३॥

कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावद्यत्किंचित् ॥ ३३४॥

यस्मात्कर्म करोति कर्म ददाति हरतीति यत्किंचित् ।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः ॥ ३३५॥

पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥ ३३६॥

तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितम् ॥ ३३७॥

यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ॥ ३३८॥

तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितम् ॥ ३३९॥

एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥ ३४०॥

अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।
एष मिथ्यास्वभावः तवैतज्जानतः ॥ ३४१॥

आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुंयत् ॥ ३४२॥

जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम् ॥ ३४३॥

अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम् ।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति॥ ३४४॥

कर्महि करें अज्ञानि त्योंही ज्ञानि भी कर्महि करें ।
कर्महि सुलाते जीव को, त्यों कर्म ही जाग्रत करें ॥ ३३२ ॥
अरु कर्म ही करते सुखी, कर्महि दुखी जीव को करें ।
कर्महि करें मिथ्यात्वि त्योंहि, असंयमी कर्महि करें ॥ ३३३ ॥
कर्महि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अधः अरु तिर्यक्‌ विषैं ।
अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्व को कर्महि करे ॥ ३३४ ॥
करता करम, देता करम, हरता करम—सब कुछ करे ।
इस हेतु से यह है सुनिश्चित जीव अकारक सर्व है ॥ ३३५ ॥
'पुंकर्म इच्छे नारि को स्त्रीकर्म इच्छे पुरुष को' ।
ऐसी श्रुती आचार्यदेव परंपरा अवतीर्ण है ॥ ३३६ ॥
इस रीत 'कर्महि कर्म को इच्छे'—कहा है शास्त्र में ।
अब्रह्मचारी यों नहीं को जीव हम उपदेश में ॥ ३३७ ॥
अरु जो हने पर को, हनन हो पर से, वोह प्रकृति है ।
—इस अर्थ में परघात नामक कर्म का निर्देश है ॥ ३३८ ॥
इसी रीत 'कर्महि कर्म को हनता' कहा है शास्त्र में ।
इससे न को भी जीव है हिंसक जु हम उपदेश में ॥ ३३९ ॥
यों सांख्य का उपदेश ऐसा जो श्रमण वर्णन करे ।
उस मत से सब प्रकृति करे, जीव तो अकारक सर्व हैं ॥ ३४० ॥
अथवा तु माने 'आतमा मेरा स्वआत्मा को करे' ।
तो ये जो तुझ मंतव्य भी मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे ॥ ३४१ ॥
जीव नित्य है त्यों, है असंख्यप्रदेशि दर्शित समय में ।
उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके ॥ ३४२ ॥
विस्तार से जीवरूप जीव का, लोकमात्र प्रमाण है ।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्य को कैसे करे ॥ ३४३ ॥
माने तुँ 'ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे' ।
तो यों भि यह आत्मा स्वयं निज आतमा को नहिं करे ॥ ३४४ ॥

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव ज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव स्वापयति, निद्राख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव

जागरयति, निद्राख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव सुखयति, सद्वेद्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव दुःखयति, असद्वेद्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति, मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवासंयतं करोति, चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति, आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। अपरमपि यद्यावत्किंचिच्छुभाशुभं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति, प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। यत एवं समस्तमपि स्वतंत्र कर्म करोति, कर्म ददाति, कर्म हरति च, ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकांतेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः। किञ्च—श्रुतिरप्येनमर्थमाह; पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वप्रतिषेधात्, तथा यत्परं हंति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात्। एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयंति; तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम्। यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति, आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति, ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव। जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च। तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं, कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात्। न चावस्थितासंख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कंधस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं, प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात्। न चापि सकललोकवास्तु विस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचनविकाशनयोरपि शुष्कार्द्र चर्मवत्प्रतिनियत-निजविस्ताराद्धीनाधिकस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात्। यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा

तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता भवति, भवंति च मिथ्यात्वादिभावाः, ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितरामात्मात्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहंत्येव। ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां ज्ञान-समयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञानरूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमंतव्यं; तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञान पूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात्।

गाथार्थ : "[**कर्मभिः तु**] कर्म [**अज्ञानी क्रियते**] (जीव को) अज्ञानी करते हैं [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्मभिः ज्ञानी**] कर्म (जीव को) ज्ञानी करते हैं, [**कर्मभिः स्वाप्यते**] कर्म सुलाते हैं [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्मभिः जागर्यते**] कर्म जगाते हैं, [**कर्मभिः सुखी क्रियते**] कर्म सुखी करते हैं [**तथा एव**] उसी तरह [**कर्मभिः दुःखी क्रियते**] कर्म दुःखी करते हैं, [**कर्मभिः च मिथ्यात्वं नीयते**] कर्म मिथ्यात्व को प्राप्त कराते हैं [**च एव**] और [**असंयमं नीयते**] कर्म असंयम को प्राप्त कराते हैं, [**कर्मभिः**] कर्म [**ऊर्ध्वं अधः च अपि तिर्यग्लोकं च**] ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में [**भ्राम्यते**] भ्रमण कराते हैं, [**यत्किंचित् यावत् शुभाशुभं**] जो कुछ भी जितना शुभ और अशुभ है वह सब [**कर्मभिः च एव क्रियते**] कर्म ही करते हैं। [**यस्मात्**] इसलिये [**कर्म करोति**] कर्म करता है, [**कर्म ददाति**] कर्म देता है, [**हरति**] कर्म हर लेता है—[**इति यत्किंचित्**] इस प्रकार जो कुछ भी करता है वह कर्म ही करता है, [**तस्मात् तु**] इसलिये [**सर्वजीवाः**] सभी जीव [**अकारकाः आपन्नाः भवंति**] अकारक (अकर्ता) सिद्ध होते हैं।

और, [**पुरुषः**] पुरुषवेदकर्म [**स्त्र्यभिलाषी**] स्त्री का अभिलाषी है [**च**] और [**स्त्रीकर्म**] स्त्रीवेदकर्म [**पुरुषम् अभिलषति**] पुरुष की अभिलाषा करता है—[**एषा आचार्यपरम्परागता ईदृशी तु श्रुतिः**] ऐसी यह

आचार्य की परम्परा से आई हुई श्रुति है; [**तस्मात्**] इसलिये [**अस्माकम् उपदेशे तु**] हमारे उपदेश में तो [**कः अपि जीवः**] कोई भी जीव [**अब्रह्मचारी न**] अब्रह्मचारी नहीं है, [**यस्मात्**] क्योंकि [**कर्म च एव हि**] कर्म ही [**कर्म अभिलषति**] कर्म की अभिलाषा करता है [**इति भणितम्**] ऐसा कहा है।

और, [**यस्मात् परं हंति**] जो पर को मारता है [**च**] और [**परेण हन्यते**] जो पर के द्वारा मारा जाता है [**सा प्रकृतिः**] वह प्रकृति है—[**एतेन अर्थेन किल**] इस अर्थ में [**परघातनाम इति भण्यते**] परघातनामकर्म कहा जाता है, [**तस्मात्**] इसलिये [**अस्माकम् उपदेशे**] हमारे उपदेश में [**कः अपि जीवः**] कोई भी जीव [**उपघातकः न अस्ति**] उपघातक (मारनेवाला) नहीं है [**यस्मात्**] क्योंकि [**कर्म च एव हि**] कर्म ही [**कर्म हंति**] कर्म को मारता है [**इति भणितम्**] ऐसा कहा है।"

(आचार्यदेव कहते हैं कि :—) [**एवं तु**] इस प्रकार [**ईदृशं सांख्योपदेशं**] ऐसा सांख्यमत का उपदेश [**ये श्रमणाः**] जो श्रमण (जैन मुनि) [**प्ररूपयंति**] प्ररूपित करते हैं [**तेषां**] उनके मत में [**प्रकृतिः करोति**] प्रकृति ही करती है [**आत्मानः च सर्वे**] और आत्मा तो सब [**अकारकाः**] अकारक है ऐसा सिद्ध होता है!

[**अथवा**] अथवा (कर्तृत्व का पक्ष सिद्ध करने के लिये) [**मन्यसे**] यदि तुम यह मानते हो कि '[**मम आत्मा**] मेरा आत्मा [**आत्मनः**] अपने [**आत्मानम्**] (द्रव्यरूप) आत्मा को [**करोति**] करता है', [**एतत् जानतः तव**] तो ऐसा जानने वाले का-तुम्हारा [**एषः मिथ्या-स्वभावः**] यह मिथ्यात्वभाव है; [**यद्**] क्योंकि— [**समये**] सिद्धांत में [**आत्मा**] आत्मा को [**नित्यः**] नित्य, [**असंख्येय-प्रदेशः**] असंख्यात-प्रदेशी [**दर्शितः तु**] बताया गया है, [**ततः**] उससे [**सः**] वह [**हीनः अधिकः च**] हीन या अधिक [**कर्तुं न अपि शक्यते**] नहीं किया जा सकता; [**विस्तरतः**] और विस्तार से भी [**जीवस्य जीवरूपं**] जीव का जीवरूप [**खलु**] निश्चय से [**लोकमात्रं जानीहि**] लोकमात्र जानो; [**ततः**] उससे [**किं सः हीनः**

अधिकः वा] क्या वह हीन अथवा अधिक होता है? [**द्रव्यम् कथं करोति**] तव फिर (आत्मा) द्रव्य को (अर्थात् द्रव्य रूप आत्मा को) कैसे करता है?

[**अथ**] अथवा यदि '[**ज्ञायकः भावः तु**] ज्ञायक भाव तो [**ज्ञानस्वभावेन तिष्ठति**] ज्ञानस्वभाव से स्थित रहता है' [**इति मतम्**] ऐसा माना जावे, [**तस्मात् अपि**] तो इससे भी [**आत्मा स्वयं**] आत्मा स्वयं [**आत्मनः आत्मानं तु**] अपने आत्मा को [**न करोति**] नहीं करता यह सिद्ध होगा।

(इस प्रकार कर्तृत्व को सिद्ध करने के लिये विवक्षा को वदलकर जो पक्ष कहा है वह घटित नहीं होता।)

(इस प्रकार, यदि कर्म का कर्ता कर्म ही माना जाये तो स्याद्वाद के साथ विरोध आता है; इसलिये आत्मा को अज्ञान-अवस्था में कथंचित् अपने अज्ञानभावरूप कर्म का कर्ता मानना चाहिए, जिससे स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता।)

टीका : (यहाँ पूर्वपक्ष इस प्रकार है:) "कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के विना उसकी (- अज्ञान की) अनुपपत्ति है; कर्म ही (आत्मा को) ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के क्षयोपशम के विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुलाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय के विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही जगाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम के विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय के विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही दुःखी करता है, क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्म के उदय के विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्म के उदय के विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही असंयमी करता है, क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्म के उदय के विना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिर्यग्लोक में भ्रमण कराता है, क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के विना उसकी अनुपपत्ति है; दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ-अशुभ है वह सव कर्म ही करता है, क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त

राग नामक कर्म के उदय के बिना उनकी अनुपपत्ति है। इस प्रकार सब कुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है, इसलिये हम यह निश्चय करते हैं कि—सभी जीव सदा एकान्त से अकर्ता ही हैं और श्रुति (भगवान की वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थ को कहती है; क्योंकि, (वह श्रुति) 'पुरुषवेद नामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है' इस वाक्य से कर्म को ही कर्म की अभिलाषा के कर्तृत्व के समर्थन द्वारा जीव को अब्रह्मचर्य के कर्तृत्व का निषेध करती है, तथा 'जो पर को हनता है और जो पर के द्वारा हना जाता है वह परघातकर्म है' इस वाक्य से कर्म को ही कर्म के घात का कर्तृत्व होने के समर्थन द्वारा जीव के घात के कर्तृत्व का निषेध करती है और इसप्रकार (अब्रह्मचर्य के तथा घात के कर्तृत्व के निषेध द्वारा) जीव का सर्वथा ही अकर्तृत्व बतलाती है।''

(आचार्यदेव कहते हैं कि:—) इसप्रकार ऐसे सांख्यमतको, अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराध से सूत्र के अर्थ को न जाननेवाले कुछ श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं; उनकी, एकान्त से प्रकृति के कर्तृत्व की मान्यता से, समस्त जीवों के एकान्त से अकर्तृत्व आ जाता है इसलिये 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है (अर्थात् भगवान की वाणी की विराधना होती है)। और, 'कर्म आत्मा के अज्ञानादि सर्व भावों को—जो कि पर्यायरूप हैं उन्हें करता है, और आत्मा तो आत्मा को ही एक को द्रव्यरूप को करता है इसलिये जीव कर्ता है; इस प्रकार श्रुति का कोप नहीं होता'— ऐसा जो अभिप्राय है वह मिथ्या ही है। (इसीको समझाते हैं:—) जीव तो द्रव्यरूप से नित्य है, असंख्यात-प्रदेशी है और लोक परिमाण है। उसमें प्रथम, नित्य का कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि कृतकत्व के और नित्यत्व के एकत्व का विरोध है। (आत्मा नित्य है इसलिए वह कृतक अर्थात् किसी के द्वारा किया गया नहीं हो सकता।) और अवस्थित असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा) को पुद्गलस्कन्ध की भाँति, प्रदेशों के प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशों का प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्व का

व्याघात हो जायेगा। (स्कन्ध अनेक परमाणुओं का बना हुआ है, इसलिये उसमें से परमाणु निकल जाते हैं तथा उसमें आते भी हैं; परन्तु आत्मा निश्चित असंख्यात-प्रदेशवाला एक ही द्रव्य है इसलिये वह अपने प्रदेशों को निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशों को ले नहीं सकता।) और सकल लोकरूपी घर के विस्तार से परिमित जिसका निश्चित निजविस्तार-संग्रह है (अर्थात् जिसका लोक जितना निश्चित माप है) उसके (-आत्मा के) प्रदेशों के संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशों के संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़े की भांति, निश्चित निज विस्तार के कारण उसे (आत्मा को) हीनाधिक नहीं किया जा सकता। (इस प्रकार आत्मा के द्रव्यरूप आत्मा का कर्तृत्व नहीं बन सकता।) और, "वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना अशक्य होने से ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से ही सदा स्थित रहता है और इस प्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्व के अत्यन्त विरुद्धता होने से, मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं होता; और मिथ्यात्वादि भाव तो होते हैं; इसलिये उनका कर्ता कर्म ही है इसप्रकार प्ररूपित किया जाता है"—ऐसी जो वासना (अभिप्राय झुकाव) प्रगट की जाती है वह भी 'आत्मा आत्मा को करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यता का अतिशयतापूर्वक घात करती है (क्योंकि सदा ज्ञायक मानने से आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ)।

इसलिये, ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है (-अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिये, उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना (अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कथंचित् कर्ता है) वह भी तबतक कि जबतक भेदविज्ञान के प्रारम्भ से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से पूर्ण (अर्थात् भेदविज्ञान सहित) होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ (-ज्ञानरूप ऐसा जो

ज्ञान का परिणमन उसरूप ही परिणमित होता हुआ), मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।

भावार्थ : कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वाद-वाणी को भलीभाँति न समझकर सर्वथा एकान्त का अभिप्राय करते हैं और विवक्षा को बदलकर यह कहते हैं कि—"आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है, कर्मप्रकृति का उदय ही भावकर्म को करता है; अज्ञान, ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियों में भ्रमण—इन सबको, तथा जो कुछ भी शुभ-अशुभ भाव हैं उन सबको कर्म ही करता है; जीव तो अकर्ता है।" और वे मुनि शास्त्र का भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि—"वेद के उदय से स्त्री-पुरुष का विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है। " इस प्रकार, जैसे सांख्यमतावलम्बी सब कुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं और पुरुष को अकर्ता मानते हैं उसीप्रकार, अपनी बुद्धि के दोष से इन मुनियों की भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई। इसलिये जिनवाणी तो स्याद्वादरूप है, अतः सर्वथा एकान्त को माननेवाले उन मुनियों पर जिनवाणी का कोप अवश्य होता है। जिनवाणी के कोप के भय से यदि वे विवक्षा को बदलकर यह कहें कि —"भावकर्म का कर्ता कर्म है और अपने आत्मा का (अर्थात् अपने का) कर्ता आत्मा है, इस प्रकार हम आत्मा को कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिये वाणी का कोप नहीं होता;" तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्य से नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है, इसलिये उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है; और जो भावकर्मरूप पर्यायें हैं उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को ही कहते हैं; इसलिये आत्मा तो अकर्ता ही रहा! तब फिर वाणी का कोप कैसे मिट गया? इसलिये आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व की विवक्षा को यथार्थ मानना ही स्याद्वाद को यथार्थ मानना है। आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व के सम्बन्ध में सत्यार्थ स्याद्वाद-प्ररूपण इसप्रकार है —

आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभाव में ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप

में जानता है, इसलिये इस प्रकार विशेष अपेक्षासे अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करने से कर्ता है; और जब भेदविज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है तब विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम में ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है।

गाथा ३३२ से ३४४ पर प्रवचन

देखो, इन गाथाओं में यह सिद्ध कर रहे हैं कि आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है।

पहले अज्ञानी का पक्ष प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं कि अज्ञानी का ऐसा मानना है कि कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है। वस्तुस्वभाव से देखा जाए तो आत्मा स्वभाव से तो परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी वस्तु है; परंतु पर्याय में जो अल्पज्ञान है, वह कर्म के उदय के कारण ही है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के उदय बिना अज्ञान की अनुपपत्ति है तथा ज्ञान का जो विकास होता है, वह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम बिना ज्ञान का उघाड़ नहीं होता – अज्ञानी अपनी यह युक्ति प्रस्तुत करता है। इसप्रकार अज्ञानी की मान्यतानुसार कर्म ही सब कुछ करता है; परंतु यह जिनमत नहीं है।

भाई! श्वेताम्बर शास्त्रों के विषय में हम क्या कहें? उनका तो हमने अक्षर-अक्षर पढ़ा है; उसी मत में जन्मे थे न? वहाँ सर्व शास्त्र कल्पित हैं। दो हजार पूर्व दिगम्बरों में से अलग होकर श्वेताम्बर पन्थ नया निकला है। उसमें से फिर स्थानकवासी आदि अन्य सम्प्रदाय निकले हैं। वे सब कल्पित मत हैं और उन्होंने शास्त्र भी कल्पित बनाये हैं।

प्रश्न : उनके उन कल्पित शास्त्रों में जो-जो बातें गलत हैं, उन्हें निकाल दो। जो सत्य हैं, उन्हे तो स्वीकार कर लेना चाहिए न ?

उत्तर : उनमें सच है ही क्या? जो मिलावट की बातें हैं, उसमें सच कुछ भी नहीं रहता।

यहाँ कहते हैं – कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करते हैं – ऐसा अज्ञानी का पक्ष है; परंतु यह मान्यता मिथ्या है। वास्तव में ज्ञान की जो हीन दशा होती

है, वह अपने कारण ही होती है तथा तब इसमें ज्ञानावरण कर्म का उदय निमित्त मात्र होता है।

ज्ञानावरण कर्म की भाँति दर्शनावरण कर्म के विषय में अज्ञानी ऐसा मानता है कि निद्रा नामक दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जीव को सोना पड़ता है; जबकि बात ऐसी नहीं है। वास्तव में तो जीव अपनी ही तत्समय की योग्यता से सोता-जागता है; कर्म तो निमित्त मात्र है, कर्ता नहीं। भाई! कर्म का उदय तो जड़-पुद्गल रूप है। वह जीव को छूता भी नहीं है।

अब तीसरी वेदनीय कर्म प्रकृति की बात करते हैं - जीवों को जो अनुकूल शरीर, कुटुम्ब-परिवार, धन-सम्पत्ति आदि मिलते हैं, उनमें साता वेदनीय कर्म का उदय निमित्त है। उस सामग्री में जीव को जो सुखबुद्धि होती है, वह साता वेदनीय का कार्य नहीं है; परंतु अज्ञानी ऐसा मानता है कि साता वेदनीय के उदय के बिना जीव सुखी नहीं होता। सो उसकी यह मान्यता मिथ्या है।

यद्यपि इतना तो सच है कि बाह्य अनुकूल साधन साता वेदनीय के उदय अनुसार मिलते हैं; परंतु उनमें सुखबुद्धि या सुख की कल्पना तो जीव ने स्वयं खड़ी की है। यह सुख-दुःख की कल्पना साता-असाता वेदनीय के उदय के कारण नहीं होती।

अनुकूल सामग्री सुख का कारण नहीं है तथा प्रतिकूल सामग्री दुःख का कारण नहीं है; परंतु अज्ञानी उससे स्वयं को सुखी-दुःखी होना मानता है।

यद्यपि शरीर में रोग का होना, निर्धनता होना, बाँझपना होना आदि प्रतिकूल प्रसंग असाता कर्म के उदय के अनुसार होते हैं, परंतु उनमें जो दुःख की कल्पना होती है, उसमें असाता कर्म के उदय का कारणपना नहीं है। इसप्रकार यहाँ तक तीन बातें हुईं।

अब, कहते हैं कि अज्ञानी मोहकर्म के विषय में ऐसा मानता है कि जब दर्शन मोहनीय कर्म का उदय आता है तब जीव मिथ्यादृष्टि होता है, क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के उदय बिना उसकी अनुपपत्ति है। परंतु उसकी यह मान्यता सही नहीं है। स्वयं विपरीत पुरुषार्थ से वस्तुस्वरूप से जो उल्टी मान्यता करता है, यह अज्ञानी का स्वयं का ही अपराध है। कर्म का उसमें कुछ भी काम नहीं है।

देखो, भगवान कुंदकुंदाचार्यदेव दिगम्बर संत थे। वे कहते हैं कि अज्ञानी ऐसा मानता है कि कर्म के उदय के कारण जीवों को विकार होता है, किन्तु उसकी यह मान्यता ठीक नहीं है।

प्रश्न : कुछ लोग कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में निश्चय समकित नहीं होता? क्या यह बात यथार्थ है?

उत्तर : भाई! यद्यपि इस प्रश्न का इस चर्चित विषय से कोई संबंध नहीं है, और बीच में दूसरी बातें छेड़ना नहीं चाहिए; क्योंकि इससे विषय का क्रम टूटता है। परंतु पूछ लिया तो इतना तो जान लो कि अन्तर में आत्मा स्वयं नित्यानन्द ज्ञानानन्द प्रभु है। उसके सन्मुख होने पर स्वानुभव की दशा में ''मैं वहीं नित्यानन्द प्रभु हूँ'' – ऐसी जो प्रतीति होती है। वस्तुतः उसी का नाम समकित है, उसे ही निश्चय समकित कहते हैं। वह वीतरागी दशा है। समकित के जो सराग व वीतराग – ऐसे दो भेद किए हैं, वे चारित्र की अपेक्षा से कहे हैं। परंतु निश्चय समकित तो स्वयं रागरहित वीतरागी निर्मल दशा ही है। वह अपने अन्तःपुरुषार्थ से प्रगट होती है।

जिसप्रकार समकित अपने अन्तःपुरुषार्थ से होता है, उसीप्रकार मिथ्यात्व भी अपने ही ओंधे–विपरीत पुरुषार्थ से होता है। उसमें कर्म का उदय कारण है ही नहीं।

प्रश्न : कारण न सही, परंतु निमित्त तो है न?

उत्तर : निमित्त को कारण कहने का मात्र इतना ही प्रयोजन है कि मोहनीय कर्म की रागादि होने के काल में उपस्थिति होती है। परवस्तु होने से निमित्त तो आत्मा का स्पर्श भी नहीं करता।

अज्ञानी कहता है कि – ''कर्म ही जीवों को असंयमी करता है; क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्मोदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है।''

अज्ञानी यह दलील (तर्क) दे सकता है कि देखो, भगवान ऋषभदेव जन्म से तीन ज्ञान के धनी क्षायिक समकिती थे। फिर भी ८३ लाख पूर्व तक उन्हें चारित्र दशा प्रगट नहीं हुई। गृहस्थावस्था में रहे। अतः स्पष्ट है कि चारित्रमोह कर्म के उदय के कारण उन्हें चारित्र प्रगट नहीं हुआ।

परंतु भाई! उसकी यह दलील खोटी है, असत्यार्थ है। यह अभिप्राय सत्यार्थ नहीं है। वस्तुतः बात यह है कि स्वयं के पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण उन्हें चारित्र दशा - संयम दशा प्रगट नहीं हुई। चारित्र मोह के उदय के कारण चारित्र प्रगट नहीं हुआ - यह कहना तो उपचार है। यह वास्तविकता नहीं है।

तथा कोई व्रतादि रागरूप बाह्य क्रिया को चारित्र कहता है, परंतु यह चारित्र का वास्तविक स्वरूप नहीं है। अहा हा! चारित्र तो कोई अलौकिक वस्तु है। शुद्ध चिदानन्दघन चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा सदा अन्तर में विराज रहा है, उसमें एकाग्रतापूर्वक तल्लीन होकर उसी के प्रचुर आनन्द में रमते-रमते उसी में स्थिर हो जाना चारित्र है। राग की क्रिया चारित्र नहीं है।

अज्ञानी कहता है कि इसीप्रकार आनुपूर्वी नाम की कर्म प्रकृति जीवों को नरकादि गति में ले जाती है। राजा श्रेणिक का उदाहरण देकर वह कहता है कि वह क्षायिक समकिती था, तीर्थंकर प्रकृति बँध चुकी थी; फिर भी उन्होंने नरक गति नामकर्म बाँधा था, इस कारण आनुपूर्वी कर्म उसे नरक में ले गया।

देखो! यह अज्ञानी की मान्यता है? वस्तुतः बात यह है कि राजा श्रेणिक अपनी तत्समय की पर्यायगत योग्यता से ही नरक गये हैं। कर्म के कारण नरक में गये - यह तो उपचार का कथन है। भाई! कर्म तो जड़ हैं, उनका आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता। आत्मा में कर्मों का अत्यन्ताभाव है। वे कर्म आत्मा को हानि कैसे पहुँचा सकते हैं।

इसीप्रकार शुभ-अशुभ भावों के विषय में अज्ञानी की मान्यता है कि - शुभ-अशुभ भावों को भी कर्म ही करते हैं। परंतु ऐसा भी नहीं है। वास्तव में जीव के जो शुभाशुभ भाव होते हैं, वे भी अपने कमजोर पुरुषार्थ के कारण ही होते हैं।

भाई! बात सूक्ष्म है। जीव के जो शुभभाव रूप परिणाम हैं, वे परिणामी आत्मा के हैं। वे परिणाम कर्मों की मन्दता के कारण नहीं हुए। तथा कोई ऐसा माने कि - "शुभभाव कर्ता और परजीवों की दया का पालन होना या रक्षा होना कर्म" सो ऐसा भी नहीं है। पर्याय में जो शुभभाव होते हैं, उनका कर्ता

वही पर्याय और कर्म (कार्य) भी वही पर्याय है। "शुभराग कार्य और जीवद्रव्य उसका कर्ता" - ऐसा कहा जाता है, परंतु वस्तुतः तो पर्याय ही पर्याय का कर्ता और कर्म है।

अज्ञानी कहता है कि प्रशस्त राग नामक कर्म के उदय हुए बिना जीव को शुभभाव नहीं होता, परंतु उसका यह अभिप्राय सत्यार्थ नहीं है। प्रशस्तराग नामक कर्म का उदय निमित्त हो, परंतु उसके कारण शुभभाव नहीं होता। भाई! यथार्थ तत्त्व की दृष्टि के बिना कोई व्रत करे, तप आचरे, उपवास कर-कर के मर जाए तो उससे क्या? मिथ्यादर्शन के कारण वह संसार में रखड़ते-रखड़ते परम्परा नरक-निगोदादि में ही जाता है। आचार्य कुंदकुंद कहते हैं जिसे बाह्य में सहज नग्न दिगम्बर दशा है और अन्तर में तत्त्वदृष्टि - वीतराग दृष्टि प्रगट हुई है, उसे ही मोक्ष का मार्ग व मोक्ष कहा है, वस्त्र सहित के मुनिपना मानना तो उन्मार्ग है। जो सवस्त्र मुनिपना माने, मनावे वह तो निगोद का पात्र है। भगवान की वाणी में ऐसा स्पष्ट आया है कि वस्त्र का एक धागा भी रखकर मुनिपना माने या मनावे अथवा मानने वाले को भला जाने - वे तीनों ही निगोदगामी हैं।

यहाँ कहते हैं कि दया-दान, व्रत-तप, भक्ति आदि के जो भाव होते हैं, वे जड़ कर्म के कार्य नहीं हैं। शुभभावों का कर्ता जीव स्वयं है और ये शुभभाव जीव के कर्म हैं।

दृष्टि की अपेक्षा से जीव शुभभावों का कर्ता नहीं है - यह जुदी बात है। परन्तु शुभभाव का परिणमन अपनी ही पर्याय में है और इस अपेक्षा इसका कर्तृत्व स्वयं का है। - ऐसा ज्ञान यथार्थ जानता है। वास्तविक बात तो यह है कि विकारी भाव का परिणमन कर्ता व विकार जो हुआ वह कर्म है। द्रव्य व गुण को इसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।

सत्य बोलने का शुभभाव, ब्रह्मचर्य पालन करने का शुभभाव धर्म नहीं है तथा ये शुभभाव, जड़कर्म के मंद उदय से भी नहीं हुये। ब्रह्मचर्य के भाव के कारण शरीर में विषय की क्रिया रुक गई - ऐसा भी नहीं है। शुभभाव के कारण सत्य बोला जाता हो - ऐसा भी नहीं है। वस्तुव्यवस्था अत्यन्त स्वतंत्र व स्वावलम्बी है। अहो! दिगम्बर सन्तों ने अलौकिक बातें बताई हैं।

प्रश्न : क्या कर्मोदय विना भी जीव में विकार हो सकता है? यदि कर्मोदय के विना ही विकार हो तो वह विकार जीव का स्वभाव ठहरे?

उत्तर : जीव की पर्याय में जो विकार होता है, वह पर्याय का स्वभाव है और वह अपने स्वतंत्र षट् कारकों से होता है। उसे होने में कर्म की विल्कुल भी अपेक्षा नहीं है। कर्म के विना नहीं होता अर्थात् कर्मोदय से होता है - यह तो अज्ञानी की मान्यता है। परन्तु यह वात सही नहीं है; क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि अशुभ भाव कार्य और तीव्र कर्मोदय कारण या उन अशुभ भावों का कर्ता - ऐसा वस्तुस्वरूप ही नहीं है। कर्मों से विकार होने की मान्यता तो सांख्यमत है।

अनन्त पुरुषार्थ और अनन्त वल का स्वामी यह आत्मा जिस क्षण स्वरूप में सावधान होकर अन्तर अवलोकन करे, उसी क्षण उसे यह ज्ञात हो जाता है कि पर्याय में जो राग होता है, वह पर्याय का धर्म है, पर्याय का कर्तव्य है। वह मेरा कर्तव्य नहीं है तथा जड़ कर्म का भी कर्तव्य नहीं है।

ऐसा भी नहीं है कि जीव के क्रोधादि एवं निर्दयता के अशुभ भाव कर्ता एवं जीवों का घात उनका कर्म तथा कर्मों का तीव्र उदय कारण व हिंसादि के अशुभभाव कार्य - ये सव मान्यतायें मिथ्या हैं।

भाई! सूक्ष्मपने विचार करें तो ये दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहाररत्नत्रय के भाव कर्ता और समकित आदि निर्मल रत्नत्रय रूप प्रगट पर्यायें उसके कार्य - भी नहीं है। "व्यवहार से निश्चय प्रगट होता है" यह मान्यता ही मिथ्या है।

अज्ञानी कहता है कि - कर्म ही जीवों को सव कुछ देता है और वही जीव का सव कुछ हर लेता है। उससे आचार्य कहते हैं कि अरे भाई! संयोग में जो स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि आते हैं, वे तो स्वयं अपने स्वचतुष्ट्य के कारण, अपने ही उपादान से आते हैं। साता वेदनीय कर्म का उदय तो निमित्त मात्र है। निमित्त सामग्री को वलपूर्वक खींच कर नहीं लाता। यह साम्रगी तो अपने आपसे स्वकाल में आती है और स्वयं की तत्समय की योग्यता से जाती है।

प्रश्न : क्या यह कहावत मिथ्या है कि –"कर्म राजा, कर्म रंक", अर्थात् कर्मोदय से ही जीव राजा व रंक हो जाता है।

उत्तर : भाई! ये सब तो निमित्ताधीन कथन हैं। जब निमित्त की मुख्यता से बात होगी तो ऐसा ही कहा जाता है, परन्तु यह कथन यथार्थ नहीं, उपचार मात्र है।

देखो, यहाँ अज्ञानी पुनः युक्ति प्रस्तुत करता है कि शास्त्रों में तो ऐसा लिखा है कि पुरुषवेद नाम कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नाम कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है। उससे कहते हैं कि शास्त्र में शब्द तो ये ही हैं, परन्तु इनका अर्थ तुम जैसा समझते हो वैसा नहीं है। यह तो निमित्तप्रधान कथन है। वास्तविक अर्थ तो इस कथन का यह है कि जब जिसे पुरुषवेद का उदय होता है। उसकाल में उसे स्त्री के साथ रमने का भाव होता है तथा वह भाव उस पुरुष को स्वयं की तत्समय की योग्यता से सहज विना कर्म की अपेक्षा ही होता है।

शास्त्र में किस अपेक्षा क्या कथन है, अज्ञानी इस वात को तो समझ नहीं पाता और कुतर्क करने लगता है। अतः उसे सर्वप्रथम कथनपद्धति एवं उसकी अपेक्षा भी ध्यान में रखना चाहिए।

वस्तुतः एक द्रव्य का कार्य दूसरा द्रव्य कर ही नहीं सकता।

आठ कर्मों में एक नाम कर्म है न? उसकी ९३ प्रकृतियाँ हैं। उनमें एक परघात प्रकृति है, जिसके निमित्त से परघात होता है अथवा जो परघात में निमित्त होती है। अज्ञानी मानता है कि परघात प्रकृति ही पर का घात करती है; परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। परघात रूप हिंसा का भाव जीव स्वयं करता है तथा परघात प्रकृति उसमें निमित्त मात्र होती है। पर का घात होना तो उसी जीव का कार्य है, जिसका घात हुआ है। उस कार्य की कर्ता न तो परघात नामक कर्म प्रकृति है और न जीव का हिंसक भाव ही है।

"जो पर का घात करे तथा जो पर से घाता जाए वह परघात कर्म है।" – ऐसे निमित्तप्रधान कथन का सहारा लेकर अज्ञानी अपने हिंसा के कर्तृत्व का

निषेध करता है। इसप्रकार वह अब्रह्मचर्य (कुशील) तथा हिंसा आदि सभी पापों को कर्म कृत मानकर जीव के कर्तापन का निषेध कर जीव को सर्वथा ही निर्दोष सिद्ध करता है। जो उचित नहीं है।

उससे आचार्य कहते हैं कि जो ऐसी सांख्यमत की प्ररूपणा करता है, वह श्रमणाभास है। वह अपनी प्रज्ञा के दोष से शास्त्र का उल्टा अर्थ करता है।

"कर्म के कारण शुभ-अशुभ भाव होते हैं, कर्म के कारण परघात होता है और कर्म के कारण अब्रह्मचर्य होता है" - ऐसी एकान्त प्ररूपणा करने वाले सब अज्ञानी सूत्रों के अर्थ को नहीं जानने वाले श्रमणाभासी हैं। जो कर्म को ही विकार का कर्ता मानता है, वह जैनमती नहीं, बल्कि सांख्यमती है। भले, जड़कर्म निमित्त हो, परंतु निमित्त के कारण जीव में विकार (कार्य) नहीं होता।

अहा! आचार्य कहते हैं कि एकान्त से कर्मप्रकृति के कर्तृत्व की मान्यता से समस्त जीवों के एकान्त से - अकर्तापना आ जाएगा। ऐसा होने पर "जीव कर्ता है" इस शास्त्र वचन की विराधना होगी।

"जीवों को कर्म ही संसार में परिभ्रमण कराता है, कर्म ही हैरान करता है, कर्म ही विकार करता है, जीव तो सर्वथा ही अकर्ता है" - ऐसा माननेवाला जिनवाणी का विराधक है।

अपनी बात को सिद्ध करने के लिये अज्ञानी तर्क करता है कि मिथ्यात्व, राग-द्वेष, अज्ञान आदि जितने पर्याय रूप विकारी भाव हैं, उन्हें जड़ कर्म करता है तथा आत्मा तो आत्मा के एक द्रव्यरूप को करता है। इसप्रकार आत्मा का कर्तापन भी आ जाता है, इससे आत्मा के कर्तापना व अकर्तापना - दोनों की ही सिद्धि हो जाती है। अतः श्रुत की विराधना नहीं होगी।

उससे आचार्य कहते हैं कि भाई! तेरा यह अभिप्राय मिथ्या ही है, क्योंकि त्रिकाली आत्मद्रव्य तो नित्य ध्रुव एकरूप है। इसमें करना ही क्या है? आत्मा अपने आत्मद्रव्यस्वरूप में क्या करे?

आत्मा पर्याय से अनित्य है, किन्तु द्रव्य रूप से तो अनादि-अनंत नित्य है। यहाँ अज्ञानी का कहना यह है कि अनित्य पर्याय के कर्ता जड़कर्म हैं तथा

आत्मा आत्मा का द्रव्य रूप से कर्ता है। परंतु अज्ञानी का यह कथन मिथ्या है, क्योंकि जो त्रिकाल नित्य है, उसमें करने को है ही क्या? जिसे द्रव्य करेगा? नित्य का कोई कर्ता नहीं होता। जिसमें पर्याय रूप पलटना हो, उसमें कार्य होता है; किन्तु जो नित्य (ध्रुव) है, उसमें करने जैसा कुछ भी नहीं होता। नित्य के कार्यपना बन ही नहीं सकता; क्योंकि कर्तृत्व के एवं नियतत्व के एकपने में परस्पर विरोध है अर्थात् जो नित्य है उसमें कर्तृत्व सम्भव नहीं है और जहाँ कर्तृत्व हो वहाँ नित्यता संभव नहीं है। आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है। जब अनादि अनंत ध्रुव एकरूप आत्मवस्तु स्वयं द्रव्यपने नित्य है तो उसमें कर्तापना कहाँ से आया। कैसे आ सकता है? वह तो द्रव्य रूप अकृतक ही है। आत्मद्रव्य किसी का किया हुआ है - यह मानना मिथ्या है।

देखो, पुद्गल स्कन्ध अनेक परमाणुओं से बना हुआ है। यह शरीर भी अनेक परमाणुओं का बना स्कन्ध है। उसमें समय-समय में कितने ही नवीन परमाणु आते हैं और कितने ही पुराने परमाणु बिछुड़ते हैं। आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

अज्ञानी की यह दलील है कि ज्ञायक भाव तो त्रिकाल ज्ञान भाव से ही स्थित है। ज्ञायक भाव के व कर्ता भाव के - परस्पर अत्यन्त विरुद्धता है। इस कारण ज्ञायक मिथ्यात्वादि भावों को करे - ऐसा संभव नहीं है। तथा मिथ्यात्वादि विकार होते तो हैं ही, इससे यह स्पष्ट है कि उन मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता कर्म ही है?

इसका समाधान करते हुए आचार्य अज्ञानी से कंहते हैं - भाई! तेरी जो यह वासना है - मिथ्या धारणा है, वह धारणा - "आत्मा आत्मा का कर्ता है" तेरे इस अभिप्राय का नाश करती है, क्योंकि ज्ञायक भाव को त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव में स्थित मानने पर आत्मा अकर्ता ही ठहरता है, किसी भी अपेक्षा कर्ता सिद्ध नहीं होता।

इसप्रकार आत्मा द्रव्य से, क्षेत्र से एवं भाव से किसी भी प्रकार कर्ता सिद्ध नहीं होता और काल से अर्थात् पर्याय से तो वह अज्ञानी स्वयं भी कर्ता नहीं मानता। पर्याय का कर्ता तो वह कर्मों को बताता है। इसलिये श्रुति के कोप से बचने के लिये आत्मा को कथंचित् कर्ता बताता है; परंतु उसकी ये सब

दलीलें मिथ्या हैं। वास्तव में पर्यायदृष्टि जीव अपनी पर्याय में हुए रागादि विकार का स्वयं ही कर्ता है तथा निजज्ञायक भाव की दृष्टि होने पर ज्ञानस्वभाव प्रगट होने से वह राग का कर्ता नहीं, मात्र ज्ञाता है। यह वस्तुस्थिति है।

देखो, पुद्गल स्कन्ध अनेक परमाणुओं का बना हुआ है। यह शरीर भी अनेक परमाणुओं का बना स्कन्ध है। इसमें कितने ही नये परमाणु आते हैं और कितने ही इसमें से निकल जाते हैं परमाणुओं से बने स्कन्ध का यही स्वभाव है, परंतु आत्मा असंख्यप्रदेशी अखण्ड एक द्रव्य है। आत्मा में न कोई नया प्रदेश आता है और न कोई आत्मप्रदेश निकल कर बाहर जाता है। अतः असंख्यप्रदेशी आत्मद्रव्य के क्षेत्र में भी कोई कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसप्रकार द्रव्य चतुष्टय में से द्रव्य व क्षेत्र में ये कर्तापना सिद्ध होता ही नहीं है। अब रही काल की बात सो पर्याय का कर्तापना तो वह अज्ञानी जड़ कर्मों को कहता है, अतः काल का कर्तृत्व भी आत्मा के सिद्ध नहीं होता।

आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञदेव के केवलज्ञान में स्पष्ट भासित लोक के जितने निश्चित असंख्य प्रदेश हैं, उतने ही एक जीवद्रव्य के निश्चित असंख्य प्रदेश हैं। तात्पर्य यह है कि जीवद्रव्य लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। इन आत्मप्रदेशों के संकोच-विस्तार द्वारा भी जीव के कर्तृत्व नहीं बन सकता, क्योंकि भले ही असंख्य प्रदेशों में संकोच-विकास होता है, किन्तु प्रदेशों की संख्या तो उतनी की उतनी असंख्य ही रहती है। उनमें कोई हीनाधिकता नहीं होती। जैसे कि कोई मनुष्य देह छोड़कर चींटी की पर्याय में जाय अथवा हाथी की पर्याय में जाय तो वहाँ असंख्यात प्रदेशों का संकोच-विकास तो होगा, पर संख्या कम-ज्यादा नहीं होगी, घटेगी-बढ़ेगी नहीं।

देखो, आत्मा द्रव्य से नित्य है, इसकारण आत्मा आत्मा को करता है - मान्यता सिद्ध नहीं होती। आत्मा क्षेत्रपने त्रिकाल नियत है, इसकारण आत्मा के क्षेत्रापेक्षा कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। और आत्मा त्रिकाल ज्ञानभाव से ही स्थित है। इस कारण कालापेक्षा भी कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

ज्ञायक··ज्ञायक··ज्ञायक - ऐसा जो एक ज्ञायक भाव - ध्रुव स्वभाव सामान्य ज्ञानस्वभाव से आत्मा स्थित है, उसमें पलटन नहीं है। अर्थात् ज्ञायक

स्वभावी भगवान आत्मा त्रिकालीद्रव्य द्रव्यरूप से नित्य है, क्षेत्र रूप से असंख्यात प्रदेशी नित्य है और भाव से सामान्य एक ज्ञायकभावपने नित्य है। ऐसा एकरूप नित्य रहने वाला ज्ञायक भाव होने से उसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं आता।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो "कर्म से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वादि भाव" – ऐसा जो उल्लेख है, उस कथन का क्या अर्थ है?

उत्तर : भाई! उसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उन रागादि विकारी भावों को कर्मों ने उत्पन्न किया है, किन्तु इसका अभिप्राय तो यह है कि वे भाव त्रिकाली स्वभाव के लक्ष्य से नहीं हुये, किन्तु कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से हुए हैं। उन रागादि विकारी भावों के काल में ज्ञान तो मात्र उन विकारी भावों को जानता है। अहा! ये दया, दान आदि जो राग के परिणाम हुए, उन ज्ञेयरूप भावों को स्पर्श किये बिना ही जानने के स्वभाव वाला होने से ज्ञानी तो ज्ञायक ही है। – ऐसा भिन्नपना जानने के बदले अज्ञानी अनादि से ऐसे भेदज्ञान से शून्य होने से राग के परिणाम को अपना स्वरूप जानता है। राग की क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। इसप्रकार राग को – पर को स्व के रूप में जानता हुआ वह विशेष अपेक्षा से देखें तो ज्ञान के परिणाम को अज्ञान रूप करता हुआ – पर्याय में मिथ्याज्ञान रूप करता हुआ राग का कर्तापना स्वीकारता है। यही अज्ञानी का कर्ताबुद्धि का अज्ञान है। रागादि परज्ञेय रूप से केवल जानने योग्य हैं, परंतु अज्ञानी उन्हें करने योग्य जानता है और ऐसा जानते हुए वह उसका कर्ता होता है।

प्रश्न : अज्ञानी के कर्तृत्व की भूल कहाँ तक रहती है?

उत्तर : जब तक ऐसा भेदज्ञान नहीं हो जाता कि – "ये दया-दान, व्रत-भक्ति आदि के जो विकल्प उठते हैं, वे सभी अपने आत्मद्रव्य से भिन्न परज्ञेय हैं तथा मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वरूपी चैतन्य महाप्रभु हूँ।" तब तक जीव अज्ञानभाव से परद्रव्य का कर्ता है।

अरे रे! भाई! तूने ऐसे आत्मकल्याणकारी मार्ग को यथार्थ जाने बिना चौरासी के अनंत-अनंत जन्म-मरण करके अनंत दुःख उठाए हैं। उन्हें तू भूल

गया है। प्रथम नरक की सबसे कम स्थिति दस हजार वर्ष है। उस प्रथम नरक के एक-एक समय के दु:खों की कल्पना मात्र से हृदय फट जाए - ऐसा भयंकर दु:ख है। लाखों टन लोहे के पिण्ड को पलभर में पानी कर दे - ऐसी जमशेदपुर की धधकती विद्युत भट्टी से अनंत गुणा दु:ख तो प्रथम नरक में गर्मी का है। संसार के दु:खों का वर्णन कहाँ तक करें? मिथ्यात्व के वश इस जीव की अनादि से ऐसी दशा हुई है कि जिसे वाणी से कहा नहीं जा सकता। परंतु अज्ञानी उन भूतकाल के भयंकर दु:खों को भूल गया है। करोड़ाधिपति बनकर बाहर की चमक-दमक में रम गया है! अरे! इस देह के छूटते ही यह सब वैभव और अनुकूल संयोग यहीं पर ज्यों के त्यों धरे रह जायेंगे। यद्यपि बाह्य अनुकूल वैभव के मोहपाश से निकलना सरल बात नहीं है, बहुत कठिन है; परंतु विचारणीय यह है कि इस वैभव में भगवान आत्मा नहीं है। प्रभु तू! कौन है और तेरी वस्तु क्या है? इसकी खबर बिना तेरे भव का - जन्म-मरण का अन्त नहीं आएगा।

यहाँ कहते हैं कि ये बाहर का वैभव तो दूर रहा, ये दया, दान, व्रत-भक्ति आदि के शुभभाव भी तब तक करने योग्य भासित होते रहेंगे, जब तक इसके भेदज्ञान नहीं हो जाता तथा परद्रव्य व विकारी भावों में से कर्ताबुद्धि नहीं टूट जाती।

हाँ, जब भेदविज्ञान के बल से अपने आत्मा में होने वाले सूक्ष्म विकल्प भी भिन्न भासित होने लगें, "मैं एक ज्ञायक स्वभाव चिदानंदघन प्रभु आत्मा हूँ" - ऐसी अन्तर्दृष्टि द्वारा भेदविज्ञानी हो जाता है, तब आत्मा को ही आत्मा रूप से जानता हुआ - वह ज्ञायकभाव विशेष अपेक्षा भी ज्ञानरूप हो जाता है। उस ज्ञान परिणाम से परिणमता हुआ केवल ज्ञातापन को लिए हुए साक्षात् अकर्ता होता है।

विशेष अपेक्षा से अर्थात् त्रिकाली द्रव्य-गुण-क्षेत्र तो अकर्ता है ही, उसमें तो कर्तापना है ही नहीं, वर्तमान पर्याय में भी जहाँ जीव अन्तर्मुख होकर ज्ञानस्वभाव से परिणमन करता है, रागरूप नहीं परिणमता, तब साक्षात् अकर्ता हो जाता है।

एक क्षुल्लकजी थे। वे बहुत ही भद्रपरिणामी थे। प्रतिदिन प्रवचन सुनने आया करते थे। वे कहा करते - 'पर से खस, स्व में बस, आयेगा अतीन्द्रिय आनन्द का रस, इतना करे तो वस।' संक्षेप में इतना ही धर्म है। यदि इतना कर लिया तो काफी है। यही साक्षात् अकर्तापना है। धर्मी जीवों को भी कमजोरीजनित राग होता है, परन्तु वे राग के कर्ता कदापि नहीं होते। ज्ञाता ही रहते हैं।

प्रवचनसार में आता है कि - "धर्मी के किंचित् राग का परिणमन है और परिणमन की अपेक्षा उतना उसे कर्तापना भी है। पर ध्यान रहे, ज्ञानी की दृष्टि में राग करने लायक नहीं है। इस कारण दृष्टि की अपेक्षा उसे अकर्ता कहा है। फिर ज्ञानी ज्ञान की अपेक्षा जानता है कि - जितना राग का परिणमन है, उतना दोष है तथा उतना कर्तापना - परिणमन में है। राग ठीक है, भला है, ऐसा धर्मी पुरुष कभी नहीं मानता, राग को तो वह हेय ही मानता है। तो भी जितना परिणमन है, उतना कर्तापना है - ऐसा यथार्थ जानता है।

यह बात सुनकर - पढ़कर किसी को ऐसा लगे - ऐसी आशंका हो कि घड़ीक में अकर्ता कहते हैं, घड़ीक में कर्ता कहने लगते हैं। - यह क्या बात है ? उससे कहते हैं कि भाई! जहाँ जिस अपेक्षा से जो बात कही गई हो - या कही जाती हो उसे उसी अपेक्षा यथार्थ समझना चाहिए। जब राग से भिन्न पड़कर चैतन्यस्वरूप निजशुद्ध आत्मा को जाना, अनुभव किया, तब राग परज्ञेयपने जानने में आता है; अतः वह साक्षात् अकर्ता होता है और इसी का नाम धर्म है।

जब तक भेदज्ञान का अभाव है तब तक जीव राग का स्वयं कर्ता है - ऐसा जानना।

गाथा ३३२ से ३४४ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, कोई अन्यमत वाले जो ईश्वर को मानते हैं, उनका कहना तो यह है कि ईश्वर ही सब कुछ करता है; परन्तु कुछ जैनमत वाले - जैनाभासी मुनिजन भी कर्मों को रागादि भावों का कर्ता मानते हैं। अल्पज्ञता आदि भी कर्म

ही करते हैं। ऐसा मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि वे अन्य मतावलम्वी एवं जैनाभासी - दोनों ही मिथ्यादृष्टि हैं। अहा! जैन मुनि भी स्याद्वाद को समझे विना एकान्त अभिप्राय रखते हैं। वस्तुतः आत्मा में जो शुभाशुभ विकार व अल्पज्ञता होती है, वह कर्मों का कार्य नहीं है। मिथ्यात्वादि भाव कर्मों का कार्य नहीं है। मिथ्यात्वादि भाव कर्मों के कारण नहीं होते। जीव अज्ञानवश स्वयं ही उन विकारी भावों का कर्ता है। यहाँ सर्वप्रथम जीव का पर्याय स्वभाव स्वतंत्र सत् होना सिद्ध करते हैं। जीव के विकार, अल्पज्ञता आदि कर्मों के कारण होते हैं - यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है।

प्रत्येक जीव द्रव्य से शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप अकर्ता है। यह नीम है न ? इस नीम के एक-एक पत्ते में असंख्य शरीर हैं और एक-एक शरीर में एक-एक जीव है। वह प्रत्येक जीव शुद्ध चैतन्य स्वभावमय अकर्ता है। ऐसा होते हुये भी उसकी पर्याय में जो अल्पज्ञता और विकारी दशा होती है, वह जीव से स्वयं होती है, जड़कर्म के कारण अल्पज्ञता व विकार उत्पन्न नहीं होता। वह विकारी दशा स्वयं पर्याय का स्वभाव है। उसे प्रकृति का स्वभाव कहना तो निमित्त का कथन है।

अहा! जिस पुरुष को ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई है कि मुझे जो विकारी दशा हुई है, वह मुझ से ही और मुझ में ही हुई। तथापि मेरी शुद्ध चैतन्य स्वभावमय वस्तु में विकार नहीं है - वह धर्मी पुरुष है।

भाई! आत्मा शरीर, मन, वाणी, इन्द्रिय आदि से त्रिकाल भिन्न है; क्योंकि ये सब जड़ हैं। इनका कर्ता-हर्ता आत्मा नहीं है। परन्तु आत्मद्रव्य की पर्याय में जो पुण्य-पाप आदि भाव और अल्पज्ञ दशा है वह दशा अपना ही कार्य है, वह कर्म का कार्य नहीं है। अहा! जो पर्याय की ऐसी स्वतंत्रता स्वीकार करे वह पर्यायबुद्धि छोड़कर स्वभाव दृष्टि कर सकता है। जो पर्याय को कर्म के द्वारा हुई पराधीन मानता है, वह स्वाधीनता की दृष्टि कैसे कर सकता है ? पराधीन दृष्टिवालों के स्वाधीन दृष्टि होना संभव नहीं है। जो विकारी अथवा अविकारी परिणाम को स्वयं स्वतंत्रपने होना मानता है, वही पर का लक्ष्य छोड़कर स्व के लक्ष्य से स्वरूप में जा सकता है।

"आत्मा पर को करता है" - यह बात तो है ही नहीं, "आत्मा पर को जानता है" - ऐसा कहना भी व्यवहार है। तथा "आत्मा स्वयं को जानता है" - वस्तु में इतना भेद करना भी व्यवहार है।

समयसार गाथा ३५६ से ३६५ की टीका में आया है कि - "आत्मा परद्रव्य को जानता है।" - यह व्यवहारनय का कथन है। "आत्मा स्वयं को जानता है" - ऐसा कहना भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है। "ज्ञायक ज्ञायक है।" - यह निश्चय है।" अहाहा ···! स्वयं स्वयं को जानता है - ऐसा भेद भी जिसमें नहीं है, यह ज्ञायक प्रभु ज्ञायक ही है। तथा वही सम्यग्दर्शन का विषय है। एक ज्ञायक के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

जो ऐसा मानता है कि - "राग का कर्ता एकान्ततः जड़कर्म ही है।" वह पराधीन दृष्टि वाला होने से मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि उसे अन्दर विराजमान त्रिकाली स्वाधीन आत्मस्वरूप की दृष्टि नहीं हुई है।

अहो! सर्वज्ञदेव परमात्मा फरमाते हैं कि तू भी मेरे जैसा ही परमात्मस्वरूप है। मात्र एक समय की पर्याय में भूल है। वह स्वाधीन दृष्टि होने पर निकल जाने योग्य है।

अहा! आठ वर्ष का बालक भी स्वरूप को समझ कर केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है - ऐसी उसमें शक्ति है, योग्यता है। आठ वर्ष का बालक राजकुमार गुरु के पास जाए और अति विनयवान होकर तत्त्व सुने और यदि उसके अन्तर में बैठ जाए कि अहो! मैं तो पूर्णानन्द का नाथ अकेली शान्ति का पिण्ड हूँ, मुझे अन्य कोई अपेक्षा नहीं है। - ऐसा ज्ञान होने पर उसे अन्दर में ऐसे वैराग्य की कणिका जग जाती है कि उसे स्वरूप में विशेष रमने के लिए दीक्षित होने की भावना होती है और वह माता के पास जाकर कहता है। हे माता! तू इस शरीर की जन्मदात्री माता है। तू मेरे आत्मा की जन्मदात्री नहीं है। मैं अर्थात् मेरा आत्मा तो स्वभाव से ही अजन्मा है। मैंने अब अपने उस आत्मा के निजस्वरूप को जान लिया है, उसका अनुभव कर लिया है। अब मैं उसे पर्याय में प्रकट करने के लिये साधना करने हेतु जंगल में जाना चाहता हूँ। हे माता! अब मुझे बारम्बार नई-नई मातायें नहीं बनाना है। इसलिये हे माँ! तू मुझे जिन दीक्षा लेने की आज्ञा दे दे।

अहाहा! मणिमय रत्नों से जड़ा हुआ जिसका राजमहल है। ऐसे राजा का पुत्र-राजकुमार माता की आज्ञा लेकर परिपूर्ण आनन्द को साधने के लिये जंगल में चला जाता है। अहो! धन्य यह वैराग्य का प्रसंग! धन्य यह मुनि दशा!!

अहा! जिसप्रकार द्रव्यदृष्टिवन्त पुरुष तीव्र वैराग्य को प्राप्त होने पर साधना की पूर्णता करने के लिये गृहवास छोड़कर जंगल में चला जाता है, उसीप्रकार वर्तमान पर्याय में जो विकार या अल्पज्ञता है, वह अपनी दशा है, कर्म के कारण नहीं हुई है - ऐसी पर्याय की स्वतंत्रता अन्तर में बैठने पर वह द्रव्य की स्वतंत्रता नक्की करने के लिये पर्याय का लक्ष्य छोड़कर सीधा त्रिकाली द्रव्य में चला जाता है।

"कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण अल्पज्ञता होती है, कर्मक्षय होने पर ही ज्ञान का विकास हो सकता है, इसप्रकार कर्म ही सब कुछ करता है" यह मान्यता जैनदर्शन की नहीं है। यह तो अज्ञानियों की मान्यता है; परन्तु जैन-दर्शन के व्याख्याकार भी इस विषय में कहीं-कहीं चूक जाते हैं। जब वे करणानुयोग की व्याख्या करते हैं तो उसकी अपेक्षा एवं कथनपद्धति को ध्यान में न रखकर सर्वथा ऐसा ही मान लेते हैं कि - वेद कर्म के उदय से स्त्री-पुरुषों को विकार होता है तथा उपघात व परघात कर्मप्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है। इसप्रकार जिसतरह सांख्यमती सभी कुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं और पुरुष को अकर्ता मानते हैं, उसी तरह अपनी बुद्धि के दोष से कथन की अपेक्षा से अनभिज्ञ जैनदर्शन के व्याख्याकारों का भी ऐसा ही एकान्त मानना हुआ।

ऐसा मानने वालों पर जिनवाणी का कोप क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा ही। जिनवाणी के कोप के भय से अर्थात् जिनवाणी की विराधना से बचने के लिये यदि वे विवक्षा पलटकर ऐसा कहें कि - "भावकर्मों का कर्ता कर्म है और अपने आत्मा का अर्थात् अपना स्वयं का कर्ता आत्मा है। इसप्रकार हम तो आत्मा को कथंचित् कर्ता कहते हैं। इससे हम पर जिनवाणी का कोप नहीं होगा।" उनसे कहते हैं कि - "भाई! तुम्हारा यह कथन भी मिथ्या ही है।"

देखो! शास्त्र पढ़कर भी वे ऐसा विपरीत आशय निकालते हैं कि जो पुरुष का स्त्री के साथ रमने का भाव होता है तथा स्त्री का पुरुष से रमने का भाव होता है, वह वेदकर्म का कार्य है, क्योंकि आत्मा तो अकर्ता है, निर्दोष है तथा वेदकर्म ही स्त्री-पुरुष को विकारी कराता है। परन्तु यह तो सांख्यमत है।

जिनवाणी को जो स्याद्वाद रूप कहा है, सो उसमें स्याद्वाद की अपेक्षा तो यह है कि जीव के विकार भावों का अज्ञान दशा में तो जीव ही कर्ता है और स्वभाव के लक्ष्य से ज्ञान भाव प्रकट होने पर वह जीव विकार का कर्ता नहीं है। इसप्रकार जिनवाणी तो स्याद्वाद रूप है; परन्तु ऐसा न मानकर आत्मा को सर्वथा एकान्त से अकर्ता ही मानने वाले जिनवाणी के विराधक हैं।

जिनवाणी के कोप के भय से अर्थात् जिनवाणी की विराधना के भय से विवक्षा पलटकर यदि वह ऐसा कहे कि — "भावकर्मों का कर्ता कर्म है और अपने आत्मा का कर्ता आत्मा है, इसप्रकार हम आत्मा के कथंचित् कर्तापना भी मानते हैं। इससे हम पर जिनवाणी का कोप नहीं होता।"

पर उसका यह कहना भी मिथ्या है, क्योंकि आत्मा द्रव्य से नित्य है, क्षेत्र से नियत लोकप्रमाण असंख्यात् प्रदेशी है। उसमें पलटना तो कुछ होता नहीं, तो फिर आत्मा आत्मा का कर्ता है — यह बात ही कैसे संभव है। आत्मा में कुछ नवीन कार्य का कर्तृत्व ही नहीं है, अतः आत्मा तो अकर्ता ही ठहरा न? तब फिर जिनवाणी का कोप कैसे मिटेगा?

अतः आत्मा के कर्तापन व अकर्तापन की यथार्थ विवक्षा मानना ही स्याद्वाद का सच्चा मानना है।

आत्मा का कर्तापन - अकर्तापन में सत्यार्थ स्याद्वाद प्ररूपण इसप्रकार है —

आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो सामान्य - सामान्य एकरूप अनंत गुणों का एक अभेद पिण्ड प्रभु सदा ज्ञान स्वभाव से ही स्थित है अर्थात् सामान्य से ही चैतन्य-चैतन्य - चैतन्य के सदृश प्रवाह रूप वस्तु है; परन्तु विशेष अपेक्षा से

अर्थात् पर्याय की दृष्टि से मिथ्यात्वादि को जानने के काल में जो रागादि होते हैं, उन्हें वह जानता है। उन रागादि भावों के जानने के काल में भी अनादि काल से ज्ञेय व ज्ञान के भेदज्ञान के अभाव के कारण, ज्ञेयरूप जो रागादि भाव हैं, उन्हें आत्मा के रूप में जानता है।

ये दया, दान, व्रत आदि के जो भाव होते हैं, वे परज्ञेय हैं और ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा उनसे भिन्न है – ऐसा भेदज्ञान अनादि काल से नहीं होने से व्रतादि राग के भावों को जानने के काल में "वे भाव आत्मा ही हैं, मैं ही हूँ" – ऐसा वह जानता है। इसप्रकार विशेष अपेक्षा से – पर्याय अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को करता हुआ होने से वह राग का कर्ता होता है तथा सामान्य अपेक्षा से तो वह ज्ञान स्वभाव में स्थित अकर्ता स्वभावी है। किन्तु वर्तमान पर्याय अपेक्षा से राग को अपना मानकर ज्ञान परिणाम को अज्ञान रूप करता हुआ वह राग का कर्ता होता है। इसप्रकार वह कथंचित् कर्ता है।

जव भेदज्ञान होने से अर्थात् "मैं राग से भिन्न एक ज्ञायकस्वभावी सच्चिदानंद प्रभु आत्मा हूँ – ऐसा भान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है, अनुभव करता है, तव विशेष अपेक्षा से अर्थात् पर्याय अपेक्षा से ज्ञानरूप परिणाम से ही परिणमता हुआ केवल ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है।

देखो, क्या कहा ? कहा है कि — धर्मी को दया, दान, व्रतादि का राग होता है, परन्तु उसी काल में राग से भिन्न 'मैं ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा हूँ' – ऐसा अन्तर में भेदज्ञान भी वर्तता है, इस कारण वह राग के साथ एकमेक नहीं होता; किन्तु उस राग को वह पृथक् ही जानता है, केवल उस राग का ज्ञाता ही रहता है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम से ही परिणमता हुआ केवल ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है। वस इसी का नाम समकित है, धर्म है।

इसप्रकार भेदज्ञान होने पर ज्ञानी वर्तमान पर्याय में ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को ही करता हुआ केवल ज्ञाता ही रहने से साक्षात् अकर्ता है। यह ही सच्चा स्याद्वाद है।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वम् तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्॥ २०५॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

श्लोकार्थ : [**अमी आर्हताः अपि**] यह आर्हत् मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी [**पुरुषं**] आत्मा को, [**सांख्याः इव**] सांख्यमतियों की भाँति, [**अकर्तारम् मा स्पृशन्तु**] (सर्वथा) अकर्ता मत मानो; [**भेद-अवबोधात् अधः**] भेदज्ञान होने से पूर्व [**तं किल**] उसे [**सदा**] निरन्तर [**कर्तारम् कलयन्तु**] कर्ता मानो, [**तु**] और [**ऊर्ध्वम्**] भेद-विज्ञान होने के बाद [**उद्धत-बोध-धाम-नियतं स्वयं प्रत्यक्षम् एनम्**] उद्धत ज्ञानधाम [**अचलं एकं परम् ज्ञातारम्**] (ज्ञान मन्दिर, ज्ञानप्रकाश) में निश्चित इसे कर्तृत्वरहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही [**पश्यन्तु**] देखो।

भावार्थ : सांख्यमतावलम्बी पुरुष को सर्वथा एकान्त से अकर्ता, शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं। ऐसा मानने से पुरुष को संसार के अभाव का प्रसंग आता है; और यदि प्रकृति को संसार माना जाये तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, उसे सुखदुःखादि का संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा? ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यता में आते हैं। सर्वथा एकान्त वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। इसलिये सांख्यमती मिथ्यादृष्टि है; और यदि जैन भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिये आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि - सांख्यमतियों की भाँति जैन आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानें; जब तक स्व-पर का भेदविज्ञान न हो तब तक तो उसे रागादि का - अपने चेतनरूप भावकर्मों का - कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होने के बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित, एक ज्ञाता ही मानो। इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व — ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत

जैनों का है और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा (स्याद्वादानुसार) मानने से पुरुष को संसार-मोक्ष आदि की सिद्धि होती है; और सर्वथा एकान्त मानने से सर्व निश्चय-व्यवहार का लोप होता है ॥ २०५ ॥

कलश २०५ पर प्रवचन

सांख्यमती तो ऐसा मानते हैं कि "आत्मा सर्वथा अकर्ता है। जीव को पर्याय में जो राग-द्वेष व पुण्य-पाप होते हैं, उनका कर्ता आत्मा नहीं हैं, कर्म ही उनके कर्ता हैं।"

उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि भगवान अर्हन्तदेव के अनुयायी जैन भी यदि सांख्यों की भाँति आत्मा को सर्वथा अकर्ता माने तो उनकी यह मान्यता मिथ्या हैं; क्योंकि वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है।

ये शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ आदि सब जड़ पदार्थ पर पदार्थ हैं। उनका कर्ता आत्मा नहीं है; क्योंकि प्रत्येक पदार्थ समय-समय पर अपना-अपना कार्य करता ही रहता है। कोई भी पदार्थ कार्य बिना (खाली) नहीं है। इससे एक दूसरे के कार्य के लिये किसी भी पदार्थ के पास समय ही नहीं है, वह दूसरे के कार्य कब करे? न किसी को फुरसत है, न किसी में ऐसी कोई योग्यता व शक्ति है, जो दूसरे का कार्य करे। इससे आत्मा शरीरादि का कार्य करे अथवा शरीरादि आत्मा का कार्य करे - ऐसा कभी संभव ही नहीं है।

प्रश्न : जीव की पर्याय में जो दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभरागरूप तथा हिंसा, झूठ, चोरी आदि के अशुभरागरूप भाव होते हैं, उनका कर्ता कौन है? क्या कर्म उन भावों के कर्ता हैं या जीव स्वयं उन शुभाशुभ भावों का कर्ता है?

उत्तर : जब तक ऐसा भेदज्ञान नहीं होता कि — ज्ञानानंद स्वभावी शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा भिन्न है और रागादि विकारी भाव भिन्न हैं, तब तक पर्याय में जो राग-द्वेष-मोह के भाव निरंतर होते हैं, उनका कर्ता आत्मा है - ऐसा मानो।

ये सेठ लोग जो जवाहरात आदि का व्यापार करके पैसा कमाते दिखते हैं न? सचमुच ये कुछ नहीं कमाते-धमाते । जो धूल रूप धन आता-जाता है

उसका तो अज्ञानी आत्मा भी करता नहीं है, वह तो अपनी स्वतंत्र योग्यता से क्षेत्र से क्षेत्रांतर होता है। हाँ, तत्सम्बन्धी लोभ व मायाचार का जो परिणाम होता है, उसका कर्ता वह अज्ञानी अवश्य है।

अहाहा···। जब तक ऐसा भान नहीं हुआ कि विकार से भिन्न निर्मल निर्विकार शुद्ध चिदानन्दघनस्वरूप आत्मा मैं हूँ – तब तक आत्मा अपने अज्ञान भावों का – रागादि भावों का कर्ता है। तथा जब पर्याय में हुये विभाव का लक्ष्य छोड़कर अन्दर ध्रुवधाम निज चैतन्यं भगवान में दृष्टि जोड़ दे तो तुरंत ही वह उस कर्तापन के भाव से रहित हो ज्ञाता स्वरूप हो जाता है।

हे भाई! तू एक समय की पर्याय में दृष्टि को मत जोड़, किन्तु ध्रुव धाम ध्येय की धुनि लगाकर उसका ध्यान कर! यही धर्म प्राप्त करने की रीति है।

अहो! धैर्य से ध्रुमधाम ध्येय की धधकती धुनि लगाकर ध्यानमय धर्म का धारक धर्मीजीव धन्य है।

आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि वह ज्ञान में स्वयं ज्ञात हो, क्योंकि स्वयं प्रकाशमान स्वसंवेदनमयी प्रकाश नामक शक्ति आत्मा में है, जिससे आत्मा स्वसंवेदन में जानने योग्य है।

आत्मा उद्धत वोध धाम है। यह चैतन्य वस्तु ऐसी उद्धत है कि किसी को गिनती ही नहीं है। राग व पर्याय को भी नहीं गिनती अर्थात् सभी को गौण कर देती है। वर्तमान ज्ञान की पर्याय को अन्तर्मुख करके उसे जान ले। वस एकमात्र यही करने योग्य कार्य है। स्व-संवेदन ज्ञान में आत्मा प्रत्यक्ष होने पर उसकी जो निर्मल प्रतीति होती है – वस इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

भाई! धर्म कोई अलौकिक वस्तु है। पर लोगों ने इसे क्रियाकांड में कैद कर रखा है। वस्तुतः सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् श्रावक धर्म प्रगट होता है और तत्पश्चात् मुनिधर्म प्रगट होता है।

भाई! अज्ञानी ने अनादिकाल से शुभ राग व निमित्तों को ही महत्व दे रखा है। अंतरंग में महा महिमावंत प्रभुता का स्वामी भगवान आत्मा विराज रहा है, उसे आज तक महत्व नहीं दिया अथवा उसकी महिमा नहीं जानी। आचार्य

कहते हैं कि भाई! एकवार तू उस आत्मा को देख! तुझे अन्दर में ज्ञानानंद स्वभावी लक्ष्मी का भंडार अनुभव में आयेगा और उसी समय पर में तेरी कर्तृत्व बुद्धि टूट जायेगी; क्योंकि कर्तापना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

प्रश्न : तो क्या समकिती को कभी राग होता ही नहीं है?

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् भी समकिती को राग होता है, किन्तु उस राग का वह ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद उद्धत ज्ञानधाम प्रभु आत्मा अकर्ता, अचल, एक और परम ज्ञाता ही है। अहा! आत्मा जगत के किसी पदार्थ की अवस्था का कर्ता तो नही है, पर्याय में जो किंचित् राग होता है, ज्ञानी उसका भी कर्ता नहीं है, केवल ज्ञाता ही है। इसप्रकार राग से हटना और स्व में बसना। बस इसका नाम संवर व निर्जरा है। निश्चय तप भी यही है और निश्चय उपवास भी यही है। ''उपवसति इति उपवास:'' अर्थात् चिदानन्द-स्वरूप भगवान आत्मा के समीप वसना उपवास है।

हे भाई! भेदज्ञान होने के पहले अज्ञान में आत्मा को राग का कर्ता देखा, परंतु भेदज्ञान होने पर ज्ञानी उद्धत ज्ञानधाम में निश्चित स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को अचल, एक एवं परम ज्ञाता ही देखता है।

कलश २०५ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, अन्य मतों में एक सांख्य मत है। वह पुरुष अर्थात् आत्मा को सर्वथा अकर्ता, शुद्ध, उदासीन चैतन्यमात्र मानता है। आत्मा में जो पुण्य-पाप आदि के भाव होते हैं, सांख्यमतानुसार इन्हें ''पुरुष'' नहीं करता। वह इन्हें प्रकृति का दोष मानता है। यदि जैनमतानुयायी भी आत्मा को सर्वथा अकर्ता माने तो आत्मा के संसार का अभाव ठहरेगा तथा प्रकृति को तो संसार सिद्ध होता नहीं, क्योंकि वह तो जड़ है। उसे कहाँ हर्ष-विषाद और सुख-दु:ख का संवेदन है?

इसप्रकार पुरुष (आत्मा) को सर्वथा - एकान्त से अकर्ता मानने में दोष आता है। ऐसी मान्यता वाले जैन भी सांख्यों की भाँति मिथ्यादृष्टि ही हैं।

प्रश्न : आगम में जो मोहनीय कर्मप्रकृति के उदय से जीव को मिथ्यादृष्टि कहा है, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर : भाई, वहाँ तो निमित्त की मुख्यता से ऐसा कथन किया गया है। वस्तुतः तो जो विकार होता है, वह स्वयं की तत्समय की योग्यता से ही होता है, कर्मों के कारण नहीं।

जीव जो हिंसादि विकार करता है, वह स्वयं अपने स्वरूप को भूल कर करता है। कर्मों को इनका कर्ता मानना यथार्थ नहीं है।

भाई! यह आत्मा शरीर, मन, वाणी की क्रिया को, स्त्री-पुत्र के पालन-पोषण की क्रिया को तथा देश व समाज की सेवा आदि कार्यों को करे - यह बात ही संभव नहीं है, क्योंकि ये परद्रव्य इस जीव के द्रव्य-गुण-पर्यायों में कहाँ हैं, जो यह उन्हें करे? पर का कर्तृत्व मानना ही मूढ़ता है, मिथ्यादृष्टिपना है। इनका कर्तृत्व मानना तो मूढ़ता है ही, परन्तु वे पर के कारण होते हैं - ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है, मूढ़ता है।

जैन होकर भी जिसे यह खबर नहीं है कि वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर वस्तु व्यवस्था के सम्बन्ध में क्या कहते हैं? वह मिथ्यादृष्टि ही है।

अतः आचार्य कहते हैं कि जब तक भेदज्ञान नहीं होता, अर्थात् आत्मा की अवस्था में होनेवाले पुण्य-पाप रूप आस्रव बंध के परिणाम आत्मा के स्व चैतन्य तत्त्व से भिन्न हैं - ऐसा भासित नहीं होता, तब तक उसे रागादि का कर्ता मानो।

जो भक्ति आदि का राग है, वह सब 'पर' है और स्वयं शुद्ध चैतन्य ज्योतिस्वरूप - अकेले चैतन्य के प्रकाश का पूर प्रभु आत्मा 'स्व' है - इसप्रकार स्व और पर का जब तक भिन्नपना भासित नहीं होता, तबतक जीव अज्ञानी है तथा अज्ञानी होता हुआ वह पुण्य-पाप आदि भावों का कर्ता है।

देखो, हिरण की नाभि में कस्तूरी होती है, पर उसे इस बात की खबर नहीं है कि यह सुगन्ध कहाँ से आ रही है। अतः वह उसे खोजने के लिए बाहर में इधर से उधर, उधर से इधर दौड़ा करता है और थक कर प्राण तक गँवा देता है, इसी तरह मूढ़ जीव के स्वभाव में - सुख का सागर लहरा रहा है, पर उसे यह भान नहीं है कि मैं सुख का अथाह समुद्र हूँ। सुख कहीं बाहर

नहीं है। इस कारण सुख प्राप्ति के लिये बाहर में भाग-दौड़ किया करता है। अनेक विकल्पों में उलझा रहता है। उस हिरण की भाँति ही वह मूढ़ अज्ञानी जीव अपने रागादि विकल्पों का कर्ता है। बाहर के पदार्थ-कर्म आदि उसके कर्ता नहीं हैं।

प्रश्न : आत्मा उन विकल्पों का कर्ता कब तक है?

उत्तर : जब तक स्व-पर का भेदज्ञान नहीं हो जाता तब तक वह अपने उन रागादि विकल्पों का कर्ता है। भेदज्ञान होने पर शुद्ध विज्ञानघन समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित उसे एक ज्ञाता ही मानो।

देखो, यह स्वभाव की रुचि का ही जोर है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि के अस्थिरता-जनित किंचित् राग होता है, किन्तु उसका उसे स्वामित्व नहीं होने से वह उस राग का भी कर्ता नहीं है, ज्ञाता ही है।

इसप्रकार एक ही आत्मा में कर्तापना व अकर्तापना - दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध होते हैं। अज्ञानपने में तो विकार का कर्ता तथा भेदज्ञान होने पर अकर्ता सिद्ध होता है। ऐसा स्याद्वाद मत जैनों में है और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है।

ऐसे स्याद्वाद के अनुसार वस्तुस्वरूप मानने से पुरुष को संसार व मोक्ष सिद्ध होते हैं।

अज्ञान भाव से विकार का कर्ता मानने से अज्ञानी जीव को संसार की सिद्धि होती है तथा ज्ञानभाव से अकर्ता होने से केवल ज्ञातापना व मोक्ष दशा सिद्ध होती है। अज्ञानपने भी जीव को यदि अकर्ता माने और कर्म को कर्ता माने तो संसार व मोक्ष - कुछ भी सिद्ध नहीं होगा तथा निश्चय व्यवहार भी सिद्ध नहीं होगा।

(मालिनी)

क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव ॥ २०६ ॥

आगे की गाथाओं में, 'कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है' ऐसा मानने वाले क्षणिकवादी बौद्धमतियों की सर्वथा एकान्त मान्यता में दूषण बतायेंगे और स्याद्वादानुसार जिस प्रकार वस्तुस्वरूप अर्थात् कर्ताभोक्तापन है उसप्रकार कहेंगे। उन गाथाओं का सूचक काव्य प्रथम कहते हैं —

श्लोकार्थ : [**इह**] इस जगत में [**एक:**] कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) [**इदम् आत्मतत्त्वं क्षणिकम् कल्पयित्वा**] इस आत्मतत्त्व को क्षणिक कल्पित करके [**निज-मनसि**] अपने मन में [**कर्तृ-भोक्त्रो: विभेदं विधत्ते**] कर्ता और भोक्ता का भेद करते हैं (—कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं); [**तस्य विमोहं**] उनके मोह को (अज्ञान को) [**अयम् चित्-चमत्कार: एव स्वयम्**] यह चैतन्यचमत्कार ही स्वयं [**नित्य-अमृत-ओघै:**] नित्यतारूप अमृत के ओघ (-समूह) के द्वारा [**अभिषिञ्चन्**] अभिसिंचन करता हुआ [**अपहरति**] दूर करता है।

भावार्थ : क्षणिकवादी कर्ता-भोक्ता में भेद मानते हैं, अर्थात् वे यह मानते हैं कि - प्रथम क्षण में जो आत्मा था वह दूसरे क्षण में नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि - हम उसे क्या समझायें ? यह चैतन्य ही उसका अज्ञान दूर कर देगा - कि जो (चैतन्य) अनुभवगोचर नित्य है। प्रथम क्षण में जो आत्मा था वही द्वितीय क्षण में कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ'; इसप्रकार का स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता बतलाता है। यहाँ बौद्धमती कहता है कि — 'जो प्रथम क्षण में था वही मैं दूसरे क्षण में हूँ' ऐसा मानना वह तो अनादिकालीन अविद्या से भ्रम है; यह भ्रम दूर हो तो तत्त्व सिद्ध हो, और समस्त क्लेश मिटे। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि - "हे बौद्ध! तू यह जो तर्क (दलील) करता है, उस सम्पूर्ण तर्क को करनेवाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा हैं ? और तेरे सम्पूर्ण तर्क को एक ही आत्मा सुनता है ऐसा मान कर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मा बदल जाते हैं ऐसा मानकर तर्क करता है ? और तेरी सम्पूर्ण तर्क एक ही आत्मा सुनता है ऐसा मानकर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मायें पलट जाते हैं ऐसा मानकर तर्क करता है ? यदि अनेक आत्मा बदल जाते हों तो तेरे सम्पूर्ण तर्क को कोई आत्मा सुनता नहीं है; तब फिर तर्क करने का

क्या प्रयोजन है ?* यों अनेक प्रकार से विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि आत्मा को क्षणिक मानकर प्रत्यभिज्ञान को भ्रम कह देना वह यथार्थ नहीं है। इसलिये यह समझना चाहिये कि - आत्मा को एकान्ततः नित्य या एकान्ततः अनित्य मानना वह दोनों भ्रम हैं, वस्तुस्वरूप नहीं; हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं वही सत्यार्थ है"॥ २०६॥

कलश २०६ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

यह कलश आगामी गाथाओं की सूचना देनेवाला कलश है। इसमें क्षणिकवादी बौद्धमत की एकांत मान्यता में दूषण देते हैं। कहते हैं कि इस लोक में क्षणिकवादी बौद्धमती आत्मा को क्षणिक मानते हैं; जबकि आत्मा वस्तुस्वरूप से तो नित्य है, क्षण-क्षण में तो उसकी मात्र अवस्था बदलती है। इस रहस्य से अनजान बौद्धमतानुयायी मूल वस्तु को ही क्षणिक मानकर वस्तु स्वरूप के प्रतिपादन में मिथ्या कल्पना करता है। ऐसा मानता हुआ वह कर्ता-भोक्ता में भेद करता है। उसकी मान्यतानुसार जो वर्तमान कर्म करता है, उसका फल भोगने को उसे नहीं मिलता। उसका फ़ल कोई अन्य ही भोगता है। जिस आत्मा ने वर्तमान में पुण्य-पाप का भाव किया, उसका तो अगले ही क्षण विनाश हो जायेगा, भोगने के लिये वह तो रहेगा ही नहीं। भविष्य में दूसरा ही आत्मा होगा, जो इसके पुण्य-पाप का फल भोगेगा अर्थात् व्यय को प्राप्त होती हुई पर्याय के साथ आत्मद्रव्य का ही व्यय हो जाता है तथा उत्पन्न होती हुई पर्याय के साथ नवीन आत्मा का उत्पाद होता है - ऐसा वह क्षणिकवादी मानता है।

परन्तु भाई! यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है; क्योंकि - आत्मवस्तु का ऐसा क्षणिक स्वरूप नहीं है। वस्तुतः पर्याय स्वरूप से पलटते हुये आत्मा द्रव्यस्वरूप से शाश्वत् नित्य है। ऐसे वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन करके अर्थात् चैतन्य प्रकाश

---

* यदि यह कहा जाये कि 'आत्मा तो नष्ट हो जाता है किन्तु वह संस्कार छोड़ता जाता है' तो यह भी यथार्थ नहीं है; यदि आत्मा नष्ट हो जाये तो आधार के बिना संस्कार कैसे रह सकता है ? और यदि कदाचित् एक आत्मा संस्कार छोड़ता जाये, तो भी उस आत्मा के संस्कार दूसरे आत्मा में प्रविष्ट हो जायें ऐसा नियम न्यायसंगत नहीं है।

के पुंज अनादि अनंत नित्य आत्मा का यथार्थ स्वरूप बताते हुये आचार्यदेव उस क्षणिकवादी के अज्ञान को दूर करते हैं। वे कहते हैं - क्षणिक पर्याय से हटकर अन्दर में आनंदकंद नित्यानंद आत्मप्रभु विराजता है। उसकी दृष्टि करने पर वह नित्यता रूप अमृत का सागर प्रभु उछल कर पर्याय में प्रकट होता है और तब क्षणिकवाद के अज्ञान का नाश हो जाता है।

देह देवालय में विराजमान भगवान आत्मा अन्तर में अनादि-अनंत नित्यानंद स्वरूप है न ? अब तक जितने भी पर्याय में परमात्मा बने, कार्य परमात्मा बने, वे सब अन्दर आत्मा में विद्यमान शक्ति को प्रकट करके ही परमात्मा बने हैं न ? यह बात क्षणिकवादी की समझ में क्यों नहीं आती ? यह आश्चर्य है।

उससे कहते हैं कि बापू! तू इस क्षणिकवाद का मताग्रह छोड़ दे और अन्दर में विद्यमान जो अमृत का कंद चित्चमत्कार प्रभु है, उसे जान, उसकी दृष्टि कर, तुझे निश्चित ही अमृत का स्वाद आयेगा तथा क्षणिक होने की भ्रांति मिट जायेगी।

देखो, अज्ञानी को अपने त्रिकाली स्वरूप की खबर नहीं है। इस कारण वह वर्तमान पर्याय को ही आत्मा मानता है। क्षण-क्षण में जो पर्याय पलटती है, उसे ही वह आत्मा मानता है। वर्तमान में जो आत्मा है, वह अगले क्षण में नहीं रहती है। प्रत्येक क्षण में नवीन-नवीन आत्मा का जन्म मानने वाला बौद्धमती कर्ता-भोक्ता में भेद मानता है। जो जीव कर्म करता है, वह उसको भोगने के समय रहता ही नहीं है। कर्ता कोई और है तथा भोक्ता कोई और ही है।

आचार्य कहते हैं — उसे कौन समझाये? नित्य अनुभव गोचर चेतन आत्मा ही उसके भ्रम को दूर कर सकता है। प्रति समय पलटता हुआ भी जो यह चैतन्य अपने स्वानुभव में नित्य आता है। वह अनुभव ही इस अज्ञान को मिटा सकता है। अज्ञानी को वस्तु के नित्य व अनित्य विभाग की खबर नहीं है। इस कारण भ्रांति है। निरंतर अनुभव में आता हुआ चैतन्य ही उसके इस अज्ञान को दूर करेगा।

कल की बात आज याद आती है न ? इसी से सिद्ध है कि याद करने वाला आत्मद्रव्य नित्य है। भाई, त्रिकाली द्रव्य की सिद्धि दृष्टि विना नहीं होती। स्मरणपूर्वक हुआ प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता सिद्ध करता है।

"जो ग्राम मैंने कल देखा था, वही ग्राम मैं आज देख रहा हूँ" यह जो प्रत्यभिज्ञान होता है न? यही आत्मा की नित्यता सिद्ध करता है। परन्तु बौद्धमती इस प्रत्यभिज्ञान को अविद्याजनित भ्रम कहता है और ऐसा कहता है कि यह भ्रम मिटे तो तत्त्व सिद्ध हो और क्लेश मिटे। पर उसका यह मानना यथार्थ नहीं है। वस्तुतः क्षण-क्षण में पलटती अवस्था मात्र आत्मा नहीं है। आत्मा तो त्रिकाल नित्य विज्ञान घन है। ऐसे आत्मा के स्वरूप की प्रतीति होने पर ही अज्ञान मिटता है तथा क्लेशों से मुक्ति मिलती है। श्रीमद् राजचंद ने कहा है —

आत्मा द्रव्य से नित्य है, पर्याय से पलटाय।
बालादि वय तीन का, ज्ञान एक को थाय॥

पूर्व में बालक अवस्था थी, वर्तमान में यौवन है तथा भविष्य में वृद्ध अवस्था होगी। इन तीनों अवस्थाओं का ज्ञान त्रिकाली एक आत्मद्रव्य को होता है। इस त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि करने पर सम्यग्दर्शन होता है। त्रिकाली की दृष्टि करनेवाली तो पर्याय है, परन्तु उस दृष्टि की पर्याय का विषय त्रिकाली नित्य प्रभु आत्मा है।

बौद्धमती के तर्क का उत्तर देते हुये कहते हैं कि इन सब दलीलों को करनेवाला एवं सुनने वाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मायें हैं ? यदि अनेक हैं तो दूसरी दलील करनेवाला सुननेवाला तो ठहरता ही नहीं है, फिर अन्तिम निर्णय कौन मानेगा ? और यदि एक ही आत्मा है तो स्वतः आत्मा के नित्यपना सिद्ध हो जाता है।

तथा तू यदि यह कहेगा कि आत्मा तो नष्ट हो जाता है, पर वह अपने संस्कार छोड़ जाता है तो वह भी यथार्थ नहीं है; क्योंकि यदि आत्मा नष्ट हो गया तो आधार बिना संस्कार कैसे/कहाँ रहते हैं? एक आत्मा जो संस्कार

छोड़े, वे संस्कार दूसरे आत्मा में पड़ते जायें, यह कैसे संभव है ? यह बात कुछ जमती नहीं है, न्यायसंगत भी नहीं है।

बापू! तू आत्मा को पर्याय मात्र क्षणिक मानता है, परन्तु जैनमत में तो ऐसी मान्यता वाले को पर्यायमूढ़ कहा है। एक समय की दशा के पीछे जो त्रिकाली सम्पूर्ण नित्यानंद-चिदानंद प्रभु आत्मा रह रहा है, उसकी दृष्टि किये विना पर्याय की रुचि में पड़ा है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। जो मात्र वर्तमान ज्ञान की दशा में रुचि करके रहता है, वह पर्याय मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

प्रवचनसार गाथा १७२ की टीका में २०वाँ वोल है, उसमें कहा है कि - पर्याय मात्र आत्मा नहीं है। आत्मा तो त्रिकाली ध्रुव नित्य द्रव्य है। एक समय की शुद्ध पर्याय उस ध्रुवद्रव्य की श्रद्धा करने से व्यक्त होती है। वहाँ कहा है कि ऐसा होते हुये भी वह पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती और द्रव्य भी पर्याय का स्पर्श नहीं करता अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु द्रव्य-पर्याय रूप है। उसमें त्रिकाली नित्य द्रव्य व वर्तमान पर्याय परस्पर मिलकर एक नहीं हो जाते । यह तो पर्यायदृष्टि छुड़ाने की वात है।

इसप्रकार आत्मा को एकान्त से नित्य ही या अनित्य ही मानना मिथ्याभ्रम है। अहा! स्वयं त्रिकाली ध्रुव चित्चमत्कार रूप नित्य द्रव्य है और इसकी पलटती अवस्था अनित्य पर्याय है। इसलिये द्रव्य स्वरूप से नित्य व पर्याय स्वरूप से अनित्य ऐसा कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप को जानकर नित्य में दृष्टि करके समकितवंत होना।

सांख्य मतवाले वस्तु को त्रिकाली नित्य मानते हैं। पलटती पर्याय को नहीं मानते। यह भी वस्तु को एकान्त रूप मानने वाला होने से मिथ्यादृष्टि ही हैं। जैन आचार्य तो कहते हैं कि हम तो वस्तु को जैसी है, वैसी ही मानते हैं। द्रव्य स्वरूप से नित्य व पर्याय स्वरूप से अनित्य मानते हैं। यही बात सत्यार्थ है।

पुनः क्षणिकवाद का युक्ति द्वारा निषेध करता हुआ और आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :

(अनुष्टुभ्)

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥ २०७॥

श्लोकार्थ : [**वृत्ति-अंश-भेदतः**] वृत्त्यंशों के अर्थात् पर्याय के भेद के कारण [**अत्यन्तं वृत्तिमत्-नाश-कल्पनात्**] 'वृत्तिमान् अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पना के द्वारा [**अन्यः करोति**] 'अन्य करता है और [**अन्यः भुंक्ते**] अन्य भोगता है' [**इति एकान्तः मा चकास्तु**] ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो।

भावार्थ : द्रव्य की पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं इसलिये बौद्ध यह मानते हैं कि 'द्रव्य ही सर्वथा नष्ट होता है'। ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है। यदि पर्यायवान पदार्थ का ही नाश हो जाये तो पर्याय किसके आश्रय से होगी? इस प्रकार दोनों के नाश का प्रसंग आने से शून्य का प्रसंग आता है॥ २०७॥

कलश २०७ पर प्रवचन

वृत्ति अंश अर्थात् पर्याय का भेद, जैसे कि स्वर्ण का कड़ा, कुंडल रूप पर्यायें। उसी तरह आत्मा एक नित्य द्रव्य है, ज्ञानदर्शन चारित्र आदि उसके गुण हैं, ये गुण भी नित्य हैं, इनकी पलटती अवस्थायें पर्यायें हैं। इनमें बौद्धमती एकांत से मात्र पर्यायों को ही आत्मा कहता है। अज्ञानी की भी अनादि काल से पर्यायों पर ही दृष्टि है। इस कारण बौद्धमती की भाँति ऐसे जैनमती भी मूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न : इस बौद्धिक व्यायाम करने से धर्म संबंधी क्या लाभ हुआ? क्षणिक माना या नित्य माना अथवा नित्यानित्यात्मक माना। जिसको जैसा मानना है, मानने दो न?

समाधान : अरे भाई! मैं कौन हूँ? कैसा हूँ? मेरा स्वरूप क्या है? और मेरी जो ये विकारी दु:खरूप दशा हो रही है, इसका क्या कारण है? सुखी रहने का उपाय क्या है? - इन सबको यथार्थ जानकर नित्यानन्द-चिदानंदस्वरूप का अपनी ज्ञान व श्रद्धा गुण की पर्याय में निर्णयपूर्वक स्वीकार होना ही तो धर्म

है। धर्म इसके सिवाय और क्या चीज है? अतः इनकी चर्चा एवं निर्णय अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना अकेले व्रत, तप, भक्ति आदि कर लेना तो राग है, आस्रव है और यदि इन्हीं को धर्म मान कर संतुष्ट रहे तो मिथ्यात्व है, अनंत संसार का कारण है, महापाप है।

आचार्यदेव कहते हैं - पर्यायों के भेद के कारण वृत्तिमान द्रव्य अत्यंत नाश को प्राप्त होता है। "अन्य करता है और अन्य भोगता है" अर्थात् करता कोई और है और भोगता कोई और ही है - ऐसा एकान्त मत करो। भगवान आत्मा स्वयं सच्चिदानंद प्रभु त्रिकाल नित्य है, किन्तु पलटती पर्यायों के भेद के कारण अज्ञानी बौद्धमती के मतानुसार वृत्तिमान द्रव्य नाश को प्राप्त होता है; क्योंकि वह क्षण-क्षण में अन्य-अन्य आत्मा (द्रव्य) को उत्पन्न होना मानता है। तथा वह कहता है कि — 'वर्तमान विकारी परिणाम अन्य आत्मा करता है और भविष्य में प्राप्त होनेवाला उस विकारी परिणाम का फल अन्य आत्मा भोगता है' — बौद्धमती जीवों की ऐसी मान्यता है, जो ठीक नहीं है।

प्रश्न : तो वास्तविकता क्या है? यथार्थ वस्तुस्वरूप क्या है?

उत्तर : जो जीव वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष करते हैं, वे ही जीव भविष्य में उसका फल भोगते हैं। पाप का परिणाम करने वाली एक अवस्था है और उस पाप का फल भोगने वाली दूसरी अवस्था है, परन्तु उन दोनों ही पर्यायों में विद्यमान द्रव्य (आत्मा) तो वह का वही है। पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं, परंतु द्रव्य तो एक ही है। भाई! वृत्तिमान द्रव्य तो त्रिकाल नित्य है। इस कारण आत्मा जो वर्तमान पर्याय में पाप करता है; वही आगामी पर्याय में उसका फल भोगता है।

यहाँ आचार्य कहते हैं कि - "पर्याय का नाश होने पर द्रव्य ही सर्वथा नष्ट हो जाता है" - ऐसा मत मानो। वास्तव में आत्मा की वर्तमान पर्याय का नाश होकर अगली पर्याय उत्पन्न होती है। आत्मा तो त्रिकाल नित्य ही रहता है। अहा! ऐसे नित्य चिदानन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि करना ही सम्यक्दर्शन है और यही प्रथम धर्म है। भाई! पहले वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना होगा, क्योंकि वस्तु के यथार्थ ज्ञान बिना दृष्टि (श्रद्धा) यथार्थ नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि पर्याय का नाश होने पर आत्मद्रव्य का ही नाश मानना तो बौद्धमत की मिथ्या कल्पना है, क्योंकि यदि अवस्थावान द्रव्य का नाश हो जाता है तो फिर अवस्था किसके आश्रय से हो? जो क्षण-क्षण में नवीन अवस्थायें होती हैं, उनका आधार तो नित्य द्रव्य ही है। अत: ऐसी मान्यता से तो द्रव्य के ही नाश का प्रसंग प्राप्त होगा। शून्यता का प्रसंग आ जायेगा। अत: ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है। सोने की चैन को पलट कर अँगूठी बनाने से क्या सोना नष्ट हो जाता है, नहीं होता।

लोग ध्यान करने की प्रेरणा तो देते हैं, परंतु जब तक ध्यान का ध्येय त्रिकाली ध्रुव नित्य परमात्मद्रव्य का ही निर्णय न हो तो कोई किसका ध्यान करे? अत: सर्वप्रथम त्रिकाली द्रव्यस्वभाव ज्ञायकभावपने है - ऐसा निर्णय होना चाहिए। यहाँ से ही धर्म की शुरूआत होती है।

समयसार गाथा ३४५-३४८

अब निम्नलिखित गाथाओं में अनेकान्त को प्रगट करके क्षणिकवाद का स्पष्टतया निषेध करते हैं :

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४५ ॥
केहिंचि दु पज्जएहिं विंणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४६ ॥
जो चेव कुणदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४७ ॥
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४८ ॥

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४५ ॥
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४६ ॥
यश्चैव करोति स चैवन वेदयते यस्य एष सिद्धांत ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४७ ॥
अन्य करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४८ ॥

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलित-चैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्यतीति द्विस्वभावो जीवस्वभावः। ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते, य एव वेदयते स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकांतः। एवमनेकांतेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादृजुसूत्रैकांते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते, अन्यः करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः, क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवांतःप्रतिभासमानत्वात्।

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है ।
इससे करै है वो हि या को अन्य-नहिं एकान्त है ॥ ३४५ ॥
पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है ।
यों जीव वेदै वो हि या को अन्य-नहिं एकान्त है ॥ ३४६ ॥
जीव जो करै वह भोगता नहिं-जिसका यह सिद्धांत है।
अर्हंत के मत का नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥ ३४७ ॥
जीव अन्य करता, अन्य वेदे-जिसका यह सिद्धांत है ।
अर्हंत के मत का नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है ॥ ३४८ ॥

गाथार्थ : [**यस्मात्**] क्योंकि [**जीवः**] जीव [**कैश्चित् पर्यायैः तु**] कितनी ही पर्यायों से [**विनश्यति**] नष्ट होता है [**तु**] और [**कैश्चित्**] कितनी ही पर्यायों से [**न एव**] नष्ट नहीं होता, [**तस्मात्**] इसलिये [**सः वा करोति**] '(जो भोगता है) वही करता है' [**अन्यः वा**] अथवा 'दूसरा ही करता है' [**न एकान्तः**] ऐसा एकान्त नहीं है (- स्याद्वाद है)।

[**यस्मात्**] क्योंकि [**जीवः**] जीव [**कैश्चित् पर्यायैः तु**] कितनी ही पर्यायों से [**विनश्यति**] नष्ट होता है [**तु**] और [**कैश्चित्**] कितनी ही पर्यायों से [**न एवं**] नष्ट नहीं होता, [**तस्मात्**] इसलिये [**सः वा वेदयते**] '(जो करता है) वही भोगता है' [**अन्यः वा**] अथवा 'दूसरा ही भोगता है' [**न एकान्तः**] ऐसा एकान्त नहीं है (- स्याद्वाद है)।

'[**यः च एव करोति**] जो करता है [**सः च एव न वेदयते**] वही नहीं भोगता' [**एषः यस्य सिद्धान्तः**] ऐसा जिसका सिद्धांत है, [**सः जीवः**] वह जीव [**मिथ्या-दृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि, [**अनार्हतः**] अनार्हत (अर्हत के मत को न मानने वाला) [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिए।

'[**अन्यः करोति**] दूसरा करता हैं [**अन्य परिभुंक्ते**] और दूसरा भोगता है' [**एष यस्य सिद्धान्तः**] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [**सः जीवः**] वह जीव [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि, [**अनार्हतः**] अनार्हत (-अजैन) [**ज्ञातव्यः**] जानना चाहिये।

टीका : जीव, प्रतिसमय संभवते (-होनेवाले) अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा क्षणिक होने से और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होने

से, कितनी ही पर्यायों से विनाश को प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायों से विनाश को नहीं प्राप्त होता है — इसप्रकार दो स्वभाववाला जीवस्वभाव है; इसलिये 'जो करता है वही भोगता है' अथवा 'दूसरा ही भोगता है' 'जो भोगता है वही करता है' अथवा 'दूसरा ही करता है' - ऐसा एकान्त नहीं है। इसप्रकार अनेकान्त होने पर भी, 'जो (पर्याय) उस समय होती है, उसी को परमार्थ सत्त्व है, इसलिये वही वस्तु है' इस प्रकार वस्तु के अंश में वस्तुत्व का अध्यास करके शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकांत में रहकर जो यह देखता-मानता है कि "जो करता है वही नहीं भोगता, दूसरा करता है और दूसरा भोगता है," उस जीव को मिथ्यादृष्टि ही देखना - मानना चाहिये; क्योंकि, वृत्त्यंशों (पर्यायों) का क्षणिकत्व होने पर भी, वृत्तिमान (पर्यायमान) जो चैतन्यचमत्कार (आत्मा) है वह तो टंकीत्कीर्ण (नित्य) ही अन्तरंग में प्रतिभासित होता है।

भावार्थ : वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है; इसलिये स्याद्वाद से ऐसा अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्याय-अपेक्षा से तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य-अपेक्षा से नित्य है। जीव भी वस्तु होने से द्रव्यपर्यायस्वरूप है। इसलिये, पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो कार्य को करती है एक पर्याय, और भोगती है दूसरी पर्याय; जैसे मनुष्यपर्याय ने शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवादिपर्याय ने भोगा। यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो, जो करता है वही भोगता है; जैसे कि - मनुष्यपर्याय में जिस जीवद्रव्य ने शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीवद्रव्य ने देवादि पर्याय में स्वयं किये गये कर्म के फल को भोगा।

इसप्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकान्तरूप सिद्ध होने पर भी, जो जीव शुद्धनय को समझे बिना शुद्धनय के लोभ से वस्तु के एक अंश को (-वर्तमान काल में वर्तती पर्याय को) ही वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनय के विषय का एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है वही नहीं भोगता — अन्य भोगता है, और जो भोगता है वही नहीं करता — अन्य करता है,' वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अरहन्त के मत का नहीं है; क्योंकि पर्यायों का क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है; प्रत्यभिज्ञान से ज्ञात होता है कि 'जो मैं बालक अवस्था में था वहीं मैं तरुण अवस्था में था और वही

मैं वृद्ध अवस्था में हूँ।' इसप्रकार जो कथंचित् नित्यरूप से अनुभवगोचर है — स्वसंवेदन में आता है और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है, उसे जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है ऐसा समझना चाहिए।

गाथा ३४५ से-३४८ पर प्रवचन

अहा! "प्रति समये संभवति" यह भाषा तो देखो, प्रति समय जो पर्याय (निश्चित) होनी होती है, वही होती है - ऐसा कहते हैं। "ये विकारी भाव कर्मों के कारण होते हैं अथवा कर्म विकार को उत्पन्न करते हैं तथा यदि कर्म नष्ट हो जायें तो धर्म हो" — ऐसा जो मानते हैं, वे पर्याय को सत् व स्वतंत्र नहीं मानते। उन्हें पर्याय व द्रव्य की स्वतंत्रता की खबर नहीं है। वास्तव में प्रत्येक समय जो पर्याय होनी होती है, वही होती है। वस्तु त्रिकाल नित्य है और उसकी प्रति समय होने वाली पर्यायें जो होनी होती हैं, वे ही होती हैं। वे पर्यायें पर के कारण अथवा कर्मों के कारण नहीं होती। ऐसी वस्तुस्थिति है।

जिसप्रकार मोती के हार में हार द्रव्य है, डोरा गुण है और मोती के दाने पर्याय के स्थान पर हैं। उसमें हार व डोरा तो स्थिर या स्थाई वस्तु है तथा मोती के दाने प्रत्येक एक के बाद एक - क्रमशः हैं। अपने-अपने निश्चित स्थान में रहते हुये क्रमशः - एक के बाद एक हैं। इसीप्रकार आत्मा त्रिकाली नित्य द्रव्य है। उसके ज्ञानादि गुण या शक्तियाँ त्रिकाल नित्य हैं तथा उनमें जो पर्यायें हैं, वे प्रत्येक-समय-समय में नियत क्रम में जो होनी होती हैं वही होती हैं। कोई भी पर्याय आगे-पीछे नहीं होती। द्रव्य में जो पर्याय जिस समय होनी हो, उस काल में वही होती है। - "संभवति" शब्द का यह आशय है।

इसप्रकार आत्मा पर का अकर्ता है। पर का केवल ज्ञाता-दृष्टा ही है — ऐसा सिद्ध होता है। भगवान के ज्ञान में तीन लोक के त्रिकालवर्ती सभी पदार्थ जानने में आते हैं। प्रत्येक द्रव्य की अनादि अनंत तीन काल की धारावाही प्रगट होनेवाली पर्यायें भगवान के केवलज्ञान में ज्ञात होतीं हैं। इस कथन का तात्पर्य यह है कि यह शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ आदि समस्त द्रव्य की पर्यायों का कर्ता आत्मा नहीं है। ऐसी सच्ची श्रद्धा सहित द्रव्यदृष्टि प्रगट करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

भाई! त्रिकाली द्रव्य की सच्ची श्रद्धा हुये बिना अर्थात् द्रव्यदृष्टि हुये बिना पर्याय का सच्चा ज्ञान नहीं होता। द्रव्यदृष्टि और सम्यग्दर्शन तो मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। चारित्र तो बाद की बात है।

यहाँ दूसरी बात यह सिद्ध करना है कि आत्मा में एक अगुरुलघुत्व नाम का गुण है। वह त्रिकाल है, परन्तु उसका वर्तमान परिणाम क्षणिक है। उस क्षणिक परिणाम की अपेक्षा जीव को क्षणिक कहा जाता है तथा अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण की अपेक्षा जीव को नित्य कहा जाता है। चैतन्य ··· चैतन्य ··· चैतन्य — इस तरह चैतन्य के सदृश प्रवाह रूप जो अचलित चैतन्य अन्वयरूप है, उस अपेक्षा जीव नित्य है।

प्रश्न : कहीं-कहीं ऐसा कथन मिलता है कि कितनी ही पर्यायों से जीव विनाश को प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायों से विनष्ट नहीं होता - इसका क्या रहस्य है ?

उत्तर : उक्त प्रश्न में "पर्याय" शब्द दो बार आया है, उसमें दूसरी बार आये "पर्याय" शब्द का अर्थ या अभिप्राय गुण है। भेद करने की अपेक्षा गुण को पर्याय कहने का व्यवहार है। जीवद्रव्य अपने चैतन्य गुण से नष्ट नहीं होता। वह शाश्वत है, अविनाशी है। इसप्रकार जीव पर्यायस्वभाव और गुणस्वभाव से दो स्वभाव वाला द्रव्य है। उसका पर के साथ कोई संबंध नहीं है।

अब कहते हैं कि जीवद्रव्य पर्यायरूप अनित्य स्वभाव और गुणरूप नित्य स्वभाव - ऐसे दो स्वभाव वाला है। इससे ऐसा एकान्त नहीं है कि जो करता है वही भोगता है, अथवा दूसरा ही भोगता है। तथा ऐसा भी एकान्त नहीं है कि जो भोगता है वही करता है अथवा दूसरा ही करता है। भाई! यह तो तत्व के स्वरूप का निर्णय करने की बात है। उसका अनुभव करना तो बाद की बात है।

देखो, पर्याय अपेक्षा देखें तो कार्य करे एक पर्याय और भोगती है अन्य पर्याय तथा द्रव्य अपेक्षा से जो द्रव्य करता है, वही भोगता है। - ऐसा अनेकान्त है।

जो भोगता है वही करता है - ऐसा भी एकान्त नहीं है अथवा अन्य ही करता है - ऐसा भी एकांत नहीं है, क्योंकि भोगती है अन्य पर्याय और करती

है अन्य पर्याय। तथा द्रव्य अपेक्षा से जो द्रव्य भोगता है, वही करता है - ऐसा अनेकान्त है।

अब कहते हैं कि ये शरीर-मन-वाणी आदि तो पर हैं। वे अपने स्वयं के कारण टिकते हैं और अपने ही कारण पलटते हैं। उनमें आत्मा बिल्कुल भी कारण नहीं है। ऐसा होते हुये भी जो ऐसा मानता है कि इनकी संभाल मैं करता हूँ, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। यहाँ विशेष बात यह है कि आत्मद्रव्य पर्याय रूप से अनित्य और द्रव्यरूप से नित्य - इसप्रकार अनेकांतमय है। तथापि जो क्षणिक पर्याय को ही परमार्थ सत्य आत्मा मानता है; त्रिकाली नित्य द्रव्य को मानता ही नहीं है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। वह एक समय के पर्यायांश में ही सम्पूर्ण द्रव्य को मानता है। वस्तु के एक अंश में वस्तुपने का अध्यास करके एक समय की अवस्था में जो सम्पूर्ण त्रिकाली आत्मा मानता है, वह मूढ़ है।

अहा! शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकांत में रहकर जो ऐसा मानता है कि जो करता है, वही नहीं भोगता। करता कोई और है और भोगता कोई और ही है, वह जीव मिथ्यादृष्टि ही है। एक समय की अवस्था यदि दूसरे समय में रहे तो शुद्धनय का नाश हो जाये। उसमें काल की उपाधि लगते ही अशुद्धि आ जाय - ऐसा मानकर जो एक समय के अंश में ही सम्पूर्ण वस्तु (द्रव्य) मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है।

अहा! अज्ञानी की एक समय की पर्याय में ही अनादि से रमत है। उसे यह खबर ही नहीं है कि एक समय की पर्याय के पीछे सम्पूर्ण द्रव्य नित्य चैतन्य तत्त्व विद्यमांन है। अरे! यह पर्यायमूढ़ ही रहा है। इसने बाह्य क्रियाकाण्ड में पड़कर अन्तर में विद्यमान अपने नित्यानन्द-चिदानंदस्वरूप अन्त:तत्त्व को भुला ही दिया है। अन्त:तत्त्व को दृष्टि में लिया ही नहीं है।

जिसप्रकार आँख की पुतली के सामने एक घास का तिनका आ जावे तो तिनके की ओट में सामने खड़ा पहाड़ भी नहीं दिखता; उसीप्रकार एक समय की पर्याय की रुचि-दृष्टि की आड़ में अज्ञानी ने अपने चिदानंद चैतन्य भगवान आत्मा को नहीं देखा। अरे भाई! एक समय की पर्याय जितना ही आत्मा नहीं है। आत्मा तो त्रिकाल नित्य वस्तु है। अज्ञानी जीव ने ऐसा यथार्थ वस्तुस्वरूप

नहीं माना, इस कारण मिथ्यात्व का सेवन करके उसके फल में नरकादि चार गतियों में ही रुका है - भटका है। अहा! वह एक समय की पर्याय से अधिक नित्यानंद स्वभावी आत्मा की दृष्टि किये बिना चार गति के घोरातिघोर दुःख प्राप्त करता रहा है। उसके दुःखों का कथन कैसे करें? वे दुःख सचमुच अवाच्य हैं, अकथ्य हैं।

भाई! वीतराग परमेश्वर द्वारा कहा गया तत्त्व इसप्रकार है — पर को - शरीर, मन, वाणी, स्त्री-पुत्र, परिवार, धन-सम्पत्ति आदि को अपना मानना तो मूढ़ता है ही, किंतु एक समय की पर्याय को ही "मैं सम्पूर्ण आत्मा हूँ" - ऐसा एकांत से मानना भी मूढ़ता है, क्योंकि पर्याय का क्षणिकपना होते हुये भी पर्यायवान जो चित्चमत्कार आत्मा है, वह तो नित्य शाश्वत ही अन्तरंग में प्रतिभासित होता है। अहाहा···! वस्तु तो अन्दर नित्य ही प्रकाशित हो रही है।

यद्यपि करने वाली पर्यायें और भोगनेवाली पर्यायें भिन्न-भिन्न हैं, अन्य-अन्य हैं; तथापि द्रव्य तो दोनों का एक ही है, द्रव्य तो अन्य-अन्य नहीं है। वर्तमान पर्याय में जिस आत्मद्रव्य ने राग किया, आगामी पर्याय में वही आत्मद्रव्य उसका फल भोगता है। इसलिए "अन्य करता है व अन्य भोगता है" - ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है।

भाई! सम्यग्दर्शन की पर्याय यद्यपि एक समय की है, क्षणिक है; परंतु उसका विषय त्रिकाली ध्रुव नित्यानंद प्रभु है। जो ऐसे नित्य ध्रुव चैतन्यतत्त्व को नहीं स्वीकारता, उसे समकित कैसे हो सकता है?

अरे भाई! तेरी अवस्था में जो क्षण-क्षण में बदलाव आता है, वह भी तू नहीं है। तू तो त्रिकाली आनन्द का नाथ सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है। अपने उस स्वरूप को दृष्टि में ले, उसी में लीन हो जा, ऐसा करने से जो शान्ति व आनन्द प्रगट होगा, वही सद् आचरण है। अन्दर में सत्-त्रिकाली प्रभु है, उस रूप आचरण, वही सदाचरण है। बाकी तो सब संसार के ही हेतु हैं।

अहाहा! जिसके ज्ञान स्वभाव में तीन काल तीन लोक को जानने की शक्ति है - ऐसा चित्चमत्कार प्रभु तू है। आचार्य कहते हैं - ऐसा आत्मा अंतरंग में नित्य ध्रुव प्रतिभासित होता है। अहा! ऐसी अपनी निधि को नहीं देखकर

एक समय की पर्याय को सम्पूर्ण वस्तु मानकर तू वहाँ अटक गया। परंतु हे भूले भगवान! यह तो तेरी ही मूढ़ता है, तेरी ही अज्ञानता है।

गाथा ३४५ से ३४८ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, जिनेन्द्र देव की वाणी में वस्तु का स्वभाव द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा हैं। द्रव्य त्रिकाल नित्य है और पर्याय क्षणिक है - ऐसा वस्तु का अनेकांत स्वरूप है। जो स्याद्वाद से सिद्ध होता है। पर्याय अपेक्षा वस्तु क्षणिक है और द्रव्य अपेक्षा नित्य है। स्थिर रहकर पलटना एवं पलट कर भी स्थिर रहना वस्तु का स्वभाव है।

जीवद्रव्य भी वस्तु होने से द्रव्यपर्यायस्वरूप है। पर्याय की अपेक्षा वह क्षणिक है और द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुव है, नित्य है। ऐसे होने से पर्याय की दृष्टि से देखने पर कार्य करती है एक पर्याय और भोगती है अन्य पर्याय। जैसे कि एक वड़ा राजा है, उसने अधिकार के - सत्ता के नशे में अनेक घोर पाप कर डाले और वह उसके फल में मर कर नरक में गया; वहाँ असीम दुःख भोगे। उसने मनुष्य पर्याय के पापों का फल नरक में जाकर भोगा। तथा किसी दयालु तत्त्वज्ञानी पुरुष ने दया, दान, भक्ति आदि के भावों से पुण्य बंध किया। वह मरण कर स्वर्ग में गया, वहाँ उसने मनुष्य पर्याय में किये पुण्य का फल देवगति में भोगा।

इसप्रकार मनुष्य पर्याय में किये पुण्य-पाप को स्वर्ग व नरक में भोगता है। इसतरह पर्याय दृष्टि से देखें तो कार्य को करे एक पर्याय और भोगे दूसरी पर्याय।

परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखें तो जो करता है वही भोगता है। मनुष्य पर्याय में जो जीवद्रव्य शुभ या अशुभ कार्य करता है, उसका फल भी वही जीव स्वर्ग या नरक में जाकर सुख-दुःख रूप भोगता है। इस तरह द्रव्य की अपेक्षा जो कर्ता है वही भोक्ता है। पर्याय अपेक्षा अन्य-अन्य पर्यायें कर्ता व भोक्ता हैं - ऐसा अनेकान्त है।

कहा है कि वस्तु तो अनेकान्तमय ही है। वर्तमान पर्याय जो भाव करती है, उसका फल दूसरी भविष्य की पर्याय भोगती है। ऐसा करने से आत्मद्रव्य थोड़े ही बदल जाता है। वह तो वही का वही रहता है। द्रव्य की अपेक्षा से

तो जिस द्रव्य की वर्तमान पर्याय में कार्य हुआ है, उसी द्रव्य की दूसरे क्षण में होनेवाली पर्याय उसका फल भोगती है।

प्रश्न : उस फल को द्रव्य तो नहीं भोगता है न ?

उत्तर : यहाँ यह बात नहीं है कि द्रव्य कर्ता-भोक्ता है या नहीं। यहाँ तो पर्यायों में द्रव्य अन्वय रूप रहता है - इसप्रकार द्रव्य व पर्याय को सिद्ध करना है। इससे ऐसा कहा है कि पर्याय अपेक्षा जो पर्याय करती है, वही पर्याय भोगती नहीं है। तत्पश्चात् होने वाली अन्य पर्याय ही उसे भोगती है। तथापि द्रव्य अपेक्षा से तो जो करता है वही भोगता है। यहाँ तो एक पर्याय में ही सम्पूर्ण आत्मा मानने वाले को उस पर्याय से अधिक आत्मद्रव्य का भान कराने की बात है। आत्मद्रव्य त्रिकालस्वरूप से नित्य रहनेवाला द्रव्य है। यहाँ पर्याय जितना ही आत्मा को मानने वाले अज्ञानी की पर्यायबुद्धि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि करायी गई है।

अरे भाई! त्रिकाली नित्य निज द्रव्य की दृष्टि किये बिना ही तू अनंत काल से चतुर्गति रूप संसार में भटक रहा है। अहाहा! देखो न! कंदमूल के सबसे छोटे टुकड़े में असंख्य औदारिक शरीर हैं और उन प्रत्येक शरीर में अनंत-अनंत निगोदिया जीव हैं। वे प्रत्येक जीवद्रव्य स्वरूप से भगवान स्वरूप है परन्तु उन्हें ऐसा भान नहीं है। अरे रे! ऐसी हीन दशा! भाई! उस निगोद से अनंत काल बाद भी निकलना मुश्किल है, वहाँ से निकलकर त्रस गति पाना, फिर मनुष्य होना, जैनकुल मिलना तथा जिनवाणी का समागम एक से एक महादुर्लभ है। हमारे भाग्य से हमें यह सब सहज उपलब्ध है तो अब इसका एक क्षण भी व्यर्थ खोना बुद्धिमानी का काम नहीं है।

यहाँ पर्यायबुद्धि वाले क्षणिकवादी जीवों को जागृत करके कहते हैं — हे भाई! तू तो अन्दर विराजमान त्रिकाली तत्त्व है। जिसका आश्रय करना है तू वह नित्य चैतन्य परमेश्वर है। आश्रय करनेवाली तो पर्याय है, परन्तु उस पर्याय का आश्रय स्थान चैतन्यचमत्कार प्रभु त्रिकाली है, नित्य है। उस एक के आश्रय से ही समकित आदि धर्म प्रगट होता है। आश्रयभूत द्रव्य व आश्रय

करनेवाली पर्याय-दोनों मिलकर ही पूर्ण वस्तु है, और ऐसा ही वस्तु का अनेकान्त स्वरूप है।

पर्याय में दया-दान-व्रत आदि के जो भाव होते हैं, वे क्षणिक विकारी परिणाम हैं। उन्हें धर्म माननेवाला भी पर्यायदृष्टि ही है; क्योंकि उसके अंतरंग में त्रिकाली नित्य चैतन्य द्रव्य स्वीकृत नहीं हुआ। उस चैतन्य द्रव्य की दृष्टि किये बिना पर्याय में मग्न रहकर शुभराग में संतुष्ट हो गया है। भाई! निज चैतन्य चमत्कार का भान हुये बिना जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

''वर्तमान पर्याय ही वस्तु का स्वरूप है, यदि वस्तु को त्रिकाली माने तो काल की आपत्ति (उपाधि) आती है, अशुद्धता हो जाती है'' - ऐसा मानकर जो करता है, वही भोगता नहीं है, अन्य ही भोगता है तथा जो भोगता है, वह करता नहीं है, अन्य ही करता है'' - ऐसा जो जीव मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि पर्याय क्षणिक होते हुये भी द्रव्यरूप चैतन्य चमत्कार तो अनुभव गोचर नित्य है। यहाँ यही सिद्ध करते हैं।

आत्मा कथंचित् अर्थात् द्रव्य स्वभाव से नित्य अनुभव गोचर है। पर्याय भी है तथा वर्तमान वर्तती पर्याय यदि द्रव्य की दृष्टि करके प्रगट होती है तो उसमें नित्य चिदानन्द स्वरूप ध्रुव आत्मा ज्ञात होता, अनुभव गोचर होता है। यह नित्य आत्मा ही सम्यग्दर्शन का विषय है। जो ऐसे भूतार्थ, सत्यार्थ, त्रिकाली नित्य चैतन्यचमत्कार को न देखे तो वह बौद्धमती की भाँति मिथ्यादृष्टि ही है।

आत्मा तो ऐसी वस्तु है जो प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ज्ञान में ज्ञात होती है। स्वसंवेदन स्वयं पर्याय है, परंतु वह पर्याय त्रिकाली ध्रुव नित्यानंद स्वरूप को दृष्टि में लेती है। तब उस स्वसंवेदन पर्याय में 'यह मैं नित्यानंद प्रभु हूँ' - ऐसा भान या प्रतिभास होकर निराकुल आनंद का वेदन होता है।

अरे भाई! जो तू बालपन में था, वही तू अभी वर्तमान-युवाकाल में है। तू उसका विश्वास कर! हमने एकबार 'अनुसूया' नाटक देखा था। नाटक की नायिका अनुसूया के पुत्र उत्पन्न हुआ। उस बालक को वह पालना में झुलाती थी और लोरियाँ गाती थी —

"वेटा! शुद्धोऽसि वुद्धोऽसि, उदासीनोऽसि, निरंजनोऽसि निर्विकल्पोऽसि" अर्थात् हे वेटा! तू शुद्ध है, वुद्ध है, उदासीन है, निरंजन है और निर्विकल्प है। देखो, एक जमाना था, जव नाटकों में और अपने लौकिक जीवन में भी आत्मा के अजन्म, अमर एवं नित्य, निरंजन होने के गीत गाये जाते थे। वैराग्य पोषक नाटक दिखाये जाते थे।

यहाँ भी कहते हैं — सभी पर्यायों पर से दृष्टि हटाकर अन्दर नित्य द्रव्य में रह रहा भगवान आत्मा अन्तरस्वरूप में निर्विकल्प है, शुद्ध है, वुद्ध है। जिनवाणी भी इसका इसी रूप में गुणगान करती है।

अहा! पर्याय के प्रेम में पड़कर ऐसे महिमावन्त नित्य शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप को जो मानता नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। - ऐसा जानना। •

अव इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिवलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतै —
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥ २०८ ॥

श्लोकार्थ : [**आत्मानं परिशुद्धम् ईप्सुभिः परैः अन्धकः**] आत्मा को सम्पूर्ण-तया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धों ने— [**पृथुकैः**] वालिशजनों ने (वौद्धों ने)— [**काल-उपाधि-वलात् अपि तत्र अधिकाम् अशुद्धिम् मत्वा**] काल की उपाधि के कारण भी आत्मा में अधिक अशुद्धि मानकर [**अतिव्याप्तिं प्रपद्य**] अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर, [**शुद्ध-ऋजुसूत्रे रतैः**] शुद्ध ऋजुसूत्रनय में रत होते हुए [**चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य**] चैतन्य को क्षणिक कल्पित करके, [**अहो एषः आत्मा व्युज्झितः**] इस आत्मा को छोड़ दिया; [**निः सूत्र-मुक्ता-ईक्षिभिः हारवत्**] जैसे हार के सूत्र (डोरे) को न देखकर मात्र मोतियों को ही देखनेवाले हार को छोड़ देते हैं।

भावार्थ : आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध मानने के इच्छुक वौद्धों ने विचार किया कि "यदि आत्मा को नित्य माना जाये तो नित्य में काल की अपेक्षा होती है

इसलिये उपाधि लग जायेगी; इसप्रकार काल की उपाधि लगने से आत्मा को बहुत बड़ी अशुद्धि आ जायेगी और इससे अतिव्याप्ति दोष लगेगा।" इस दोष के भय से उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान समय है, उतना मात्र (क्षणिक ही) आत्मा को माना और उसे (आत्मा को) नित्यानित्यस्वरूप नहीं माना। इसप्रकार आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने से उन्हें नित्यानित्यस्वरूप— द्रव्यपर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई; मात्र क्षणिक पर्याय में आत्मा की कल्पना हुई; किन्तु वह आत्मा सत्यार्थ नहीं है।

मोतियों के हार में, डोरे में अनेक मोती पिरोये होते हैं; जो मनुष्य उस हार नामक वस्तु को मोतियों तथा डोरे सहित नहीं देखता — मात्र मोतियों को ही देखता है, वह पृथक्-पृथक् मोतियों को ही ग्रहण करता है, हार को छोड़ देता है; अर्थात् उसे हार की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार जो जीव आत्मा के एक चैतन्यभाव को ग्रहण नहीं करते और समय-समय पर वर्तनापरिणामरूप उपयोग की प्रवृत्ति को देखकर आत्मा को अनित्य कल्पित करके, ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान-समयमात्र क्षणिकत्व है उतना मात्र ही आत्मा को मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्मा को द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं मानते — मात्र क्षणिक पर्यायरूप ही मानते हैं), वे आत्मा को छोड़ देते है; अर्थात् उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती॥ २०८॥

कलश २०८ पर प्रवचन

आचार्य इस कलश में कहते हैं कि यदि कोई अज्ञानी क्षणिवादी बौद्धमती ऐसा मानता है कि आत्मा को नित्य मानने से काल की उपाधि आ पड़ने से आत्मा अशुद्ध हो जायेगी, क्योंकि ऐसा मानने से अतिव्याप्ति दोष आ जाता है।

इसप्रकार इस दोष के भय से शुद्ध ऋजुसूत्र नय में रत हुआ वह आत्मा को ही छोड़ देता है।

बाह्य में स्त्री-पुत्र-परिवार और धंधा-व्यापार तो एकबार नहीं, अनेक बार छोड़े, परन्तु पर्यायबुद्धि नहीं छूटी। जो छोड़ना चाहिए, वही नहीं छोड़ा। अरे! जिन संयोगों को छोड़ा, वे तो समयानुसार स्वयं छूटने ही वाले हैं, उन्हें हमने

ग्रहण ही कब किया ? वे तो परद्रव्य हैं, अतः छूटे ही हैं। हाँ, मोहवश उन्हें अपना माना है, सो वह मान्यता तो अभी भी नहीं छूटी। अभी तक उन्हें ग्रहण करने की ममता थी, अब छोड़ने का अहंकार ग्रहण कर लिया। प्रत्येक द्रव्य में एक त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है। जिस शक्ति के कारण आत्मा परपदार्थों को न ग्रहण ही करता है और न छोड़ता ही है। आत्मा ग्रहण व त्याग - दोनों से शून्यस्वभावी है। फिर भी यदि कोई पर का ग्रहण-त्याग करना मानता है तो उसकी वह मान्यता मिथ्यात्व है।

अज्ञानी ने एक समय की पर्याय में राग को पकड़ा है, इससे ऐसा कहा जाता है कि आत्मा राग को छोड़ता है। सो वह भी कथन मात्र है, क्योंकि त्रिकाली शुद्ध चैतन्यचमत्कार आत्मा को ग्रहण करने पर रागादि अशुद्धता उत्पन्न ही नहीं होती। इसे ही राग को छोड़ना कहा जाता है। वास्तव में तो जीव ने अपने चैतन्यस्वरूप का ग्रहण ही किया है। पहले राग था, बाद में चैतन्यस्वभाव की दृष्टि होने पर राग उत्पन्न ही नहीं हुआ, उसे ही ऐसा कहा जाता है कि राग छोड़ दिया है।

अहो! सम्यग्दृष्टि को पर्यायरूप अंश की रुचि नहीं है; क्योंकि जिसे अन्दर आनंद के नाथ चैतन्य लक्ष्मी के भंडार भगवान अखण्ड आत्मा के दर्शन हो गये, उसे पर्याय की रुचि हो ही नहीं सकती। वह तो — "अन्तर के लक्ष्य से अयाचीक लक्षपति" हो गया है। अरे! व्यवहार या पर्याय की रुचि और प्रवृत्ति में अज्ञानी व्यर्थ ही लुट रहे हैं, जबकि भगवान वीतराग का मार्ग तो पूर्ण निवृत्तिरूप है। पर से तो भगवान आत्मा का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, पर से तो आत्मा पूर्ण निवृत्ति रूप ही है। पुण्य-पापों के भावों से रहित होने का नाम ही वस्तुतः निवृत्ति है। भवसिंधु से तरने का तो यह एक ही उपाय है। नित्यानन्द चिदानन्दस्वरूप आत्मा का आश्रय करके पुण्य-पाप से निवृत्त होना ही संसार से पार होने का उपाय है। कहा भी है —

एक होय त्रण काल में, परमारथ का पंथ।
प्रेरे वह परमार्थ को, वह व्यवहार समंत॥

यहाँ कहते हैं कि छोड़ना तो पर्याय बुद्धि थी, परन्तु अज्ञानी ने एक समय की पर्याय जितना ही आत्मा को मानकर त्रिकाली नित्यानंद प्रभु ध्रुव आत्मा को छोड़ दिया है।

परवस्तु तो आत्मा से भिन्न ही है, उसमें तो आत्मा रम ही नहीं सकता; परन्तु अज्ञानी पर का लक्ष्य करके उस वर्तमान पर्याय में जो राग-द्वेष-मोह उत्पन्न करता है, उसमें रम जाता है।

जिसप्रकार हार में प्रत्येक मोती के साथ रहनेवाला डोरा ही स्थाई हैं, परन्तु उस डोरा को नहीं देखनेवाला तथा केवल मोती को ही देखनेवाला सम्पूर्ण हार को छोड़ देता है अर्थात् उसको हार की उपलब्धि नहीं होती। उसीप्रकार एक क्षण की पर्याय को ही आत्मा माननेवाला और आद्योपांत संलग्न डोरा के समान नित्य ध्रुव चैतन्य प्रभु को नहीं देखनेवाला अज्ञानी सम्पूर्ण आत्मा को छोड़ देता है अर्थात् उसे आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है।

आत्मा परद्रव्य का तो स्पर्श ही नहीं करता; क्योंकि आत्मा और परद्रव्य में तो परस्पर अत्यन्ताभाव है। अपनी एकसमय की जिस पर्याय को आत्मा चूमती है, अर्थात् एकसमय की जिस पर्याय को आत्मा स्पर्श करती है; अज्ञानी उसे ही सम्पूर्ण आत्मा मान लेता है। बस, उसने ऐसा मानकर आनन्दस्वरूप नित्य चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा को दृष्टि में से छोड़ दिया है। पर्याय को ही देखनेवाला, उसे ही लक्ष्य में रखनेवाला, उसी में रत रहता हुआ अपने ध्रुव नित्य चिदानंद भगवान को छोड़ देता है। वह जीव मूढ़ मिथ्यादृष्टि ही है। उसे आत्मोपलब्धि नहीं होती।

कलश २०८ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, बौद्ध ऐसा सोचते हैं कि यदि आत्मा को नित्य माना जाय तो उसे काल की उपाधि लग जाती है और इस कारण उसमें अशुद्धता आ जाती है। तथा आत्मा को नित्य मानते ही अतिव्याप्ति दोष लगता है; क्योंकि आत्मा का लक्षण तो उनकी दृष्टि में क्षणिक है और नित्य माना जाय तो लक्षण लक्ष्य से अलक्ष्य में चला जायेगा। जिसप्रकार आत्मा को अमूर्त माने तो लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आता है, उसीप्रकार बौद्ध कहते हैं कि एक समय में विद्यमान आत्मा की सत्ता को दूसरे समय में माने तो अतिव्याप्ति दोष लगेगा ही ।

बौद्धों की यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि आत्मा तो नित्यानंद प्रभु है, नित्य शुद्ध है। पर्याय के नष्ट होने पर भी उसका नाश कहाँ होता है ?

नियमसार में कहा है कि "संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय नाशवान है, केवलज्ञान की पर्याय भी नाशवान है; परन्तु आत्मद्रव्य फिर भी अविनाशी है, नित्य है, ध्रुव है। पर्याय के पलटने से द्रव्य नष्ट नहीं हो जाता। द्रव्य तो त्रिकाल नित्य व शाश्वत है, शुद्ध है।

परन्तु एक समय की पर्याय में अटक कर जिसकी बुद्धि अंध हो गई है, वह इस त्रिकाली ध्रुव द्रव्य को स्वीकार नहीं करता।

नित्यानन्दस्वरूप त्रिकाली ध्रुव आत्मा की स्वीकृति के साथ उसकी वर्तमान पर्याय को स्वीकार करना तो उचित ही है, परन्तु द्रव्य के नित्य स्वभाव को न मानकर एक समय की पर्याय जितना ही आत्मा को मानकर दया-दान आदि को आत्मा माने तो यह अनुचित है, गलत बात है। बौद्ध जो अतिव्याप्ति दोष बताता है, परन्तु वस्तु ही जहाँ सर्वथा क्षणिक नहीं है, वहाँ ये दोष कैसे रह सकता है ?

देखो, आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने से सत्यार्थ आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वस्तु सर्वथा क्षणिक नहीं है। वस्तु तो द्रव्यपर्यायस्वरूप है, नित्यानित्यस्वरूप है।

जिसप्रकार मोती के हार में एक डोरे में अनेक मोती पिरोये हुये होते हैं। मोती + डोरा = हार बनता है; परन्तु जो व्यक्ति हार को डोरा सहित नहीं देखते, मात्र मोतियों को ही देखते हैं, वे छूटे-छूटे मोतियों को ही ग्रहण करते हैं, हार को छोड़ देते हैं। उन्हें हार की प्राप्ति नहीं होती। ठीक इसीप्रकार जो जीव आत्मा के एक चैतन्यभाव को तो ग्रहण नहीं करते, और समय-समय में वर्तना परिणाम रूप उपयोग की प्रवृत्ति को देखकर आत्मा को अनित्य मानकर मात्र क्षणिक पर्याय रूप ही मानते हैं, वे आत्मा को छोड़ देते हैं, उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

जो आत्मा को द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं देखते, मात्र क्षणिक ही मानते हैं, उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।

अब इस काव्य में आत्मानुभव करने को कहते हैं —

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम् ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥ २०९ ॥

श्लोकार्थ : [कर्तुः च वेदयितुः युक्तिवशतः भेदः अस्तु वा अभेदः अपि] कर्ता का और भोक्ता का युक्ति के वश से भेद हो या अभेद हो, **[वा कर्ता च वेदयिता मा भवतु]** अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों न हों; **[वस्तु एव सञ्चिन्त्यताम्]** वस्तु का ही अनुभव करो।**[निपुणैः सूत्रे इव इह आत्मनि प्रोता चित्-चिन्तामणि-मालिका क्वचित् भेत्तुं न शक्या]** जैसे चतुर पुरुषों के द्वारा डोरे में पिरोयी गई मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती, उसीप्रकार आत्मा में पिरोई गई चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला भी कभी किसी से भेदी नहीं जा सकती; **[इयम् एका]** ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही, **[नः अभितः अपि चकास्तु एव]** हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व आदि के विकल्प छूटकर हमें आत्माका निर्विकल्प अनुभव हो)।

भावार्थ : आत्मा वस्तु होने से द्रव्यपर्यायात्मक है। इसलिये उसमें चैतन्य के परिणमनस्वरूप पर्याय के भेदों की अपेक्षा से तो कर्ता-भोक्ता का भेद है और चिन्मात्र द्रव्य की अपेक्षा से भेद नहीं है; इसप्रकार भेद-अभेद हो अथवा चिन्मात्र अनुभवन में भेद-अभेद क्यों कहना चाहिए? (आत्मा को) कर्ता-भोक्ता ही न कहना चाहिए, वस्तुमात्र का अनुभव करना चाहिये। जैसे मणियों की माला में मणियों की और डोरे की विवक्षा से भेद-अभेद है परन्तु मालामात्र के ग्रहण करने पर भेदाभेद-विकल्प नहीं है, इसीप्रकार आत्मा में पर्यायों की और द्रव्य की विवक्षा से भेद-अभेद है परन्तु आत्मवस्तुमात्र का अनुभव करने पर विकल्प नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि - ऐसा निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमें प्रकाशमान हो॥ २०९ ॥

कलश २०९ पर प्रवचन

वर्तमान क्षण में जो पर्याय कर्ता है, वही पर्याय दूसरे क्षण में भोक्ता नहीं होती; क्योंकि दूसरे क्षण में यह पर्याय तो रहती ही नहीं है। दूसरे क्षण में तो दूसरी (अन्य) पर्याय ही प्रगट हो जाती है। आत्मा की जो पर्याय विकार करती है, वह पर्याय उसके फल की भोक्ता नहीं होती; अन्य पर्याय ही उसके फल को भोगती है। इसतरह पर्याय अपेक्षा कर्ता-भोक्ता में भेद है। तथा जो आत्मा वर्तमान पर्याय को करता है, वही आत्मा दूसरे (अगले) क्षण में उस राग (विकार) के फल को भोगता है। इसप्रकार द्रव्य अपेक्षा से कर्ता-भोक्ता का अभेद है।

यहाँ कहते हैं कि युक्ति के वश से कर्ता-भोक्ता का भेद हो या अभेद हो अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों न हो, एक वस्तु का ही अनुभव करो।

भाई! वात कुछ सूक्ष्म है। कहते हैं कि "कर्ता-भोक्ता दोनों न हो" इसका अर्थ यह है कि परमार्थ से भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु है। वह राग को करे या भोगे-ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है। शुद्ध चैतन्य द्रव्य में राग का करना व भोगना है ही नहीं। पर्याय अपेक्षा आत्मा को कर्ता-भोक्ता कहते हैं - यह जुदी वात है, वास्तव में आत्मा को - शुद्ध चैतन्यद्रव्य को राग का कर्ता-भोक्तापना नहीं है। किसी अपेक्षा से या युक्ति से कर्ता व भोक्ता का भेद भले हो या न हो, अथवा दोनों न हो, ये सव तो कथन की अपेक्षायें है, मूल वस्तु तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति अनादि-अनंत एकरूप है। उसी का अनुभव करो। उस चैतन्य मूर्ति भगवान आत्मद्रव्य के अनुभव से ही धर्म होता है। अहाहा··· कर्ता-भोक्ता के सव विकल्पों को छोड़ने के लिये कहा है तथा स्वाभिमुख होकर एक 'स्व' को, शुद्ध चैतन्यमय आत्मा को ही अनुभव करने को कहा है, क्योंकि यही एकमात्र धर्म है।

अव कहते हैं कि जिसतरह चतुर पुरुषो द्वारा डोरे में पिरोई या गूँथी हुई मणिरत्न की माला का अखंड रूप से ही अनुभव किया जाता है, उसे एक-एक मणि के रूप में खण्डित रूप से नहीं देखा जाता; ठीक इसीतरह नित्य चैतन्यस्वभाव रूप डोरा में पिरोई हुई सहज अकृत्रिम चैतन्य चिन्तामणिरूप माला भगवान आत्मा है। उसे ज्ञानी खण्डित नहीं करते। चैतन्य चिन्तामणि प्रभु

आत्मा नित्य ध्रुव रहनेवाली वस्तु है। उसकी नित्यता को कोई नहीं भेद सकता। पर्याय में भले राग हो, परंतु त्रिकाली शुद्ध चैतन्य वस्तु को कोई रागमय नहीं कर सकता।

भाई! यह शरीर तो मृत कलेवर है, मुर्दा है। अभी भी मुर्दा ही है; क्योंकि इसमें कहाँ ज्ञान-दर्शन है? चैतन्य आत्मा तो इससे सर्वथा जुदा है; परंतु इस मृतककलेवर में यह चैतन्य महाप्रभु मूर्छित हो गया है।

यहाँ कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यचिन्तामणि प्रभु आत्मा नित्य अभेद एक चैतन्यभाव से भरा भगवान है। उसी का अनुभव करो।

जिसतरह मणिरत्न की माला में धारावाही संलग्न डोरा पिरोया हुआ है, उसे तोड़ नहीं सकते। उसीतरह भगवान आत्मा चैतन्य चिन्तामणिरूप माला है। उसमें नित्य चैतन्यस्वभावमय डोरा पिरोया हुआ है, उसे तोड़ नहीं सकते, भेद नहीं सकते। यह आत्मारूपी माला एक ही है, यह हमें समस्तपने से प्रकाशमान हो अर्थात् नित्यत्व-अनित्यत्व आदि के विकल्प छूटकर एक अभेद आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो।

अहा! कर्ता-भोक्ता के विकल्प कोई प्रयोजनभूत वस्तु नहीं हैं। ये विकल्प तो रागरूप हैं, दु:खरूप हैं। आचार्य आदेश देकर कहते हैं कि तुम तो एक आत्मवस्तु का ही अनुभव करो! यदि तुम्हें धर्म का ही एकमात्र प्रयोजन है तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप वस्तु, जो नित्य शाश्वत है, उसका ही अनुभव करो! तथा आचार्य स्वयं के लिये भी यही भावना भाते हैं कि हमें समस्तपने एक आत्मा ही प्रकाशमान हो।

जिसतरह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के विकल्प राग हैं; उसीतरह कर्ता-भोक्ता के विकल्प भी राग हैं तथा राग हिंसा है, आत्मा का घातक है। इससे कहते हैं कि कर्ता-भोक्ता आत्मा हो या न हो - इन विकल्पों से हमारा क्या काम ? हमें तो अनन्त गुण-स्वभाव के रस से भरा चैतन्यचिन्तामणि भगवान आत्मा का ही अनुभव हो। वह एक ही हमें प्रकाशमान हो, क्योंकि जन्म-मरण के अन्त का यह एक ही उपाय है।

प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हुये आचार्य कहते हैं – हमें समस्तपने एक चैतन्यचिन्तामणि प्रभु आत्मा ही प्रकाशमान हो।

यहाँ आत्मद्रव्य को चैतन्यचिन्तामणि माला कहा है। उसके चैतन्य स्वभावमय गुण को डोरा के समान कहा है, जो कि स्वयं नित्य कायम रहकर सम्पूर्ण द्रव्य को अपने में पिरोये रहता है। तथा उन समस्त गुणों को धारण करनेवाले गुणी आत्मा का समस्त विकल्प मिटाकर एवं अन्तर्मुख होकर अनुभव करना पर्याय है। उस निर्मल पर्याय को मोक्ष का मार्ग कहा है।

कलश २०९ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा द्रव्य-पर्याय का योग है। द्रव्य व पर्याय दोनों मिलकर सम्पूर्ण आत्मवस्तु है। त्रिकाल नित्य रहनेवाली वस्तु को द्रव्य कहते हैं तथा उसकी पलटती अवस्था को पर्याय कहते हैं – ऐसी द्रव्य-पर्यायस्वरूप आत्मवस्तु है। द्रव्यरूप से नित्य रहना और पर्यायरूप से पलटना – ये दोनों आत्मवस्तु के स्वरूप हैं। इस कारण उसमें चैतन्य के परिणमनरूप पर्यायों के भेदों की अपेक्षा से कर्ता-भोक्ता का भेद है। जो पर्याय कर्म करती है वह भोगती नहीं है, अन्य ही भोगती है – ऐसा भेद है। तथा चिन्मात्र द्रव्य की अपेक्षा से भेद नहीं है, अभेद है। द्रव्य जो एक पर्याय में करता है, वही दूसरी पर्याय में भोगता है – ऐसा अभेद है।

यहाँ कहते हैं कि भले वस्तु में ऐसा भेदाभेद हो; परंतु चिन्मात्र अनुभव में भेद-अभेद कहाँ है? वहाँ तो वस्तु का अनुभव है। अतः यही कहते हैं– आत्मा को कर्ता-भोक्ता नहीं कहकर मात्र अभेद एक चिन्मात्र वस्तु का अनुभव करो!

समयसार गाथा १४३ में कहा है कि आत्मा अबद्ध है, शुद्ध है, एक है, ध्रुव है आदि नयपक्ष के विकल्पों से क्या सिद्ध करना चाहते हो? विकल्पों से साध्यसिद्धि नहीं होती। अतः द्रव्यस्वभाव का ही आश्रय करो। वह आत्मा नित्य, त्रिकाली, एक एवं ध्रुवधाम है। ऐसे आत्मा के आश्रय से ही साध्य की सिद्धि होगी।

देखो, आचार्य अमृतचंद कहते हैं कि हमें सदैव केवल निर्विकल्प आत्मा का अनुभव ही प्रकाशमान रहे। बीच में यह समयसार की टीका करने जैसा शुभ

विकल्प भी अब हमें पुसाता नहीं है, क्योंकि ये भी शुभभाव होने से बंध का ही कारण है न? इन विकल्पों से भी रहित निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यघनस्वरूप का ही अनुभव हमें प्रकाशमान होवे। अहो! धर्मात्मा पुरुषों की ऐसी कोई अलौकिक भावना होती है। उन्हें स्वर्ग की भी इच्छा नहीं होती।

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं —

(रथोद्धता)

व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते, कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥ २१० ॥

श्लोकार्थ : [**केवलं व्यावहारिकदृशा एव कर्तृ च कर्म विभिन्नम् इष्यते**] केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; [**निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते**] यदि निश्चय से वस्तु का विचार किया जाये, [**कर्तृ च कर्म सदा एकम् इष्यते**] तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है।

भावार्थ : मात्र व्यवहारदृष्टि से ही भिन्न द्रव्यों में कर्तृत्व-कर्मत्व माना जाता है; निश्चयदृष्टिसे तो एक ही द्रव्य में कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है ॥ २१० ॥

कलश २१० एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

देखो, इस कलश में यह कहते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्त्ता व कर्म भिन्न कहने में आते हैं। वस्तुतः आत्मा कर्ता हो व शरीर में उस कर्ता का कार्य हो - ऐसा भिन्न कर्ता-कर्म असत्यार्थ है। किन्तु निमित्त की मुख्यता से ऐसा कहा जाता है।

निश्चय से अर्थात् परमार्थदृष्टि से यदि विचार किया जाय तो कर्ता व कर्म सदैव एक ही द्रव्य में होते हैं। आत्मा कर्ता और उसका जो परिणाम होता है, वह उसका कर्म - इसप्रकार निश्चय से अभिन्न कर्ता-कर्म है। भाई! यह सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि में आई हुई बात है, जो यहाँ आचार्यदेव ने जाहिर की है।

भावार्थ यह है कि आत्मा को शरीर-मन-वाणी आदि पर के कार्यों का कर्ता कहना केवल व्यवहारदृष्टि से ही है। आत्मा को राग का कर्ता कहना भी व्यवहारनय का ही कथन है। अज्ञान भाव से आत्मा राग का कर्ता तो है, परंतु पर का कर्ता तो जीव अज्ञान भाव से भी नहीं है। तथापि जिनको शुद्ध एकज्ञायकस्वभाव की अन्तर्दृष्टि नहीं हुई, वे मिथ्यादृष्टि पर के कार्य के कर्ता वनते हैं। लोक में असत् दृष्टि से, व्यावहारिक दृष्टि से ऐसा कहने में भी आता है; परन्तु वस्तुतः पर का कार्य जीव कर नहीं सकता।

सचमुच सम्यक्दृष्टि जीव तो न पर का ही कर्ता है और न राग का ही कर्ता है। वह तो ज्ञाता-दृष्टा भाव से मात्र जाननहार है।

(निश्चयदृष्टि से तो एक ही द्रव्य में कर्ता-कर्मपना घटित होता है। निश्चय से आत्मा कर्ता और उसका निर्मल चैतन्यपरिणाम उसका कर्म - ऐसा कर्ता-कर्मपना घटता है।)

●

अब इस कथन को दृष्टान्त द्वारा गाथा में कहते हैं —

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३४९ ॥
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३५० ॥
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य सम्मओ होदि ॥ ३५१ ॥
जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण य सो दु तम्मओ होदि ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि ॥ ३५२ ॥
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि ॥ ३५३ ॥
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से ।
तह जीवो वि य कम्मं कुवदि हवदि य अणण्णो से ॥ ३५४ ॥
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥ ३५५ ॥

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३४९ ॥
यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥ ३५० ॥
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥ ३५१ ॥
यथा शिल्पी तु कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ॥ ३५२ ॥
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥ ३५३ ॥
यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥ ३५४ ॥
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥ ३५५ ॥

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुंडलादिकर्मफलं भुंक्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। तथात्मापि पुण्यपापादिपुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, कायवाङ्मनोभिः पुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, कायवाङ्मनांसि पुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, सुखदुःखदिपुद्‌गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभेग्यत्व-व्यवहारः। यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षु- श्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्व-निश्चयः। तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुंक्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयतः।

ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु वो नहीं तन्मय बने।
त्यों कर्म को आत्मा करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३४९ ॥
ज्यों शिल्पि करणों से करे पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों से करे पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३५० ॥
ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परन्तु वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३५१ ॥
शिल्पी करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने ॥ ३५२ ॥
इस भाँति मत व्यवहार का संक्षेप से वक्तव्य है।
सुन लो वचन परमार्थ का, परिणामविषयक जो हि है ॥ ३५३ ॥

शिल्पी करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पी अनन्य है।
त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है ॥ ३५४॥
चेष्टित हुआ शिल्पी निरंतर दुखित जैसे होय है।
अर दुख से शिल्पि अनन्य, त्यों जीव चेष्टमान दुखी बने ॥ ३५५॥

गाथार्थ : [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी (स्वर्णकार-सोनी आदि कलाकार) [कर्म] कुण्डल आदि कर्म (कार्य) [करोति] करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न च भवति] तन्मय (उससमय, कुण्डलादिमय) नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः अपि च] जीव भी [कर्म] पुण्यपापादि पुद्गल कर्म [करोति] करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (पुद्गलकर्ममय) नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [करणैः] हथौड़ा आदि करणों (साधनों) के द्वारा [करोति] (कर्म) करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न भवति] तन्मय (हथौड़ा आदि करणमय) नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीव [करणैः] (मन-वचन-कायरूप) करणों के द्वारा [करोति] (कर्म) करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (मन-वचन-कायरूप करणमय) नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [करणानि] करणों को [गृह्णाति] ग्रहण करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न भवति] तन्मय नहीं होता, [तथा] उसीप्रकार [जीवः] जीव [करणानि तु] करणों को [गृह्णाति] ग्रहण करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (करणमय) नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पी तु] शिल्पी [कर्मफलं] कुण्डल आदि कर्म के फल को [भुंक्ते] भोगता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न च भवति] तन्मय नहीं होता, [तथा] उसी प्रकार [जीवः] जीव [कर्मफलं] पुण्यपापादि पुद्गलकर्म के फल को (पुद्गलपरिणामरूप सुखदुःखादि को) [भुंक्ते] भोगता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (पुद्गलपरिणामरूप सुखदुःखादिमय) नहीं होता।

[एवं तु] इसप्रकार तो [व्यवहारस्य दर्शनं] व्यवहार का मत [समासेन] संक्षेप से [वक्तव्यं] कहने योग्य है। [निश्चयस्य वचनं] (अब) निश्चय का वचन [शृणु] सुनो [यत्] जो कि [परिणामकृतं तु भवति] परिणाम विषयक है।

[**यथा**] जैसे [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**चेष्टां करोति**] चेष्टारूप कर्म (अपने परिणामरूप कर्म) को करता है [**तथा च**] और [**तस्याः अनन्यः भवति**] उससे अनन्य है, [**तथा**] उसी प्रकार [**जीवः अपि च**] जीव भी [**कर्म करोति**] (अपने परिणामरूप) कर्म को करता है [**च**] और [**तस्मात् अनन्यः भवति**] उससे अनन्य है। [**यथा**] जैसे [**चेष्टा कुर्वाणः**] चेष्टारूप कर्म करता हुआ [**शिल्पिकः तु**] शिल्पी [**नित्यदुःखितः भवति**] नित्य दुखी होता है [**तस्मात् च**] और उससे (दुःख से) [**अनन्यः स्यात्**] अनन्य है, [**तथा**] उसीप्रकार [**चेष्टमानः**] चेष्टा करता हुआ (अपने परिणामरूप कर्म को करता हुआ) [**जीवः**] जीव [**दुःखी**] दुःखी होता है (और दुःख से अनन्य है)।

टीका : जैसे — शिल्पी (स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि जो परद्रव्य-परिणामात्मक कर्म करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यपरिणामात्मक करणों के द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्यपरिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है और कुण्डल आदि कर्म का जो ग्रामादि परद्रव्यपरिणामात्मक फल उसको भोगता है, किन्तु अनेकद्रव्यत्व के कारण उनसे (कर्म, करण आदि से) अन्य होने से तन्मय (कर्मकरणादिमय) नहीं होता; इसलिये निमित्त-नैमित्तिकभावमात्र से ही वहाँ कर्तृ-कर्मत्व का और भोक्ता-भोग्यत्व का व्यवहार है; इसीप्रकार - आत्मा भी पुण्यपापादि जो पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक (-पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप) कर्म को करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक करणों के द्वारा करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्य परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है और पुण्यपापादि कर्म के सुख-दुःखादि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मक फल को भोगता है, परन्तु अनेकद्रव्यत्व के कारण उनसे अन्य होने से तन्मय नहीं होता; इसलिये निमित्त-नैमित्तिकभावमात्र से ही वहाँ कर्तृत्व-कर्मत्व और भोक्ता-भोग्यत्व का व्यवहार है।

और जैसे — वही शिल्पी, करने का इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (अर्थात् कुण्डलादि करने के अपने परिणामरूप और हस्तादि के व्यापाररूप) जो स्वपरिणामात्मक कर्म को करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्म

के स्वपरिणामात्मक फल को भोगता है, और एकद्रव्यत्व के कारण उनसे (कर्म और कर्मफल से) अनन्य होने से तन्मय (कर्ममय और कर्मफलमय) है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से वहीं कर्ता-कर्मपन का और भोक्ता-भोग्यपन का निश्चय है; उसीप्रकार — आत्मा भी, करने का इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (रागादिपरिणामरूप और प्रदेशों के व्यापाररूप) ऐसा जो आत्मपरिणामात्मक कर्म उसको करता है तथा दु:खस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्म के आत्मपरिणामात्मक फल उसको भोगता है, और एकद्रव्यत्व के कारण उनसे अनन्य होने से तन्मय है; इसलिये परिणाम-परिणामीभाव से वहीं कर्ता-कर्मपन का और भोक्ता-भोग्यपन का निश्चय है।

समयसार गाथा ३४९ से ३५५ पर प्रवचन

यहाँ उदाहरण में सोनी आदि शिल्पी द्वारा जो कुण्डल आदि कार्य को करने की बात कही है सो 'कार्य करता है' — ऐसा कहकर तो व्यवहार दर्शाया है। वस्तुत: सोनी कुण्डल कार्य से तन्मय कहाँ है ? जिससे उसका कर्ता कहा जाये ?

प्रश्न : यदि सोनी परद्रव्यरूप कुण्डल को कर ही नहीं सकता तो 'करता है' — ऐसा वचन क्यों कहा ?

उत्तर : वस्तुत: तो 'कर नहीं सकता' यह बात ही अपनी जगह पूर्ण सत्य है, किन्तु निमित्त की मुख्यता से पर के साथ 'करता है' — ऐसा वचन बोलने का व्यवहार लोक में चलता है।

सोनी कुण्डल को कर सके — ऐसा तो बिल्कुल भी संभव नहीं है; क्योंकि पृथक् दो द्रव्यों में अत्यन्ताभाव पड़ा है, फिर भी निमित्त की अपेक्षा व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि 'स्वर्णकार ने कुंडल को बनाया।'

देखो, सत्यार्थपने देखें तो आत्मा पर की दया पाल ही नहीं सकता, शरीर को हिला-चला ही नहीं सकता, वाणी बोल ही नहीं सकता, खान-पान आदि काम कर ही नहीं सकता, परन्तु निमित्त की मुख्यता से आत्मा को व्यवहार से पर का कर्ता कहा जाता है। आत्मा को पर का कर्ता कहना व्यवहार है। वस्तुत: जीव परद्रव्य का कार्य तीन काल में भी नहीं कर सकता है: क्योंकि

जीव परद्रव्य में तन्मय नहीं होता तथा तन्मय हुये बिना कोई किसी का कर्ता नहीं हो सकता।

रोटी, सेव, बड़ी, पापड़ आदि जो भी काम महिलायें करतीं हैं; वस्तुत: ये सभी कार्य परद्रव्यस्वरूप होने से इन्हें महिलायें करतीं ही नहीं हैं, कर ही नहीं सकतीं। इन कार्यों को महिलाओं ने किया — यह कथन निमित्त की अपेक्षा व्यवहार से किया गया कथन है।

'आत्मा पर के कार्य में तन्मय नहीं होता' — इसका अर्थ है आत्मा पर में प्रवेश नहीं करता; उसे स्पर्श भी नहीं करता। जब ऐसी बात है तो आत्मा पर के कार्य का कर्ता कैसे हो सकता है ? जो पर को छूता तक नहीं है, वह पर का क्या कर सकता है ? भाई! पर के कार्य का कर्ता, जड़ के कार्य का कर्ता पर है - जड़ है; तथापि जड़ का कार्य जीव ने किया — ऐसा जो कहा जाता है, वह व्यवहार का कथन है।

''परद्रव्य का परिणाम मैं करूँ'' ऐसी जो इच्छा होती है, उस इच्छा का कर्ता जीव और वह इच्छा जीव का कर्म - ऐसा तो किसीप्रकार कह भी सकते हैं, परन्तु परद्रव्य के जो परिणाम होते हैं, उनका कर्ता तो जीव किसी भी प्रकार नहीं है। निज ज्ञानानंदस्वरूप से भ्रष्ट पर्यायबुद्धिवाला जीव इच्छा का कर्ता तो है, किन्तु वह पर का कर्ता कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह पर में तन्मय नहीं होता।

अन्दर में आत्मा सच्चिदानंद प्रभु सदा एक ज्ञायक स्वभाव से विराजता है। जिन्हें उस ज्ञायकस्वभावी आत्मा का भान हुआ, वे ज्ञानी पुरुष धर्मात्मा हैं। उन धर्मात्माओं के पर के कर्तृत्व की बात तो दूर ही रही, वे पर के कार्यकाल में अपने अन्दर होनेवाले तत्संबधी राग के भी कर्ता नहीं है।

जैसे कि कोई धर्मात्मा स्वर्णकार हथौड़ा आदि करण (साधनों) से कुंडल बनाता है, तो वस्तुत: वह उस कुंडल का कर्ता एवं हथौड़ा आदि उसके करण-साधन — ऐसा तो है ही नहीं; किन्तु उस कुंडल बनने के काल में जो उस ज्ञानी सोनी को कुंडल बनाने की इच्छा है, उसका भी वह कर्ता नहीं है।

(भले ही धर्मीजीव युद्ध में लड़ रहा हो, फिर भी वह ऐसा नहीं मानता कि "मैं हथियार को कुशलतापूर्वक चला सकता हूँ और शत्रुओं पर वार कर सकता हूँ।")

अहा ···! उस समय उसे अस्थिरता के कारण राग-द्वेष होता है, उसका भी वह कर्ता नहीं है। वह तो उस काल में होते हुये विकल्पों का भी ज्ञाता ही है। जबकि अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि की चाल इससे उल्टी है। वह तो ऐसा मानता है कि मैं परद्रव्य को करता हूँ। ऐसा मानकर वह रागादि.विकार का कर्ता होता है। यद्यपि परद्रव्य का कर्ता वस्तुत: अज्ञानी भी नहीं है, परन्तु वह मुफ्त में ही परद्रव्य में कर्तृत्व का अहंकार करके रागादि विकार का कर्ता बनता है।

इस लोक में अनंत द्रव्य हैं। अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, असंख्यात कालाणु तथा धर्म, अधर्म और आकाश एक-एक — इसप्रकार अनंत द्रव्य हैं। वे प्रत्येक अपना-अपना कार्य करते हैं, किन्तु परद्रव्य का कार्य कोई भी द्रव्य नहीं करता। यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करे तो दोनों एक हो जाये? इसप्रकार तो कोई भी द्रव्य स्वतन्त्र नहीं रह सकेगा? इससे यही सिद्ध होता है कि कोई भी द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कहना तो मात्र निमित्त का कथन है - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। जीव कर्ता व जड़ पुण्य-पाप आदि उसके कर्म हों—ऐसा नहीं है। यह तो निमित्त-नैमित्तिक भाव मात्र से ही कर्ता-कर्मपने का व्यवहार है। जैसे- "सोनी कुंडलादि का कर्ता है" ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, उसीतरह जीव जड़ कर्म को करता है — ऐसा कथन मात्र व्यवहार है।

भाई! मन-वचन-काय तो पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं, उसे आत्मा ग्रहण नहीं करता। जिसे आत्मा छूता भी नहीं है, उसे ग्रहण कैसे करे? तथा जब ग्रहण ही नहीं करता तो उस जड़ कर्म को करने को तो बात ही कहाँ रही ? यह तो बाह्य निमित्त है। निमित्त की मुख्यता से उपचार से कहा जाता है कि मन-वचन-कायरूप करण द्वारा आत्मा कर्म को करता है। वस्तुतः तो आत्मा मन-वचन-काय को ग्रहण ही नहीं करता, जड़कर्म को करता ही नहीं है। यह वस्तुस्थिति है।

अब कहते हैं कि इसीतरह आत्मा पुण्य-पाप आदि पुद्गल कर्म के फल सुख-दु:ख को भोगता भी नहीं है। ऐसा होते हुये भी जो यह कहा जाता है कि "जीव कर्म के फल को भोगता है" सो यह व्यवहार का कथन है । भाई! कर्म का फल तो शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ और धनादि सम्पत्ति है। वस्तुत: ये सव तो जड़-मिट्टी है। इसे जीव कैसे भोगे ? जो स्वयं को परद्रव्य का भोक्ता माने, वह मिथ्यादृष्टि है। भाई! जीव परद्रव्य को भोगता नहीं है, भोग सकता नहीं है; क्योंकि परद्रव्य में वह तन्मय नहीं होता। इसलिये निमित्त-नैमित्तिक भाव मात्र से ही इसका परद्रव्य के साथ कर्ता-कर्मपने का और भोक्ता-भोग्यपने का व्यवहार है।

भाई! जो परिणाम जड़ में तथा परद्रव्य में होते हैं, जव तू उनमें तन्मय नहीं हुआ तो उनका कर्ता कैसे हो सकता है ? तन्मय हुये बिना तू पर के परिणाम को कैसे कर सकता है ? हाँ, उस परद्रव्य के परिणमन के काल में तुझे जो उस कार्य को करने की इच्छा हुई है, उस इच्छा का तू अज्ञानभाव से कर्ता है, रागादिरूप स्वपरिणामात्मक जो कर्म होता है, अज्ञानभाव से अज्ञानी उसका कर्ता होता है।

अज्ञानी जीव स्वपरिणामात्मक राग कर्म को करता है तथा स्वपरिणामात्मक राग के फल दु:ख को भोगता है; परन्तु संयोगी परद्रव्य के कर्म व उसके फल को तो अज्ञानी भी न करता है न भोगता है। जव तक अपने ज्ञानानंदस्वभाव की दृष्टि का अभाव है, तब तक वह रागादि का कर्ता और उसके फल सुख-दु:ख का भोक्ता है। निज चिदानंदस्वरूप की अन्तर में दृष्टि होने पर वह ज्ञानी होता हुआ रागादि भावों का अकर्ता व उसके फल का अभोक्ता हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि —

१. अज्ञानी जीव पर में हर्ष-शोक के भाव करता है तथा उन्हें भोगता है; परन्तु परद्रव्य को अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि का न तो कर्ता है और न भोक्ता ही है।

२. ज्ञानी जीव को अन्तरंग में स्वभाव का अर्थात् शुद्ध एक ज्ञायकभाव का भान हुआ है; इस कारण वह स्वभावदृष्टि से रागादि भावों का कर्ता-भोक्ता नहीं होता।

३. तथापि ज्ञानी के जितना रागरूप परिणमन है, उतने परिणमन की अपेक्षा से उसे भी कर्तापना तथा भोक्तापना है। ज्ञानी स्वभाव की दृष्टि से राग का कर्ता नहीं है, दु:ख का भोक्ता नहीं है; परन्तु इससे कोई एकान्त पकड़ कर ऐसा माने कि ज्ञानी के सर्वथा दु:ख होता ही नहीं है तो यह बात नहीं है। ज्ञानी के जितना किंचित् राग है, उतना उस समय दु:ख है और वह उसका उतनी मात्रा में कर्ता एवं भोक्ता भी है।

यहाँ तो इस समय अज्ञानी की बात चलती है कि अज्ञानी जीव स्व-परिणामात्मक राग के परिणाम का कर्ता है तथा उसके फलस्वरूप जो हर्ष-विषाद होता है, उसका भोक्ता है, किन्तु परद्रव्य का कर्ता-भोक्ता तो अज्ञानी भी नहीं है।

प्रश्न : पुण्य-पाप आदि भावों को पुद्गल स्वभाव भी तो कहा है न ?

समाधान : हाँ, कहा है। स्वभावदृष्टिवंत पुरुष दृष्टि की प्रधानता में पुण्य-पाप आदि भावों को पुद्गल स्वभाव जानते हैं, क्योंकि वे पुण्य-पाप आदि जीव के स्वभाव में नहीं है तथा स्वभाव की दृष्टि में स्वानुभूति में समाते नहीं है, भिन्न ही रह जाते हैं। तथा वे पुद्गल कर्म के उदय के लक्ष्य से पर्याय में होते हैं और स्वभाव का लक्ष्य करते ही निकल जाते हैं, इसलिये उन्हें पुद्गल स्वभाव कहा है। परन्तु यहाँ दूसरी बात है। यहाँ तो अज्ञानी जीव स्वयं राग के परिणाम को करता है तथा उसके फल सुख-दु:ख को भोगता है; क्योंकि अज्ञानी जीव अपने परिणाम से तन्मय है। परद्रव्य की जो पर्यायें होती हैं, उनका वह कर्ता-भोक्ता नहीं है; क्योंकि उनमें वह अज्ञानी तन्मय नहीं है। भाई! यह शरीर, मन, वाणी, कर्म, धन-धान्य आदि जो सब परद्रव्य के परिणाम हैं, उन्हें जीव करता भी नहीं और भोगता भी नहीं है।

अपनी पर्याय में जो शुभाशुभ भाव होते हैं, वे परिणाम हैं तथा अपना द्रव्य परिणामी है। वह परिणाम परिणामी से अनन्य है। ऐसा यहाँ कहा है। यह स्वरूप से भ्रष्ट अज्ञानी जीव की बात है। शुभाशुभ भाव से जीव अनन्य है, इसलिए परिणाम-परिणामी भाव से वहाँ कर्ता-कर्मपना है तथा भोक्ता-भोग्यपना है - यह निश्चय है।

अहा! शुभाशुभ राग के परिणाम परिणामी जीव के परिणाम हैं; परन्तु परद्रव्य के परिणाम स्व-परिणामी के अर्थात् अपने जीव द्रव्य के परिणाम नहीं हैं। पर के परिणामों का परद्रव्य परिणामी है। जिसतरह आत्मा अपने परिणाम से तन्मय है,उसतरह आत्मा पर के परिणाम के साथ तन्मय नहीं है। इसलिए आत्मा अपने परिणाम का कर्ता-भोक्ता हो, परन्तु पर के परिणाम का कर्ता-भोक्ता कदापि नहीं है। कुंभकार घड़ा बनाने के राग का कर्ता तो है, पर घड़ा बनाने का कर्ता कदापि नहीं है।

भाई! सारा जगत जो माने बैठा है, उस सबसे यह जुदी बात है। स्वर्णकार जो हार आदि जेवर बनाता है, वह वस्तुतः स्वर्णकार का कार्य नहीं है। कुंभकार जो घड़ा बनाता है, वह वस्तुतः कुंभकार का कार्य नहीं है। दर्जी जो कपड़े सिलता है, वह दर्जी का कार्य नहीं है। भाई! सोनी, दर्जी, कुंम्हार आदि कारीगर, अज्ञान भाव से अपने उस काम करने के राग व विकल्प के कर्ता तो हैं; परन्तु वे परद्रव्य के परिणाम के कर्ता तो कदापि नहीं हैं, क्योंकि परिणाम-परिणामी से अभिन्न होता है तथा जहाँ दोनों अभिन्न होते हैं, वही कर्ता-कर्मपना संभव है।

प्रश्न : दागीना (जेवरात), कपड़ा, घड़ा वगैरह कार्य कर्ता के बिना तो हो ही नहीं सकते ? यदि सोनी, दर्जी, कुम्हार न करे तो ये काम कैसे हो ?

उत्तर : अरे भाई! द्रव्य में जो प्रति समय कार्य होता है, वह परिणाम है तथा उनका कर्ता वही परिणामी पुद्गल द्रव्य है अन्य कोई उनका कर्त्ता नहीं है। दागीना (जेवर) घड़ा व कोट आदि कार्य हैं, उनके कर्ता क्रमशः स्वर्ण, मिट्टी व कपड़ा है, सोनी, कुंभंकार व दर्जी नहीं। ये सोनी आदि तो कार्य के समय कार्य करने के राग के कर्ता हैं। इसप्रकार जड़ परद्रव्य में जो कार्य या परिणाम होता है, उन कार्यों का कर्ता वे ही परिणामी पुद्गल हैं, जिनमें कार्य सम्पन्न हुआ है। जितना सच यह है कि वे कार्य कर्ता बिना नहीं हुये; सोनी आदि परद्रव्य उनके कर्ता नहीं है, यह भी उतना ही सच है। दोनों ही कथन अपनी-अपनी अपेक्षा यथार्थ हैं। यदि कोई सोनी आदि ऐसा माने कि ये दागीना (जेवर) आदि का कर्ता मैं हूँ, तो वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है।

स्वर्णकार हथौड़ा आदि साधनों को ग्रहण करते हैं — ऐसा कहना व्यवहार है। हथौड़ा जो ऊँचा होता है, यह कार्य (परिणाम) है और हथौड़ा के परमाणु

उस परिणाम का परिणामी द्रव्य है। इसप्रकार हथौड़ा के परमाणु कर्ता व उसका ऊँचा होने रूप परिणाम कार्य है। परन्तु हथौड़ा उठाकर ऊँचा करना सोनी का कार्य नहीं है। सोनी उस कार्य का कर्ता नहीं है, क्योंकि वह सोनी का (जीव का) परिणाम नहीं है।

इसप्रकार समय-समय पुद्गल परमाणुओं में जो कार्य (परिणाम) होता है, वह अपने-अपने स्वकाल में उन्हीं पुद्गल परमाणुओं में से होता है। उस परिणाम का अपना जन्मक्षण है। अन्य कोई उसका कर्त्ता नहीं है। ऐसा ही वस्तु का स्वतंत्र परिणमन-स्वभाव है।

पहले वस्तुस्वरूप की ऐसी स्वतंत्र परिणमन व्यवस्था अपने ज्ञान-श्रद्धान में बैठना चाहिए। जब वस्तु के परिणाम की ऐसी स्वतंत्रता की श्रद्धा हो तो पर के कर्तापन के अहंकार और भार से निर्भार होकर 'मैं शुद्ध हूँ, एक हूँ, ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ, राग-विकार के जो परिणाम, भाव होते हैं, उनका भी मैं कर्ता नहीं हूँ' ऐसा यथार्थ भान होता है।

धर्मी पुरुष तो अपने रागादि भावों का भी मात्र ज्ञाता ही रहता है, उसका भी कर्ता नहीं बनता। 'जानना' जीव का परिणाम है, राग जीव का परिणाम नहीं है।

अहो! जिसप्रकार चन्द्रमा की चाँदनी का उज्ज्वल प्रकाश है, उसीप्रकार भगवान आत्मा का परमशुद्ध एक ज्ञान प्रकाश है। बस 'जानना' आत्मा का कार्य है। पर का कुछ करना या करने संबंधी राग करना भी आत्मा का कार्य नहीं है। पर का कार्य मैं करता हूँ या कर सकता हूँ — ऐसी मान्यता तो मिथ्यात्व है। जीव को राग का कर्ता जो कहा जाता है, वह तो अज्ञानी जीव की अपेक्षा कहा जाता है, यहाँ भी कहा है कि अज्ञान भाव से जीव राग का कर्ता भले हो, परन्तु पर के कार्य का कर्ता जीव हो, यह तो त्रिकाल संभव ही नहीं है, सत्य नहीं है।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो फिर यह क्यों कहा जाता है कि भूखों का भरण-पोषण करो, प्यासों को पानी दो, रोगी को औषधि देकर नीरोग करो। परोपकार

करो। ये सब भले कार्य हम करते हैं, सबको करना चाहिए। ऐसा उपदेश भी क्यों दिया जाता है ?

उत्तर : यहाँ कहते हैं कि बापू ! तेरी यह मान्यता मिथ्या है, क्योंकि सचमुच तो पर के कार्य आत्मा कर ही नहीं सकता। सत्य तो यही है, परन्तु निमित्त की अपेक्षा ऐसा कहने में आता है। गृहस्थ की भूमिका में ऐसा शुभराग आये बिना नहीं रहता। श्रद्धा में पूर्ण अकर्ताभाव रहने पर भी राग की भूमिका में ऐसे भाव भी आते हैं। अतः कहते हैं कि अरे भाई! एक-एक परमाणु अपने-अपने स्वकाल में होता हुआ अपने-अपने परिणाम का कर्ता है और वह परिणाम उसका कर्म है।

देखो, आकाश में जो ये प्लेन उड़ते हैं न ? वे वस्तुतः उनके चालक (पायेलट) एवं पेट्रोल आदि के द्वारा नहीं उड़ते हैं, बल्कि प्लेन के प्रत्येक परमाणु में स्वतंत्र क्रियावती शक्ति है, जो अपनी-अपनी योग्यता से गमन करते हैं। बात बहुत गंभीर है, साधारणतया श्रद्धा में सहज स्वीकृत नहीं होती। बहुत लोग तो ऐसी बात सुनकर इस ध्रुव सत्य का उपहास करते हैं। कहते हैं सोनगढ़ की मोटरगाड़ियाँ बिना ड्राइवर और बिना पेट्रोल के चलती हैं। परन्तु यह तत्त्व का उपहास है, जिनवाणी का उपहास है।

अरे भाई! परमाणु में जो गति होती है, वह उसमें विद्यमान शक्ति का कार्य है। परमाणु अपनी ही शक्ति से गति करता है। प्लेन की गति के कर्ता भी प्लेन के परमाणु ही हैं, चालक उस गति का कर्ता नहीं है।

अहो! यह तो आचार्यदेव ने भव्यजीवों के लिये परम अमृतरूप वचन कहे हैं। यदि कोई इस परमामृत का पान न करे और अज्ञानपूर्वक व्रत, तप आदि करता रहे तो इससे कुछ भी लाभ नहीं होगा; क्योंकि उसे मूल वस्तुस्वरूप की तो खबर ही नहीं है, जिससे अकर्ताभाव जागृत होकर पूर्ण निराकुल सुख प्राप्त होता है।

तथा जो परिणाम जीव के होते हैं, वह उन परिणामों का कर्ता-भोक्ता होता है, किन्तु वह आहार-पानी व औषधि आदि अन्य वस्तुओं का कर्ता-भोक्ता नहीं है।

अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मैं मकान बनाता हूँ, धन कमाता हूँ, परिवार का पालन-पोषण करता हूँ — ऐसी इच्छा सहित वर्तता हुआ वह उस इच्छा के परिणाम का कर्ता होता है तथा वह परिणाम उसका कर्म बनता है। तथा वह इच्छा के फल सुख-दु:ख का भोक्ता होता है, किन्तु मकान-महल आदि का वह कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। यहाँ यह सिद्ध करना है कि परद्रव्य से अपना परिणाम भिन्न है। जो आत्मा को जड़ की क्रिया का कर्ता व भोक्ता मानता है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है। इसीतरह जो जीव के शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उन्हें परद्रव्य करता है — ऐसा मानता है, वह भी मूढ़ है।

भगवान के दर्शन करते हुए जीव के जो शुभभाव होते हैं, वस्तुत: वे परिणाम भगवान की प्रतिमा के कारण नहीं होते, बल्कि उन शुभपरिणामों का कर्ता जीव ही है तथा वह परिणाम जीव का कर्म है। प्रतिमा के समक्ष भक्त जीव को जो भक्ति- स्तुति का परिणाम होता है, वह स्वतंत्र अपनी योग्यता से होता है। भगवान का या उनकी प्रतिमा का उसमें कुछ योगदान नहीं है। भाई! ऐसा वस्तु का स्वरूप है — ऐसा जाने बिना धर्म किसप्रकार संभव है?

शुभराग के फल में जीव पुण्य बंध करके स्वर्ग में जाता है, तो वहाँ भोग सामग्री का कोई पार नहीं है, परन्तु सतृष्ण रागी जीव वहाँ बहुत दु:खी रहता है। वहाँ भी जीव को जो राग होता है, वह भोग सामग्री के कारण नहीं, बल्कि स्वयं की तत्समय की पर्यायगत योग्यता से होता है।

जीव को जो राग का परिणाम होता है, उसमें जीव अनन्य है; क्योंकि राग के परिणाम और आत्मा के एकद्रव्यपना है। इसीतरह उसको राग के फल में जो दु:ख आता है, उससे भी जीव अनन्य है, तन्मय है; क्योंकि दु:ख परिणाम के और आत्मा के एकद्रव्यपना है। इसलिये कहते हैं कि परिणाम-परिणामी भाव से वहाँ ही कर्ता-कर्मपना व भोक्ता-भोग्यपना होने का निश्चय है।

प्रश्न : एक ओर कहते हैं कि शुभराग जीव का परिणाम है, जीव से अनन्य है और दूसरी ओर कहते हैं कि शुभराग पुद्गल का परिणाम है, जीव से अन्य है। इन परस्पर विरोधी कथनों में सत्य किसे माना जाए ? इस कथन से क्या समझा जाए ?

उत्तर : भाई! शुद्धस्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से राग के परिणाम को अन्य कहा है, क्योंकि स्वभाव और स्वभाव की दृष्टि में राग नहीं है। तथा पुद्गल कर्म के निमित्त से राग उत्पन्न होता है, इसकारण उसे पुद्गल का परिणाम कहा है।

परन्तु अज्ञानी जीव को अनादि से स्वभाव का भान नहीं है तथा पर्याय में जो राग होता है, उसे कर्मजन्य मानता है। उससे कहा है कि भाई! राग तेरी पर्याय में होता है और वह तुझ से अनन्य है, इसलिए तू ही इसका कर्ता है, अन्य कर्म आदि तेरे राग के कर्ता नहीं है। अज्ञानी की पर्याय में जो मिथ्यात्वादि परिणाम होते हैं, वे अज्ञानी से अनन्य हैं, जुदे नहीं हैं। जिसतरह परद्रव्य के परिणाम जीव से अत्यन्त भिन्न हैं, उसीतरह रागादि परिणाम जीव से भिन्न नहीं है। इसकारण जीव अपने (अज्ञानमय) भावों का कर्ता व भोक्ता है - यह निश्चय है। ऐसा समझकर जीव जब अन्तःस्वभाव के सम्मुख होता है तब उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं —

(नर्दटक)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥ २११ ॥

श्लोकार्थ : [ननु परिणामः एव किल विनिश्चयतः कर्म] वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है, और **[सः परिणामिनः एव भवेत्, अपरस्य न भवति]** परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्य के आश्रित हैं, अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता); **[इह कर्म कर्तृशून्यम् न भवति]** और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता, **[च वस्तुनः एकतया स्थितिः इह न]** तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है); **[ततः तद् एव कर्तृ भवतु]** इसलिये वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है (यह निश्चय सिद्धान्त है)॥ २११॥

कलश २११ पर प्रवचन

यहाँ इस कलश में यह कहा जा रहा है कि राग-द्वेष-मोह के परिणाम निश्चय से जीव के कर्म है, क्योंकि परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी के ही होते हैं, अन्य के नहीं। शरीर का हलन-चलन, भाषा, आदि के परिणाम निश्चय से पुद्‌गल परमाणुओं का कार्य है। वे जीव के कार्य नहीं है, क्योंकि जीव के आश्रयभूत नहीं है, जीव से हुए नहीं है।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो मुर्दा क्यों नहीं बोलता ?

उत्तर : अरे भाई! यह बोलना तो भाषा वर्गणा का कार्य है। जीव के भावों का निमित्त पाकर भाषा वर्गणा स्वयं भाषारूप परिणमित होती है। उसमें शरीर के होंठ, जीभ आदि एवं जीव का तत्संबंधी विकल्प निमित्त है। भाषा शरीर व जीव का कार्य नहीं है, भाषा-बोली तो भाषा वर्गणा का ही कार्य है। मुर्दा भाषा बोले-ऐसी भाषा वर्गणा की योग्यता ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि वस्तुतः परिणाम या पर्याय ही निश्चय से कर्म है। जीव को जो विकारी परिणाम होता है, वही जीव का कर्म है। यहाँ अज्ञानी की अपेक्षा यह कथन है। पर का परिणाम जीव का कार्य नहीं है। - इसप्रकार यहाँ पर से भिन्नता दिखाकर पर के कर्तापने का निषेध किया गया है।

कहते हैं कि परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं। राग-द्वेष आदि परिणाम जो होते हैं, वे अपने आश्रयभूत परिणामी (आत्मद्रव्य) के ही परिणाम हैं, अन्य के नहीं।

प्रश्न : एक ओर ऐसा कहते हैं कि पर के आश्रय से ही जीव में विकार होता है। गाथा २७२ में आया है कि पराश्रितो व्यवहारः, स्वाश्रितो निश्चयः और यहाँ कह रहे हैं कि विकार अपने आश्रयभूत परिणामी आत्मा का ही परिणाम है? यह परस्पर विरोधी कथन हुआ या नहीं?

उत्तर : भाई! "विकार पर के आश्रय से होता है" ऐसा जो कहा, उसका अर्थ परसन्मुखता समझना। तथा "विकाररूप परिणाम-परिणामी आत्मा के आश्रय से हुआ है" ऐसा जो कहा है उसका अर्थ यह समझना कि विकार आत्मा की सत्ता में होता है, पर की सत्ता में नहीं। यही यहाँ कहा है कि

"स: परिणामिन: एव भवेत्, अपरस्य न भवति" पुण्य-पाप आदि भाव या परिणाम, परिणामी जीवद्रव्य की सत्ता में होते हैं, वह परिणाम पर से या पर की सत्ता में नहीं होते।

यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि परिणाम आत्मा में आत्मा से ही होता है। परिणाम अर्थात् वर्तमान पर्याय परिणामी द्रव्य के आश्रय से ही होती है। परिणाम का आश्रय परिणामी ही है, अन्य नहीं। किसी भी परिणाम को कोई अन्य द्रव्य नहीं करता।

अहो! यहाँ अज्ञानी की यह मिथ्या मान्यता मिटाना चाहते हैं कि - "मैं पर का कार्य कर सकता हूँ, करता हूँ।"

कहते हैं कि वस्तुत: परिणाम ही निश्चय से कर्म है तथा वह परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं। जब कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य में प्रवेश करता ही नहीं है तो फिर वह दूसरे का कार्य कैसे कर सकता है? इसलिए परिणामी का ही परिणाम है।

वैसे देखा जाय तो एक अपेक्षा यह भी है कि परिणाम परिणाम का ही है; परिणामी का नहीं। वास्तव में तो परिणाम का कर्ता स्वयं परिणाम ही है, द्रव्य अर्थात् परिणामी उसका कर्ता नहीं है। परंतु यहाँ तो परद्रव्य से भिन्न सिद्ध करना है न? इसलिए कहा है कि परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं।

अब कहते हैं कि कर्म कर्ता बिना नहीं होता तथा वस्तु की सदा एकरूप स्थिति नहीं रहती अर्थात् द्रव्य कूटस्थ नहीं है; क्योंकि वस्तु द्रव्य-पर्यायरूप होने से सर्वथा नित्य नहीं हो सकती। इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है।

देखो, इस कलश में ५ सिद्धान्त गुथे हुये हैं —

१. वस्तुत: परिणाम ही निश्चय से कर्म है।
२. परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं।
३. कर्म कर्ता बिना नहीं होता।

४. वस्तु की सदा एकरूप स्थिति नहीं रहती।

५. वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है। यह निश्चय सिद्धान्त है।

भाई! यह सिद्धान्त 'अहं करोमि' के कर्तृत्व का मूल से ही नाश कर देता है।

वस्तु सहज ही द्रव्य-पर्याय स्वरूप है, उसमें द्रव्य तो नित्य एकरूप है, परंतु पर्याय तो क्षण-क्षण में पलटती है। प्रत्येक समय एक अवस्था बदल कर दूसरी होती है। यह वस्तु का स्वभाव है। वस्तु की अवस्थायें जो अन्य-अन्य होती हैं, विलक्षण होती हैं, वे निमित्तों की विविधता या विचित्रता के कारण नहीं होती, बल्कि अवस्थाओं का उस रूप पलटना वस्तु का सहज स्वभाव है। वे वस्तु की ही कार्यभूत हैं। वही वस्तु उन-उन अवस्थाओं की कर्ता है।

भाई! यह धर्म प्रगट करने की बात है। बेचारे लौकिकजनों ने ऐसी बात कभी सुनी ही नहीं है। इसकारण अन्य रीति से धर्म होना या करना मानता है। दान, शील, तप आदि व्यवहार धर्म करके संतुष्ट हो लेता है। परंतु बापू! ये सब तो राग है। इससे धर्म नहीं होता। इस क्रिया में यदि कषाय मंद हो तो पुण्य बंध होता है और इसे भला माने, इसमें धर्म होना माने तो विपरीत मान्यता होने से मिथ्यात्व ही होता है।

प्रश्न : ऐसा है तो फिर चार प्रकार से धर्म होने की बात जो कही है, उसका क्या होगा? दान-शील-तप और ब्रह्मचर्य-ये चार प्रकार के धर्म कहते हैं न?

उत्तर : हाँ, कहे हैं, परंतु उस कथन का अभिप्राय यह है कि —

१. अपने त्रिकाली शुद्ध एक ज्ञायक भगवान की दृष्टि करने से जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय का स्वयं को ही प्रदान करना वास्तविक दान है। वह कार्य है और उसका कर्ता आत्मा स्वयं ही है।

२. अपने शील अर्थात् एक ज्ञायकस्वभाव में ही अन्तर रमणता करने से जो निर्मल रत्नत्रय प्रगट होता है, वह शील है, चारित्र है तथा वही धर्म है।

३. सच्चिदानंदमय अपने आत्मा में लीन होकर प्रतापवंत रहने का नाम इच्छा का अभावरूप तप है और यही सत्यार्थ धर्म है।

४. भगवान आत्मा स्वयं ब्रह्मस्वरूप है, उसमें एकाग्र होकर रमना-चरना। यह ब्रह्मचर्य है और इसी का नाम धर्म है।

भाई! ऐसा निश्चय धर्म का स्वरूप है। धर्मी पुरुष को व्यवहार में दान-शील-तप व ब्रह्मचर्य का राग भी होता है। उसे भी सहकारी जानकार उपचार से धर्म संज्ञा प्राप्त है; परंतु ऐसा राग निश्चय से धर्म नहीं है तथा "इसे करते - करते धर्म हो जाता है" — यह मान्यता भी सत्यार्थ नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म का कर्ता है। परद्रव्य का कर्ता आत्मा तीन काल में भी नहीं है। यह मूल बात है।

अव आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं —

(पृथ्वी)

वहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥ २१२ ॥

श्लोकार्थ : [**स्वयं स्फुटत्-अनन्त-शक्तिः**] जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है ऐसी वस्तु [**वहिः यद्यपि लुठति**] अन्य वस्तु के वाहर यद्यपि लौटती है [**तथापि अन्य-वस्तु अपरवस्तुनः अन्तरम् न विशति**] तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती, [**यतः सकलम् एव वस्तु स्वभाव-नियतम् इष्यते**] क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में निश्चित है ऐसा माना जाता है। (आचार्यदेव कहते हैं कि—) [**इह**] ऐसा होने पर भी [**मोहितः**] मोहित जीव, [**स्वभाव-चलन-आकुलः**] अपने स्वभाव से चलित होकर आकुल होता हुआ, [**किम् क्लिश्यते**] क्यों क्लेश पाता है?

भावार्थ : वस्तुस्वभाव तो नियम से ऐसा है कि किसी वस्तु में कोई वस्तु नहीं मिलती। ऐसा होने पर भी, यह मोही प्राणी, 'परज्ञेयों के साथ अपने को पारमार्थिक सम्वन्ध है' ऐसा मानकर, क्लेश पाता है, यह महा अज्ञान है॥ २१२ ॥

कलश २१२ एवं भावार्थ पर प्रवचन

यह कलश आगामी गाथाओं की विषयवस्तु का सूचक है।

आचार्य कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु (आत्मा और परमाणु) अपनी-अपनी अनन्त शक्तियों से प्रकाशमान हैं। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु से बाहर-बाहर ही लोटती है, एक-दूसरे में प्रविष्ट नहीं होती। द्रव्य में या वस्तु में यद्यपि अनंत शक्तियाँ हैं, तथापि उनमें एक भी शक्ति ऐसी नहीं है जो परवस्तु में प्रवेश करके उसका कुछ करे या उसमें कुछ परिवर्तन कर सके।

देखो, चाकू-छुरी से शाक-भाजी काटते हैं न ? इस बारे में कहते हैं कि वस्तुत: शाक के टुकड़े चाकू से हुए ही नहीं हैं। यह बात अटपटी लगती है, क्योंकि आँख से प्रत्यक्ष चाकू से ही शाक कटता हुआ दिखता है। पर वास्तविकता कुछ और ही है। वास्तविकता यह है कि चाकू छुरी के रजकणों की अपनी स्वयं में अनन्त शक्ति है, परन्तु वह शक्ति शाकरूप परद्रव्य में कुछ करे, उसे काटे - ऐसा नहीं है। चाकू-छुरी तो शाक के बाहर ही लौटती है। जो छुरी शाक में प्रविष्ट नहीं होती, वह उसमें प्रविष्ट हुए बिना उसे कैसे काट सकती है ?

वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है। उसकी पर्याय स्वत: अपनी योग्यतानुसार बदलकर प्रतिक्षण अन्य-अन्य होती है। वहाँ संयोगी अन्य वस्तु (निमित्त) उस अवस्था को विलक्षणपने नहीं बदल सकती, क्योंकि निमित्त रूप अन्य वस्तु तो उसके बाहर-बाहर ही लोटती है, वस्तु में प्रवेश करती ही नहीं है। तथा अन्य-अन्य अवस्थारूप पलटना तो वस्तु का सहज ही स्वभाव है, उसे पलटने के लिए अन्य द्रव्य की अपेक्षा ही नहीं है।

अहा! जैन परमेश्वर के द्वारा कहा गया तत्त्व, वस्तुस्वरूप बहुत सूक्ष्म एवं गंभीर है। पूर्वाग्रह से ग्रस्त जीवों की समझ में आना कठिन पड़ता है। पर करें क्या?

मूल बात यह है कि जीवों को जो विकार-राग-द्वेष होता है, वह कर्म नहीं कराता। मोहनीय कर्म के उदय के कारण विकार नहीं होता। कितने ही करणानुयोग के अध्येता कणानुयोग के उस कथन के अभिप्राय को न समझ

कर एकान्त से ऐसा मानते हैं कि मोह कर्म के उदय से विकार होता है, परन्तु जड़कर्म कर्ता व जीव का विकार उसका कर्म – ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है। क्योंकि उदय में आया हुआ जड़ कर्म तो जीव के वाहर ही लोटता है, वह जीव में प्रवेश कर ही नहीं सकता। जव वह जीव को छूता भी नहीं है, तो फिर वह जीव की पर्याय को विकारी कैसे करे ? अहा! विकार व जडकर्म के वीच तो अत्यंताभाव है। ऐसी स्थिति में जड़- कर्म का उदय जीव के विकार को किसप्रकार कर सकता है ?

प्रश्न : शास्त्रों में तो ऐसा भी आता है कि दो कारणों से कार्य होता है, उसका क्या अभिप्राय है ?

उत्तर : हाँ, आता है, वहाँ एक उपादानकारण व दूसरा निमित्तकारण कहा है। उपादान वस्तु की निज शक्तिरूप है और वह वास्तविक कारण है। उसी के साथ सहचर रूप में दूसरा निमित्तकारण है, वह परवस्तु है। अन्य चीज है। वह दूसरा कारण यथार्थ कारण नहीं है, परन्तु आरोपित कारण है। भाई ! वह निमित्तकारण, जो उपादानकारण के वाहर ही रहता है, वह उपादान में क्या कर सकता है ? मात्र उपस्थित रहता है, इसकारण उसे उपचार से कारण कहा जाता है। वस्तुत: निमित्त से उपादान में कुछ भी नहीं होता। इसलिए वस्तुत: कर्म के उदय से आत्मा में विकार का होना मानना सत्यार्थ नहीं है।

देखो, समयसार की तीसरी गाथा की आत्मख्याति टीका में आता है कि 'कैसा है पदार्थ?' ऐसा प्रश्न उठाकर उत्तर दिया है कि प्रत्येक पदार्थ अपने में अन्तर्मग्न रहकर अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का चुम्वन करते हैं, तथापि वे परस्पर एक-दूसरे का चुम्वन नहीं करते अर्थात् एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करते।

भाई! द्रव्य में समय-समय पर प्रत्येक क्षण में जो-जो पर्यायें होती हैं, वह उनका अपना स्वतंत्र जन्मक्षण है। साथ ही निमित्त होता है, अत: ऐसा भ्रम नहीं करना कि "कार्य निमित्त से होता है", क्योंकि निमित्त तो उपादान के वाहर ही लोटता है। वह तो उस उपादान को छूता भी नहीं है, जिसमें कार्य होता है।

प्रश्न : पानी आग से उष्ण होता है — यह तो सभी को प्रत्यक्ष दिखाई देता है। आपके कहे अनुसार यदि अग्नि से पानी उष्ण नहीं होता तो बिना अग्नि के पानी उष्ण हो जाना चाहिए न ?

उत्तर : भाई! संयोग की दृष्टि से देखने पर ऐसा भ्रम होता है, वस्तुतः देखा जाय तो पानी ने तो आग को या आग ने पानी को तो छुआ ही नहीं है। अरे भाई! अग्नि अग्नि में व पानी पानी में — दोनों भिन्न-भिन्न अपने-अपने में अवस्थित रहते हैं। जब ऐसी स्थिति है तो अग्नि पानी को उष्ण कैसे करे ? बात बहुत सूक्ष्म है। अज्ञानी की स्थूल दृष्टि में, निमित्ताधीन दृष्टि में बैठना बहुत कठिन है।

वस्तुस्वरूप तो ऐसा है कि अन्य वस्तु अन्य वस्तु में प्रवेश नहीं करती, अग्नि पानी में प्रवेश नहीं करती। वस्तुतः बात यह है कि पानी की शीतल अवस्था हो या उष्ण, दोनों ही अवस्थाओं में पानी के परमाणु ही उस-उस रूप से परिणमते हैं। बाह्य वस्तु तो उसमें निमित्त मात्र ही है, अनुकूल मात्र ही है। अग्नि के कारण पानी उष्ण होता ही नहीं है। पानी की शीतल या उष्ण अवस्था तो पानी के परमाणुओं की तत्समय की स्वतंत्र योग्यता से होती है। उस पर्याय का उस रूप होना उसका स्वतंत्र जन्मक्षण है।

भाई! तत्त्व जैसा है, वैसा न माने तो दृष्टि विपरीत होती है। उपादान-निमित्त के सम्बन्ध में बनारसीदास कहते हैं —

"उपादान बल जहँ-तहँ, नहिं निमित्त कौ दाव।
एक चक्र सौं रथ चलै, रवि कौ यही स्वभाव ॥"

बापू! जड़ व चेतन की जो-जो अवस्थायें होती है, वे निज-निज उपादान की योग्यता के बल से ही होती हैं। उसमें निमित्त का कोई दाव नहीं, निमित्त का उसमें कोई प्रभाव नहीं। ऐसी ही वस्तुस्थिति है।

शास्त्रों में आता है कि एक परमाणु में दो गुण (अंश) चिकनाई हो और वह दूसरे चार गुणवाले या चार अंश चिकनाईवाले परमाणुओं के साथ जुड़े तो वह दो अंश चिकनाईवाला परमाणु चार अंश चिकनाईरूप परिणम जाता है। उनका ऐसा ही सहज निमित्त-नैमित्तिक संबंध बनता है। इससे ऐसा नहीं मान लेना कि चार अंश चिकनाईवाले परमाणु ने दो अंश चिकनाईवाले को

अपने रूप परिणमा लिया है, क्योंकि वे एक-दूसरे में प्रविष्ट नहीं हुये, बाहर ही लोटते हैं, क्योंकि सब वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं। यह वस्तु की स्थिति है। इसे नहीं जानकर अज्ञानी जीव भ्रमपूर्वक निमित्त से कार्य का होना व निमित्त के अभाव में कार्य का न होना मान लेते हैं। इसप्रकार वे एक अवस्था के काल में ही दूसरी अवस्था की कल्पना करके अपने विपरीत मिथ्या अभिप्राय को दृढ़ किया करते हैं।

इन्हें लक्ष्य में लेकर आचार्य खेद प्रकट करके कहते हैं कि मोहित जीव अपने स्वभाव से भ्रष्ट होकर व्याकुल होता हुआ क्यों वृथा क्लेश पाता है? निमित्ताधीन व कर्माधीन होता हुआ चतुर्गति रूप संसार में क्यों परिभ्रमण करता है?

इस कलश का भावार्थ यह है कि कोई एक वस्तु में अन्य वस्तु मिलती नहीं है — ऐसा वस्तु का स्वभाव है। देखो, जगत में अनंत द्रव्य हैं, वे परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। कोई किसी में प्रविष्ट नहीं होता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के बाहर ही लोटता है। इससे स्पष्ट है कि कोई एक द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य नहीं करता। यह महा सिद्धान्त है।

अज्ञानी को बाहर में निमित्त देखकर ऐसा भ्रम हो जाता है कि गुरु की वाणी सुनने से ज्ञान होता है, परन्तु बापू! ऐसा नहीं है। समाधिशतक के श्लोक नं. ७५ में आया है कि परमार्थ से आत्मा ही आत्मा का गुरु है, अन्य कोई नहीं। स्वयं ही स्वयं को समझाता है और स्वयं ही स्वयं को हित के मार्ग में लगाता है; इसलिये स्वयं ही स्वयं का गुरु है।

वस्तुतः गुरु की वाणी की पर्याय तो शिष्य के ज्ञान को छूती ही नहीं है। इसलिये ऐसा कहना कि 'वाणी सुनने से ज्ञान हुआ' यथार्थ नहीं है। भाई! ऐसा स्वतंत्र यथार्थ वस्तुस्वरूप माने बिना दृष्टि पर से हटकर द्रव्यस्वभाव पर कैसे जाये और दृष्टि द्रव्यस्वभाव पर जाये बिना सम्यग्दर्शन कैसे हो ? ध्रुव को ध्येय बनाकर धगस से उत्साहपूर्वक ध्यान की धुन लगाये बिना कभी भी धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

अहा! 'मेरी पर्याय पर से होती हैं और पर की पर्याय मैं कर सकता हूँ' ऐसा माननेवाला तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कहते हैं कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु में मिलती नहीं है — यह अचलित नियम है। तो भी मोही जीव परज्ञेयों के साथ मेरा पारमार्थिक सम्वन्ध है — ऐसा मानकर क्लेश पाता है, सो यह उसका बड़ा भारी अज्ञान है।

देखो, "देव-गुरु-शास्त्र के साथ या स्त्री-पुत्र-परिवार के साथ मेरे पारमार्थिक संबंध है" ऐसा माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव है। भाई! देव-गुरु-शास्त्र आदि तो सव परज्ञेय हैं, ज्ञान से भिन्न हैं। जब जीव की ज्ञानरूप अवस्था होती है, उससमय जिनविम्व या जिनवाणी बाह्य निमित्त होते हैं, परन्तु वे जिनविम्व या जिनवाणी ज्ञान की पर्याय में प्रवेश करके ज्ञान को नहीं करते। जिनविम्व व जिनवाणी तो ज्ञान का स्पर्श भी नहीं करते। वे ज्ञान के वाहर ही रहते हैं। इसलिए देव-गुरु-शास्त्र से ज्ञान नहीं होता। वास्तव में परज्ञेय के साथ आत्मा का पारमार्थिक संवंध नहीं है। एकसमय का निमित्त-नैमित्तिक संवंध है। वह भी मात्र जानने के लिये ही प्रयोजनवान है। "एक समय की अवस्था असहायपने निमित्त के विना ही स्वतंत्र रूप से होती है।" ऐसा जिसे स्वीकार नहीं है, वह त्रिकाली द्रव्य-गुण को किसप्रकार स्वीकार करेगा ? तथा त्रिकाली ध्रुव द्रव्य के स्वीकार विना उसे अन्तर्दृष्टि कैसे होगी ?

प्रश्न : निमित्त भी तो कोई वस्तु है न ? वह कोरी कल्पना तो नहीं है, अत: उससे सर्वथा इन्कार करना या उसका निषेध करना भी अज्ञान है और निमित्त से उपादान में कार्य होना मानना भी भ्रान्ति है। निमित्त की स्वीकृति में नियमसार में तो ऐसा आया है कि कालद्रव्य के बिना द्रव्यों में परिणमन ही नहीं होता। इस कथन का क्या अभिप्राय है?

उत्तर : भाई ! वहाँ नियमसार में तो कालद्रव्यरूप निमित्त के अस्तित्व की सिद्धि की गई है। द्रव्यों का परिणमन कालद्रव्य के अधीन है — वहाँ यह नहीं कहना है। द्रव्यों में तो प्रति समय पर्यायरूप परिणति होने का सहज स्वभाव ही है। हाँ, कालद्रव्य उन द्रव्यों के परिणमन में निमित्त है। अत: निमित्त को हेतु वनाकर वहाँ कालद्रव्य की सिद्धि की है। बस, इतनी-सी वात है। वाकी

परज्ञेय के साथ यदि कोई अपना पारमार्थिक संबंध माने तो वह भ्रम में है, मोही है। मोह के कारण वह जगत में व्यर्थ ही क्लेश पाता है।

पुनः आगे की गाथाओं का सूचक दूसरा काव्य कहते हैं —

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तु नो
येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः,
किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥ २१३ ॥

श्लोकार्थ : [**इह च**] इस लोक में [**येन एकम् वस्तु अन्यवस्तुनः न**] एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है, [**तेन खलु वस्तु तत् वस्तु**] इसलिये वास्तव में वस्तु वस्तु ही है — [**अयम् निश्चयः**] यह निश्चय है। [**कः अपरः**] ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु [**अपरस्य बहिः लुठन् अपि हि**] अन्य वस्तु के बाहर लौटती हुई भी [**किं करोति**] उसका क्या कर सकती है?

भावार्थ : वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तु को नहीं बदल सकती। यदि ऐसा न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही न रहे। इसप्रकार जहाँ एक वस्तु अन्य को परिणमित नहीं कर सकती वहाँ एक वस्तु ने अन्य का क्या किया ? कुछ नहीं। चेतन-वस्तु के साथ पुद्गल एक-क्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं तथापि वे चेतन को जड़ बनाकर अपने रूप में परिणमित नहीं कर सके; तब फिर पुद्गल ने चेतन का क्या किया? कुछ भी नहीं।

कलश २१३ एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

यह भी आगामी गाथाओं की विषयवस्तु सूचक काव्य है। यहाँ कहते हैं कि एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है। जगत में अनन्त वस्तुएँ अर्थात् अनंत द्रव्य हैं। परन्तु —

एक आत्मा दूसरे आत्मा का नहीं है।

एक आत्मा अन्य जड़ परमाणुओं का नहीं है।

एक परमाणु अन्य परमाणु का नहीं है।

एक परमाणु अन्य आत्मा का नहीं है।

तात्पर्य यह है कि —

एक आत्मा दूसरे आत्मा का कुछ करता नहीं है।

आत्मा जड़ परमाणुओं का कुछ करता नहीं है।

एवं जड़ परमाणु अन्य जड़ परमाणुओं का कुछ करता नहीं है।

जड़ परमाणु आत्मा का कुछ करते नहीं है।

प्रवचनसार गाथा १०२ में आया है कि प्रत्येक द्रव्य की प्रतिसमय जो पर्यायें नवीन-नवीन होती हैं, उनके अपने-अपने जन्मक्षण हैं।

प्रश्न : यह जन्मक्षण क्या है?

उत्तर : जिस द्रव्य में जिस काल में जो पर्याय उत्पन्न होने योग्य होती है, उसी काल में वही पर्याय उसी द्रव्य में प्रगट होती है। उसमें अन्य कोई द्रव्य कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता। यही जन्मक्षण का तात्पर्य है।

आत्मा का धर्म की दशा प्राप्त करने का जो काल निश्चित है, उसी काल में आत्मा को धर्म की प्राप्ति होती है। वह धर्मप्राप्ति का काल ही उस पर्याय का जन्मक्षण है। कार्य होने का अपना जो स्वकाल है, तभी वह सहज ही प्रगट होता है। पर के या निमित्त के कारण कार्य आगे-पीछे नहीं होता। अपने स्वकाल में ही अपनी तत्समय की योग्यता से वह होता है।

वैसे देखा जाय तो बात तो सीधी-सादी है, परन्तु आज तक कभी ऐसी वस्तुस्वतंत्रता की बात सुनी नहीं, इस कारण कठिन लगती है।

देखो, वस्तु तो वस्तु ही है। एक वस्तु दूसरी वस्तु से अत्यंत भिन्न है। ऐसा होने पर एक वस्तु दूसरी वस्तु के बाहर-बाहर ही लोटती रहने से, एक-दूसरे में प्रवेश न पाने से वह अन्य का क्या कर सकती है?

देव-गुरु-शास्त्र के शब्द सुनकर किसी को ऐसा आत्मज्ञान हुआ कि 'मैं शुद्ध एक ज्ञानानंदस्वरूप हूँ' तो वहाँ जो ज्ञान की दशा हुई वह स्वयं की स्वयं से हुई है। वह उस पर्याय या ज्ञान की दशा का उत्पत्तिक्षण है, जन्मक्षण है। वह आत्मज्ञान की दशा (पर्याय) देव-शास्त्र-गुरु के शब्दों के सुनने के कारण नहीं हुई है। देव-गुरु-शास्त्र के शब्द तो बाहर ही लोटते हैं न? अर्थात् वे तो बाह्य निमित्त मात्र हैं।

भाई! 'पर' का ज्ञान होने के काल में भी उस 'परज्ञेय' के कारण वह ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो अपने कारण स्वयं से ही होता है, वही उसका जन्मक्षण है।

इस कलश का भावार्थ यह है कि —

एक आत्मा दूसरे आत्मा में कोई भी परिवर्तन नहीं कर सकता।

एक परमाणु दूसरे परमाणु को पलट नहीं सकता।

एक परमाणु दूसरे आत्मा को पलट नहीं सकता।

एक आत्मा किसी परमाणु को पलट नहीं सकता।

एक वस्तु यदि दूसरी वस्तु को पलट दे तो वस्तु का वस्तुपना ही नहीं रह सकेगा। इसलिए यह सिद्धांत अटल है कि एक वस्तु अन्य वस्तु को पलट ही नहीं सकती। अग्नि से पानी उष्ण नहीं होता। बाई रोटी नहीं बनाती। कर्मों से विकार नहीं होता! गुरु से शिष्य को ज्ञान नहीं होता। कुम्हार घड़ा नहीं बनाता।

इसप्रकार जहाँ एक वस्तु अन्य वस्तु को परिणमा नहीं सकती, वहाँ एक अन्य का क्या कर सकती है? क्योंकि निमित्त उपादान को पलट ही नहीं सकता।

क्या आत्मा आँख से जानता-देखता है? आत्मा की जाननेरूप ज्ञानपर्याय क्या आँख के कारण होती है? नहीं, भाई! - ऐसा नहीं है। आँख तो बाह्य निमित्त मात्र परवस्तु है। आँख से देखते हैं, कान से सुनते हैं - ऐसा मानना मिथ्या है, क्योंकि जड़ आँख-कान आदि ज्ञान-दर्शनरूप चेतन की दशा को कैसे कर सकते हैं? जड़ वस्तु चेतन को कैसे पलट सकती है।

कर्म, नोकर्म आदि पुद्गल चेतन वस्तु-भगवान आत्मा के साथ अनादि से एकक्षेत्रावगाह से रहता आ रहा है, तो भी उन पुद्गलरूप कर्म-नोकर्मों ने चेतन को अपने रूप नहीं किया। अनंतकाल में भी चेतन तो चेतन ही रहा। क्या कर पाया पुद्गल ने चेतन का ? कुछ भी तो नहीं किया। इसीलिये तो कहते हैं कि —

यह आत्मा स्वयं स्वरूप से ज्ञायक है तथा शरीर-मन-वाणी-इन्द्रिय-कर्म-नोकर्म आदि जड़ पदार्थ व अन्य आत्मायें ज्ञेय हैं। यद्यपि उन सर्व परद्रव्यों में और आत्मा में व्यवहार से ज्ञेय-ज्ञायक संबंध है, तथापि उन परद्रव्यों के कारण

आत्मा ज्ञायक नहीं है। परद्रव्य ज्ञायक का कुछ करते नहीं है, ज्ञायक को जिन-जिन परद्रव्यों का ज्ञान होता है, वह ज्ञान उन-उन परद्रव्यों के कारण नहीं होता। परज्ञेय आत्मा की ज्ञान पर्याय में कुछ करते नहीं है। ज्ञान जो ज्ञेयों को जानता है, वह जाननेरूप ज्ञान की ही स्वयं की सामर्थ्य है, उसमें ज्ञेयों का योगदान कुछ भी नहीं है। 'ज्ञेय है, इस कारण उनका ज्ञान हुआ' — यह मानना मिथ्या है। बात बहुत सूक्ष्म है, पर जानने जैसी है। 'पर' को जानने के लिये ज्ञान को 'पर' अस्तित्व की कतई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि ज्ञान ज्ञेयों को जानने के लिये उनका मुखापेक्षी नहीं है। वह पूर्ण स्वाधीन है, स्वतंत्र है।

बापू! ज्ञानज्ञायक आत्मा का परिणाम है और उस ज्ञान परिणाम का कर्ता ज्ञायक स्वयं है, परज्ञेय नहीं। परद्रव्यों में जो-जो भी कार्य होते हैं, उन कार्यों के कर्ता तत्संबंधी परद्रव्य ही हैं, आत्मा उनका कर्ता नहीं है।

इसप्रकार जीव के परिणाम का कर्ता जीव है; परद्रव्य नहीं।

सर्वज्ञ भगवान को जो केवलज्ञान प्रगट होता है, उसका कर्ता भगवान केवली ही है। भगवान केवली सर्वजीव, सर्वलोक और सर्वभावों को एक समय में जानते हैं। वह जाननेवाला ज्ञान ज्ञेयों के कारण नहीं होता। ज्ञान ज्ञेयों को यथास्थिति जानता है; जैसे ज्ञेय हैं, ठीक वैसा ही जानता है; फिर भी वह ज्ञान उन ज्ञेयों के कारण नहीं होता, बल्कि वह ज्ञान स्वयं अपनी तत्समय की सामर्थ्य (योग्यता) से ही हुआ है। है न ज्ञान की गजब की स्वतंत्रता ?

भगवान जिनेन्द्र देव फरमाते हैं कि ज्ञान पर्याय का कर्ता जीव है। ज्ञेयों से ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार पदार्थों में (स्व-पर पदार्थों में) भिन्नता है। ऐसा वस्तुस्वरूप होते हुये भी ज्ञेयों से ज्ञान का होना मानना- दो द्रव्यों में एकपना मानना - भारी भ्रांति हैं।

परज्ञेय ज्ञायक का कुछ करते नहीं है तथा ज्ञायक भी परज्ञेयों का कुछ करता नहीं है - ऐसा यथार्थ जानना। ऐसा यथार्थ जाननेवालों का मोह सहज ही क्षय हो जाता है और उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

अब, इसी अर्थको दृढ़ करनेवाला तीसरा काव्य कहते हैं —

(रथोद्धता)

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः, किंचनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं, नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २१४॥

श्लोकार्थ : [**वस्तु**] एक वस्तु [**स्वयम् परिणामिनः अन्य-वस्तुनः**] स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तु का [**किञ्चन अपि कुरुते**] कुछ भी कर सकती है— [**यत् तु**] ऐसा जो माना जाता है, [**तत् व्यावहारिक-दृशा एव मतम्**] वह व्यवहारदृष्टि से ही माना जाता है। [**निश्चयात्**] निश्चयसे [**इह अन्यत् किम् अपि न अस्ति**] इस लोक में अन्य वस्तु की अन्य वस्तु कुछ भी नहीं है (अर्थात् एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं) है।

भावार्थ : एक द्रव्य के परिणमन में अन्य द्रव्य को निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्य ने यह किया', यह व्यवहारनय की दृष्टि से ही है; निश्चय से तो उस द्रव्य में अन्य द्रव्य ने कुछ भी नहीं किया है। वस्तु के पर्यायस्वभाव के कारण वस्तु का अपना ही एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।

इससे यह समझना चाहिये कि — परद्रव्यरूप ज्ञेयपदार्थ उनके भाव से परिणमित होते हैं और ज्ञायक आत्मा अपने भावरूप परिणमन करता है; वे एक-दूसरे का परस्पर कुछ नहीं कर सकते। इसलिये यह व्यवहार से ही माना जाता है कि 'ज्ञायक परद्रव्यों को जानता है' निश्चय से ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है॥ २१४॥

कलश २१४ एवं भावार्थ पर प्रवचन

यद्यपि प्रत्येक वस्तु स्वयं अपने से ही निरन्तर परिणम रही है। दूसरी वस्तु का उसके परिणमन में कुछ भी योगदान नहीं है; तथापि यहाँ यह कह रहे हैं कि एक वस्तु दूसरी वस्तु का भी कुछ करती है। सो यह कथन व्यवहार का है। उपचार से ऐसा कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा शरीर-मन-वाणी का, दुकान-धंधा का कुछ भी नहीं कर सकता, तो भी आत्मा पर का कुछ करता

है – ऐसा लोक व्यवहार में कहा जाता है, उसे असत्यार्थ दृष्टि से उपचार मात्र समझना। निश्चय से अर्थात् सत्यार्थपने एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कुछ भी संबंध नहीं है।

भाई! यह शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ, पैसा, धन, मकान, आबरू आदि परद्रव्य के साथ आत्मा का कुछ भी संबंध नहीं है। जब वस्तु स्थिति ऐसी है तो आत्मा का परद्रव्य के साथ कर्ता-कर्मपना कैसे संभव है?

भावार्थ यह है कि आत्मा त्रिकाली वस्तु है उसका ज्ञानगुण भी त्रिकाली है, उस ज्ञान की पर्याय प्रति समय स्वयं से होती है। 'भगवान की वाणी से ज्ञान हुआ' – ऐसा कहना व्यवहारनय की दृष्टि है। निश्चय से तो भगवान की वाणी ने आत्मा का कुछ भी नहीं किया। 'भगवान की वाणी' – ऐसा कहना भी व्यवहारनय है। वास्तव में वाणी भगवान के द्वारा नहीं की जाती। वाणी की कर्ता स्वयं वाणी है। भगवान तो निमित्त मात्र है। उसीप्रकार ज्ञान होने में वाणी (शब्द) निमित्त है। वाणी में निमित्त ने कुछ किया नहीं है, क्योंकि परिणमन द्रव्य का स्वभाव है। द्रव्य स्वयं ही परिणमता हुआ वर्तमान अवस्था रूप होता है। उसमें निमित्तादि परवस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती। ज्ञान का परिणमन होता है, उसमें वाणी आदि निमित्त कुछ भी नहीं कर सकते।

देखो, शीतलता की भाँति वह उष्णता भी पानी की ही अवस्था है, अग्नि तो उसमें निमित्त मात्र है। शीतल अवस्था पलटकर वर्तमान में उष्ण हुई है, वह स्वयं पानी का ही परिणमन है। अग्नि ने उसमें अपना कुछ मिलाया नहीं है। अग्नि से पानी उष्ण हुआ — ऐसा कहना व्यवहारदृष्टि का कथन है। निश्चय से अग्नि ने पानी का कुछ भी नहीं किया है।

इसीतरह आत्मा में ज्ञान का परिणमन होता है, वहाँ परज्ञेय निमित्त मात्र है परंतु निमित्त उसमें कुछ करते नहीं है। बनारसीदास ने कहा भी है —

"उपादान बल जहाँ तहाँ, नहि निमित्त कौ दाव"

'जहाँ देखो वहीं —' सर्वत्र द्रव्य में अपनी पर्याय उपादान के बल से होती है। उसमें निमित्त का कुछ दाव नहीं है, निमित्त कुछ करता नहीं है।

बापू! जबतक ऐसी स्वतंत्रता की श्रद्धा न हो, तबतक द्रव्य-गुण की स्वतंत्रता की श्रद्धा कैसे हो? तथा द्रव्य-गुण की स्वतंत्रता ज्ञान में भासे बिना दृष्टि द्रव्य पर कैसे जाय?

पर्याय के कर्ता-कर्म-करण आदि छहों कारक स्वतंत्र है। द्रव्य में पर्याय स्वयं से स्वतंत्र होती है। प्रत्येक द्रव्य जहाँ अपने क्रमबद्ध परिणाम से स्वयं उत्पन्न होता है, वहाँ अन्य द्रव्य उसका क्या कर सकता है? दूसरी वस्तु उस काल में भले निमित्त हो, परन्तु वह उसमें अपना कुछ मिला नहीं सकती।

द्रव्य में अपने परिणमनस्वभाव के कारण एक अवस्था से अवस्थान्तररूप परिणमन होता है; परन्तु उसमें निमित्तरूप अन्य वस्तु अपना कुछ मिला नहीं सकती। यह तो वस्तु का मूलस्वरूप है।

अपने-अपने स्वभाव से परिणमित होते हुये पदार्थों को अन्य कोई भी पदार्थ परिणमा नहीं सकता। ज्ञायक परद्रव्यों को जानता है — ऐसा जो कहा जाता है, वह भी मात्र उपचार से कहा जाता है। निश्चय से तो ज्ञायक भी स्वयं, ज्ञान भी स्वयं और ज्ञेय भी स्वयं ही है। भाई! पर को जानने के काल में भी वह अपनी ज्ञान की पर्याय को ही जानता है। ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य द्वारा ही स्व और पर जाने जाते हैं। परज्ञेयों के कारण ज्ञान कभी होता ही नहीं है। निश्चय से ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है अर्थात् ज्ञायक अपने से ही अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को ही जानता हुआ ज्ञायक है •

समयसार गाथा ३५६-३६५

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु ॥ ३५६ ॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु ॥ ३५७ ॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु ॥ ३५८ ॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥ ३५९ ॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥ ३६० ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सएण भावेण ॥ ३६१ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सएण भावेण ॥ ३६२ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विजहदि णादा वि सएण भावेण ॥ ३६३ ॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मदिट्ठी सहावेण ॥ ३६४ ॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो ॥ ३६५ ॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥ ३५६ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥ ३५७ ॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥ ३५८ ॥

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु॥ ३५९ ॥
एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन॥ ३६० ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन॥ ३६१ ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं पश्यति जीवोऽपि स्वकेन भावेन॥ ३६२ ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन॥ ३६३ ॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन ॥ ३६४ ॥
एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः॥ ३६५ ॥

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति, यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न

भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः, ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः। किंच सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन्, पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति

चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोऽन्याश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः।

अपि च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्व-द्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं

स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः।

अथ व्यवहारव्याख्यानम्-यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते। किंच—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्त केनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्त-केनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते। अपि च — यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुण-

निर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवह्रियते। एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः।

('खड़िया मिट्टी अर्थात् पोतने का चूना या कलई तो खड़िया मिट्टी ही है'—यह निश्चय है; 'खड़िया—स्वभावरूप से परिणमित खड़िया दीवाल-स्वभावरूप परिणमित दीवाल को सफेद करती है' यह कहना भी व्यवहार कथन है। इसीप्रकार 'ज्ञायक तो ज्ञायक ही है'—यह निश्चय है; 'ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित ज्ञायक परद्रव्यस्वभावरूप परिणत परद्रव्यों को जानता है' यह कहना भी व्यवहार कथन है।) ऐसे निश्चय-व्यवहार कथन को अब गाथाओं द्वारा दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट करते हैं :—

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा॥ ३५६॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का, दर्शक अहो दर्शक तथा॥ ३५७॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
संयत नहीं त्यों अन्य का, संयत अहो संयत तथा॥ ३५८॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का, दर्शन अहो दर्शन तथा॥ ३५९॥
यों ज्ञान-दर्शन-चरितविषयक कथन नय परमार्थ का।
सुन लो वचन संक्षेप से, इस विषय में व्यवहार का॥ ३६०॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से ।
ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्य को निज भाव से॥ ३६१॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से ।
आत्मा भी त्यों ही देखता, परद्रव्य को निज भाव से॥ ३६२॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही त्यागता, परद्रव्य को निज भाव से॥ ३६३॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्य को निज भाव से॥ ३६४॥
यों ज्ञान-दर्शन-चरित में निर्णय कहा व्यवहार का।
अरु अन्य पर्यय विषय में भी इस प्रकार हि जानना॥ ३६५॥

गाथार्थ : (यद्यपि व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक, त्याज्य-त्याजक इत्यादि सम्बन्ध है, तथापि निश्चय से तो इसप्रकार है,—) [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] खड़िया मिट्टी या पोतने का चूना या कलई [**परस्य न**] पर की (दीवाल आदि की) नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञायकः तु**] ज्ञायक (जाननेवाला, आत्मा) [**परस्य न**] पर का (परद्रव्य का) नहीं है, [**ज्ञायकः**] ज्ञायक [**सः तु ज्ञायकः**] वह तो ज्ञायक ही है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] पर की नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसीप्रकार [**दर्शकः तु**] दर्शक (देखनेवाला, आत्मा) [**परस्य न**] पर का नहीं है, [**दर्शकः**] दर्शक [**सः तु दर्शकः**] वह तो दर्शक ही है [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] पर की (दीवाल आदि की) नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] वह तो कलई ही है, [**तथा**] उसीप्रकार [**संयतः तु**] संयत (त्याग करनेवाला, आत्मा) [**परस्य न**] पर का (-परद्रव्य का) नहीं है, [**संयतः**] संयत [**सः तु संयतः**] यह तो संयत ही है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका तु**] कलई [**परस्य न**] पर की नहीं है, [**सेटिका**] कलई [**सा च सेटिका भवति**] यह तो कलई ही है, [**तथा**] उसीप्रकार [**दर्शनं तु**] दर्शन अर्थात् श्रद्धान [**परस्य न**] पर का नहीं है, [**दर्शनं तत् तु दर्शनं**] दर्शन वह तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान वह तो श्रद्धान ही है।

[**एवं तु**] इसप्रकार [**ज्ञानदर्शनचरित्रे**] ज्ञान-दर्शन-चारित्र में [**निश्चयनयस्य भाषितं**] निश्चयनय का कथन है। [**तस्य च**] और उस सम्बन्ध में [**समासेन**] संक्षेप से [**व्यवहारनयस्य वक्तव्यं**] व्यवहारनय का कथन [**शृणु**] सुनो।

[**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] (दीवाल आदि) परद्रव्य को [**सेटयति**] सफेद करती है, [**यथा**] उसीप्रकार [**ज्ञाता अपि**] ज्ञाता भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**जानाति**] जानता है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसीप्रकार [**जीवः अपि**] जीव भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**पश्यति**] देखता है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसीप्रकार [**ज्ञाता अपि**] ज्ञाता भी [**स्वकेन भावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**विजहाति**] त्यागता है। [**यथा**] जैसे [**सेटिका**] कलई [**आत्मनः स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**सेटयति**] सफेद करती है, [**तथा**] उसी- प्रकार [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**स्वभावेन**] अपने स्वभाव से [**परद्रव्यं**] परद्रव्य को [**श्रद्धत्ते**] श्रद्धान करता है। [**एवं तु**] इसप्रकार [**ज्ञानदर्शनचरित्रे**] ज्ञान-दर्शन-चारित्र में [**व्यवहारनयस्य विनिश्चयः**] व्यवहारनय का निर्णय [**भणितः**] कहा है; [**अन्येषु पर्यायेषु अपि**] अन्य पर्यायों में भी [**एवं एव ज्ञातव्यः**] इसीप्रकार जानना चाहिए।

टीका : इस जगत में कलई है वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है (अर्थात् कलई के द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है)। अब 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं?'—इसप्रकार उन दोनों के तात्त्विक (पारमार्थिक) सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है :—यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो वह प्रथम विचार करते हैं:—'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है (पृथक् द्रव्य नहीं);'—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (अर्थात् विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार आदि की हो तो कलई वह दीवार आदि की होगी (अर्थात् कलई दीवार आदि स्वरूप ही होना चाहिए, दीवार आदि से पृथक् द्रव्य नहीं होना चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद (नाश) हो जायेगा। परन्तु

द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया है। इससे (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदि की नहीं है। (अब आगे और विचार करते हैं:—) यदि कलई दीवार आदि की नहीं है, तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है—यह निश्चय है (इसप्रकार दृष्टान्त कहा)। जैसे यह दृष्टांत है, उसी प्रकार यहाँ यह दार्ष्टान्त है:—इस जगत में चेतयिता है (चेतनेवाला अर्थात् आत्मा है) वह ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्‌गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का (आत्मा का) ज्ञेय (-ज्ञात होने योग्य) है। अब, 'ज्ञायक (-जाननेवाला) चेतयिता, ज्ञेय जो पुद्‌गलादि परद्रव्य उनका है या नहीं?'—इसप्रकार यहाँ उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं:— यदि चेतयिता पुद्‌गलादि का हो तो क्या हो ? इसका प्रथम विचार करते हैं:— 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है;'—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (-विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्‌गलादि का हो तो चेतयिता वह पुद्‌गलादि ही होवे (अर्थात् चेतयिता पुद्‌गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्‌गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए); ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्य रूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्‌गलादि का नहीं है। (अब आगे और विचार करते हैं:—) यदि चेतयिता पुद्‌गलादि का नहीं है तो किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। इस चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर ज्ञायक किसी का नहीं है। ज्ञायक ज्ञायक ही है—यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि आत्मा परद्रव्य को जानता है यह व्यवहार कथन है। 'आत्मा अपने को जानता है' — इस कथन में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है। 'ज्ञायक ज्ञायक ही है' — यह निश्चंय है?

और (जिसप्रकार ज्ञायक के सम्बन्ध में दृष्टांत-दार्ष्टान्तपूर्वक कहा है) इसीप्रकार दर्शक के सम्बन्ध में कहा जाता है :— इस जगत में कलई श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य (कलई के द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ) है। अब, 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत कराने योग्य दीवारं - आदि परद्रव्य की है या नहीं ?' — इसप्रकार उन दोनों के तात्त्विक संबंध का यहाँ विचार किया जाता है :— यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो यह प्रथम विचार करते हैं :— 'जिसका जो होता वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है'; — ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत (-विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार-आदि की हो तो कलई उन दीवार-आदि ही होनी चाहिए (अर्थात् कलई दीवार-आदि स्वरूप ही होनी चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदि की नहीं है। (-आगे और विचार करते हैं:) यदि कलई दीवार-आदि की नहीं है तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है — यह निश्चय है। जैसे यह दृष्टांत है, उसीप्रकार यह दार्ष्टान्त है :— इस जगत में चेतयिता दर्शन गुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का दृश्य है। अब, 'दर्शक (-देखनेवाला या श्रद्धान करनेवाला) चेतयिता, दृश्य (-देखनेयोग्य या श्रद्धान करने योग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्यों का है या नहीं?' — इसप्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार करते हैं :— यदि चेतयिता पुद्गलादि

का हो तो क्या हो यह पहले विचार करते हैं :— 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है;' — ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत होने से, चेतयिता यदि पूद्गलादि का हो तो चेतयिता पुद्गलादि ही होना चाहिए। (-अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिए) ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इससे (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) चेतयिता यदि पुद्गलादि का नहीं है। तो चेतयिता किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। (इस) चेतयिता से भिन्न दूसरा ऐसा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर दर्शक किसी का नहीं है, दर्शक दर्शक ही है — यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को देखता है अथवा श्रद्धा करता है' — यह व्यवहार कथन है। 'आत्मा अपने को देखता है अथवा श्रद्धा करता है' — इस कथन में भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है; 'दर्शक दर्शक ही है' — यह निश्चय है।)

और (जिसप्रकार ज्ञायक तथा दर्शक के सम्बन्ध में दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से कहा है) इसीप्रकार अपोहक (त्याग करनेवाले) के सम्बन्ध में कहा जाता है:—इस जगत में कलई है वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है (अर्थात् कलई द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है)। अब, 'श्वेत, करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार-आदि परद्रव्य की है या नहीं?'—इसप्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है:—यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, सो पहले विचार करते हैं:—'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है;'—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत (विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार-आदि की हो तो कलई वह दीवार-आदि ही होनी चाहिए, (-अर्थात् कलई भींत-आदि स्वरूप ही होनी चाहिए); ऐसा होने पर,

कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा परन्तु द्रव्य का उच्छेद नहीं होता, क्योंकि एकद्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदि की नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) यदि कलई दीवार-आदि की नहीं है तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौनसी कलई है जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामि-रूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है—यह निश्चय है। जैसे यह दृष्टान्त है, उसीप्रकार यहाँ नीचे दार्ष्टान्त दिया जाता है:—इस जगत में जो चेतयिता है वह, जिसका ज्ञानदर्शनगुण से परिपूर्ण, पर के अपोहनस्वरूप (-त्यागस्वरूप) स्वभाव वाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का अपोह्य (त्याज्य) है। अब, 'अपोहक (-त्याग करनेवाला) चेतयिता, अपोह्य (-त्याज्य) जो पुद्गलादि परद्रव्य का है या नहीं?'—इसप्रकार उन दोनों का तात्त्विक सम्बन्ध यहाँ विचार किया जाता है:—यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो क्या हो यह पहले विचार करते हैं : 'जिसका जो होता है वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है;'—ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवंत होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो तो चेतयिता पुद्गलादि रूप ही होना चाहिये (-अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिए); ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है। (आगे और विचार करते हैं;) यदि चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है तो चेतयिता किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। (इस) चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौनसा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर अपोहक (-त्याग करनेवाला) किसी का नहीं है, अपोहक अपोहक ही है—यह निश्चय है।

(इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि :'आत्मा परद्रव्य को त्यागता है'—यह व्यवहार कथन है; 'आत्मा ज्ञानदर्शनमय ऐसा निज को ग्रहण करता है'—ऐसा कहने में भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है; 'अपोहक अपोहक ही है'—यह निश्चय है।)

अब व्यवहार का विवेचन किया जाता है :- जिसप्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई। दीवार-आदि परद्रव्य जिसको निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार-आदि परद्रव्य को, अपने (कलईके) स्वभावसे श्वेत करती है, — ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार ज्ञानगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ पुद्गलादि परद्रव्य जिसमें निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से जानता है — ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और (जिसप्रकार ज्ञानगुण का व्यवहार कहा है) इसीप्रकार दर्शनगुण का व्यवहार कहा जाता है :— जिसप्रकार श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने श्वेतगुणसे परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होनेवाले दीवार आदि परद्रव्य को अपने (कलईके) स्वभाव से श्वेत करती है — ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार दर्शनगुणसे परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ,

चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभावके परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को अपने (चेतयिताके) स्वभाव से देखता है अथवा श्रद्धा करता है — ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और (जिसप्रकार ज्ञान-दर्शन गुणका व्यवहार कहा है) इसीप्रकार चारित्रगुण का व्यवहार कहा जाता है :— जैसे श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार आदि परद्रव्यके स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्यको अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार आदि परद्रव्य जिनको निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुये दीवार आदि परद्रव्य को, अपने (कलई) के स्वभाव से श्वेत करती है — ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसीप्रकार जिसका ज्ञानदर्शनगुण से परिपूर्ण, पर के अपोहनस्वरूप स्वभाव है ऐसा चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव के स्वभावरूप परिणमित नहीं होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने ज्ञानदर्शनगुण से परिपूर्ण पर-अपोहनात्मक (परके त्यागस्वरूप) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से अपोहता हैं अर्थात् त्याग करता है — इसप्रकार व्यवहार किया जाता है।

इसप्रकार यह, आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायों का निश्चय-व्यवहार प्रकार है। इसीप्रकार अन्य समस्त पर्यायों का भी निश्चय-व्यवहार प्रकार समझना चाहिये।

भावार्थ :- शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है। उसके परिणाम जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहाँ निश्चयनय से विचार किया जाये तो आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, दर्शक नहीं कहा जा सकता, श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता, त्याग करनेवाला नहीं

कहा जा सकता; क्योंकि परद्रव्य के और आत्मा के निश्चय से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं; भाव-भावक का भेद कहना वह भी व्यंवहार है। निश्चय से भाव और भाव करनेवाले का भेद नहीं है।

गाथा ३५६ से ३६५ एवं इनकी टीका पर प्रवचन

इन १० गाथाओं द्वारा सेटिका अर्थात् खड़िया का दृष्टान्त देकर निश्चयनय एवं व्यवहारनय के माध्यम से आत्मा के ज्ञायकस्वभाव का स्पष्टीकरण करते हैं।

इस जगत में सेटिका (खड़िया) श्वेत गुण से भरा द्रव्य है तथा भींत आदि परद्रव्य व्यवहार से खड़िया के या सेटिका के श्वेत्य हैं; सफेद होने योग्य हैं।

देखो, दृष्टांत में खड़िया द्रव्य है, श्वेत उसका गुण है तथा व्यवहार से भींत खड़िया का श्वेत्य है। अर्थात् भींत खड़िया से श्वेत करने योग्य पदार्थ है। इस कथन से खड़िया में द्रव्य-गुण व पर्याय - तीनों सिद्ध होते हैं।

देखो, यहाँ खड़िया व भींत के तात्विक संबंध पर विचार करते हुये कहते हैं - यदि खड़िया भींत की हो तो खड़िया भींत स्वरूप ही हो, क्योंकि जिसका जो होवे, वह वही होता है - ऐसा पारमार्थिक संबंध है। जैसे कि आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान आत्मा ही है। इसप्रकार यदि खड़िया भींत की हो तो खड़िया भींत रूप ही हो, अन्य रूप न हो। इसतरह तो खड़िया के स्व-द्रव्य का अर्थात् खड़िया के अस्तित्व का ही अभाव सिद्ध होगा, परन्तु द्रव्य का तो कभी नाश होता नहीं है, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप संक्रमण होने का तो पहले १०३वीं गाथा में ही निषेध कर आये हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि खड़िया भींत की नहीं है।

प्रश्न : यदि खड़िया भींत आदि की नहीं है तो फिर खड़िया किसकी है?

समाधान : खड़िया की ही खड़िया है। इस खड़िया से जुदी अन्य कोई खड़िया नहीं है, परन्तु वे स्व-स्वामी रूप दो अंश ही हैं।

प्रश्न : यहाँ स्व-स्वामी रूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है?

उत्तर : कुछ भी साध्य नहीं है। तब तो खड़िया किसी की भी सिद्ध नहीं हुई। खड़िया तो खड़िया ही है - यह निश्चय है।

देखो, यह तो दृष्टान्त हैं। अव सिद्धान्त समझाते हैं।

आचार्य समझाते हैं कि इस जगत में चेतनेवाला अर्थात् जानने-देखनेवाला जो आत्मतत्त्व है। वह ज्ञानगुण से भरे स्वभाववाला द्रव्य है तथा शरीर-मन-वाणी आदि पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस आत्मा के ज्ञेय हैं।

प्रश्न : परद्रव्य को जो व्यवहार से ज्ञेय कहा है, यहाँ व्यवहार का क्या अर्थ है?

उत्तर : चेतनेवाला आत्मा तो चैतन्यरूप अर्थात् ज्ञानरूप ही है और शरीर आदि परद्रव्य पररूप ही हैं। ज्ञान शरीरादिरूप नहीं होता, ज्ञान तो शरीरादि को स्पर्श ही नहीं करता। ज्ञान ज्ञानरूप रहकर ही परज्ञेयों को जानता है। लोकालोक को ज्ञान जानता है, पर वह ज्ञानरूप ही रहता है, लोकालोक रूप नहीं होता तथा लोकालोक ज्ञानरूप नहीं होता। इसलिए कहा है कि पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से चेतयिता का ज्ञेय है।

प्रश्न : जगत के ज्ञेय पदार्थों को ज्ञान की पर्याय जानती है। वह ज्ञान की पर्याय ज्ञेय से हुई या स्वयं से हुई है?

उत्तर : ज्ञान की पर्याय ज्ञेय से नहीं, वल्कि स्वयं से ही हुई है। तथा ज्ञेयरूप भी नहीं हुई। यदि ज्ञेयरूप हो तो ज्ञान का नाश हो जायेगा।

अव यही कहते हैं – 'यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो चेतयिता पुद्गलादि रूप ही हो जाय, क्योंकि जिसका जो होता है, वह वही होता है। ऐसा ही पारमार्थिक संबंध है। जिसतरह आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान आत्मा ही है। उसीतरह यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो वह पुद्गलादि ही ठहरेगा; अन्य रूप नहीं रह सकेगा, चेतयिता रूप नहीं रह सकेगा। ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्य का ही अभाव-उच्छेद सिद्ध होगा। परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो कभी होता नहीं है। क्योंकि द्रव्य का द्रव्यान्तररूप संक्रमण होने का तो पहले गाथा १०३ में ही निषेध कर आये हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है।

आत्मा ज्ञान-ज्ञान-ज्ञानस्वभावरूप प्रकाश का पुंज है। उसके ज्ञान की परिणति जिस भाँति पुद्गलादि को जानती है, उसी भाँति राग को भी जानती है।

प्रश्न : ज्ञान की परिणति राग को रागरूप होकर जानती है या ज्ञानरूप रहकर जानती है?

उत्तर : बात बहुत सूक्ष्म है, पर जानने जैसी है। ज्ञान ज्ञानरूप रहकर ही राग को जानता है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उसके ज्ञान की वर्तमान दशा अपने स्वकाल में स्वयं से ही होती है। वह ज्ञान की पर्याय रागादि को जानती है - ऐसा कहना व्यवहार है। राग को आत्मा करता है - यह बात तो दूर ही रही - राग का कर्तापना मानना तो मूढ़ता है, मिथ्यादृष्टि का लक्षण है, यहाँ तो यह कह रहे हैं कि दया-दान आदि के राग को आत्मा जानता है - ऐसा कहना भी व्यवहार है।

भाई! चैतन्यतत्त्व राग से भिन्न है, उसे जानने के काल में वह ज्ञानपर्याय ज्ञानरूप या चैतन्यरूप ही रहती है, रागरूप नहीं होती। यदि जाननेवाला आत्मा राग को जानने के काल में रागरूप हो जाय तो आत्मा का अर्थात् स्वद्रव्य का नाश हो जाये। आत्मा परद्रव्यरूप या जड़रूप हो जाये, परन्तु स्व-द्रव्य का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्य में संक्रमण नहीं होता। इसलिए कहते हैं कि चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है। शरीर-मन-वाणी-कर्म-राग आदि का आत्मा-चेतयिता नहीं है।

आगे प्रश्न होता है कि यदि चेतयिता राग का या पुद्गल का नहीं है तो किसका है?

उत्तर : अरे भाई! चेतयिता का ही चेतयिता है। ज्ञायक का ही ज्ञायक है, अन्य किसी का नहीं।

प्रश्न : 'चेतयिता का ही चेतयिता है'—ऐसा कहने से तो ऐसा लगता है कि ये दो वस्तुयें हैं। तो ये दो कौन-कौन हैं?

उत्तर : अरे भाई! वस्तुत: ये दो नहीं हैं, परन्तु एक चेतयिता के या ज्ञायक के ही स्व-स्वामीरूप दो अंश हैं।

ज्ञायक ज्ञायक ही है - यह निश्चय है। इसप्रकार त्रिकाली शुद्ध ज्ञायक की दृष्टि करना सम्यग्दर्शन है। बापू! शुद्ध ज्ञायक की दृष्टि के बिना व्रत-तप-भक्ति आदि सभी राग की क्रियायें व्यर्थ हैं।

भाई! तेरा अस्तित्व एक ज्ञानस्वरूप है। राग का कर्तृत्व तो इसमें है ही नहीं; परन्तु ज्ञान के अस्तित्व में रहकर राग को जानना, कहना भी व्यवहार है, उपचार है। यहाँ तो कहते हैं कि 'ज्ञायक को जानता हूँ' - ऐसा कहना भी व्यवहार है, क्योंकि ज्ञायक व ज्ञेयरूप भेद पड़ा है न? "अभेद सो निश्चय व भेद सो व्यवहार" इस कथन के अनुसार ज्ञायक में ज्ञायक-ज्ञेय का भेद करना भी व्यवहार है और ऐसे स्व-स्वामी अंश रूप व्यवहार से आत्मार्थी को कोई लाभ नहीं, क्योंकि ऐसे भेदरूप व्यवहार के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। यहाँ तो ज्ञायक ज्ञायक ही है - यह परमार्थ है अर्थात् एक, शुद्ध ज्ञायक की अन्तर्दृष्टि होना सम्यग्दर्शन है और यही कर्तव्य है, धर्म है।

"स्वभावमात्र स्व-स्वामित्वमयी संबंध शक्ति" आत्मा में है, परन्तु वस्तुतः स्व-स्वामी अंशरूप भेद आत्मा में नहीं है।

प्रश्न : यदि यह भी व्यवहार है तो फिर परमार्थ क्या है?

उत्तर : ज्ञायक ज्ञायक ही है - यह निश्चय है, परमार्थ है। 'मैं ज्ञायक ही हूँ' - ऐसी अभेद दृष्टि होना ही सम्यग्दर्शन है और यही सबसे प्रथम धर्म है। इसके बिना सारा क्रिया-काण्ड असत्यार्थ है, हितरूप नहीं है।

इसप्रकार यहाँ यह कहा है कि —

१. 'आत्मा परद्रव्य को जानता है' — यह व्यवहार कथन है।

२. 'आत्मा स्वयं को जानता है' — ऐसा कहना भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है।

३. 'ज्ञायक ज्ञायक ही है' — यह निश्चय है।

अब कहते हैं कि जिसप्रकार ज्ञायक को दृष्टांत व दार्ष्टान्त से स्पष्ट किया, उसीप्रकार दर्शक के संबंध में समझाते हैं —

इस जगत में चेतयिता भगवान आत्मा ज्ञायक की भाँति ही दर्शनगुण एवं श्रद्धा-गुण से परिपूर्ण स्वभाव से भरा द्रव्य है। यहाँ दर्शनगुण से भरा कहकर देखनेरूप व श्रद्धारूप - दोनों गुणों की बात की है। अहाहा ··· ! देखने व श्रद्धान करनेरूप दर्शनगुण से भरे स्वभाववाला आत्मा एक द्रव्य है। तथा पुद्गलादि परद्रव्य

व्यवहार से चेतयिता के - आत्मा के दृश्य हैं। आत्मा देहादि व रागादि परद्रव्य को देखता है - ऐसा कहना व्यवहार का वचन है।

भाई! दर्शनस्वभाव से भरा चेतयिता प्रभु आत्मा पर को देखता है तथा सात तत्त्वों की श्रद्धा करता है - ऐसा कहना व्यवहारनय का विषय है।

टीका के अगले अंश में यह विचार करते हैं कि यदि चेतयिता पुद्गलादि का माना जाय तो क्या-क्या दोष आयेंगे?

उत्तर में कहते हैं कि जिसका जो होता है, वह वही होता है। जैसे कि आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान आत्मा ही है। इस न्यायवचन से यह सिद्ध हुआ कि देखनेवाला दृश्य वस्तु का हो जाता है। जब देखनेवाला ही दृश्य हो गया तो देखनेवाले का यानि स्वद्रव्य का ही अस्तित्व समाप्त हो गया, उच्छेद हो गया। परन्तु ऐसा तो संभव ही नहीं है।

आत्मा दर्शन (श्रद्धा) नामक त्रिकाली गुण से परिपूर्ण है। यहाँ प्रश्न यह है कि वह पर की जो श्रद्धा करता है, वह स्व-रूप अर्थात् दर्शनरूप रहकर करता है या पररूप होकर करता है।

उत्तर यह है कि स्वरूप रहकर ही श्रद्धा करता है; क्योंकि यदि पररूप होकर श्रद्धा करे तब तो आत्मा को अपना अस्तित्व खोकर पररूप ही होना पड़े। ऐसा होने से तो स्वद्रव्य का ही उच्छेद हो जायेगा और स्वद्रव्य का तो कभी विनाश होता नहीं है। इसलिए ऐसा ही सिद्ध होता है कि दर्शक अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है।

यहाँ मूल मुद्दे की दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

१. आत्मा दर्शन गुण से परिपूर्ण भगवान है।

२. जो दृश्यरूप बाह्य पदार्थ हैं, वे दर्शन गुण से रिक्त हैं। भाई! जहाँ तू दर्शक है, वहाँ दृश्य पदार्थ नहीं है। तात्पर्य यह है कि दृश्य पदार्थ के देखने से दृष्टा स्वभाव प्रगट नहीं होता।

प्रश्न : दया-दान, व्रत आदि व्यवहाररत्नत्रय के परिणाम तो हैं न?

उत्तर : हाँ, इन्हें व्यवहाररत्नत्रय कहते हैं और सात तत्त्वों की श्रद्धा को व्यवहार सम्यक्दर्शन कहते हैं, परन्तु इन भावों को चेतयिता आत्मा देखता है, श्रद्धा करता

है – ऐसा कहना व्यवहार है। व्यवहारनय व उपचार से ऐसा कहा जाता है, परन्तु सात तत्त्वों के भेदरूप श्रद्धान में दर्शन के गुण का अभाव है।

दर्शन गुण से भरा चेतयिता-प्रभु आत्मा व्यवहाररत्नत्रय के राग को देखता है, उसका श्रद्धान करता है – ऐसा कहना व्यवहार है।

भाई! शरीर-मन-वाणी-देव-गुरु-शास्त्र तो प्रगट परद्रव्य हैं ही, व्यवहार रत्नत्रय का राग आदि भी सब परद्रव्यरूप है। उनको चेतयिता देखता है, श्रद्धान करता है – ऐसा कहना व्यवहार है, उपचार है।

देखो, जिसतरह लौकिक परीक्षा में असफल होने पर तनावग्रस्त होकर एवं दु:खी होकर छात्र आत्मघात कर लेते हैं, उनके दु:ख की कल्पना नहीं की जा सकती। उसीतरह संसारी जीव मिथ्यात्व के सेवन द्वारा सुख के प्राप्त करने में अनादिकाल से निष्फल ही होते रहे हैं। ऐसी स्थिति में उन मिथ्यादृष्टि जीवों के दु:खों का क्या कहना? इसलिए हे भाई! अब दृश्य पदार्थों को देखना छोड़कर एक देखनेवाले को ही देख! सम्यग्दर्शन का विषय वह एक ज्ञायक दर्शक प्रभु ही है। उसके सिवाय जगत की कोई परवस्तु, एकसमय की पर्याय व गुण-गुणी का भेद-विकल्प भी समकित का विषय नहीं है।

आगे तो यह भी कहेंगे कि देखनेवाले को देखना एवं श्रद्धा करनेवाले की श्रद्धा करना – ये भी व्यवहारनय है।

ये व्यवहाररत्नत्रय के जो विकल्प हैं, वे सब रागरूप हैं। उस राग को देखने व श्रद्धा करने से दर्शन गुण की, श्रद्धा गुण की पर्याय प्रगट नहीं होती। बापू! राग को देखने व उसकी श्रद्धा से राग के ऊपर लक्ष्य रहता है तथा अपनी वस्तु ज्ञाता-दृष्टास्वभावी भगवान आत्मा को देखने से वंचित हो जाते हैं; जो कि सम्यग्दर्शन का मूल है। श्रद्धा करनेवाले दर्शक के आश्रय से श्रद्धा करनेवाली पर्याय प्रगट होती है।

आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु है। वह शरीरादि परद्रव्य में और रागादि परभावों में वेश नहीं करती। गाथा १०३ में पहले भी यह बात आ चुकी है।

यहाँ प्रश्न है कि यदि चेतयिता पुद्गलादि का और रागादि का नहीं है तो चेतयिता किसका है?

उत्तर : चेतयिता का ही चेतयिता है, देखनेवाले का ही देखनेवाला है।

पुनः प्रश्न : देखनेवाले का ही देखनेवाला है - ऐसा जो कहा, इसमें तो दोपना प्रतीत होता है, सो ये दो कौन-कौन हैं? अर्थात् देखनेवाले से जुदा ऐसा दूसरा कौन देखनेवाला है, जिसे यह देखता है?

उत्तर : कोई नहीं, अर्थात् ये दो व्यक्ति नहीं हैं, परन्तु वे दो, एक देखनेवाले के या चेतयिता के ही स्व-स्वामीरूप दो अंश हैं। चेतयिता स्वयं ही स्व और चेतयिता स्वयं ही उसका स्वामी - इसप्रकार वे दो अंश हैं।

कहते हैं कि ऐसे दो अंशरूप भेदव्यवहार से जीव को कोई लाभ नहीं है, क्योंकि अंश - भेद के लक्ष्य से राग ही होता है। इसलिए दर्शक दर्शक ही है - यह निश्चय है। ऐसा दर्शक त्रिकाली ध्रुव एकरूप अभेद वस्तु है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। शुद्ध दर्शक प्रभु आत्मा (एक-अभेद) के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है।

दया, दान, व्रत आदि के परिणामों से तो सम्यग्दर्शन होता ही नहीं, किन्तु उसको देखने-श्रद्धान करने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। देखनेवाला ही देखनेवाला है - ऐसे भेद के लक्ष्य से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

प्रश्न : तो फिर सम्यग्दर्शन कैसे होता है?

उत्तर : 'मैं एक ज्ञायक ही हूँ' - ऐसी अभेद की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है और यह सम्यग्दर्शन धर्म का प्रथम सोपान है।

इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि -

१. आत्मा परद्रव्य को देखता है, अथवा श्रद्धान करता है - यह व्यवहार कथन है।

२. आत्मा स्वयं को देखता है अथवा श्रद्धान करता है - ऐसा कहने में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है।

३. दर्शक दर्शक ही है - यह निश्चय है।

स्वयं अभेद एकरूप ज्ञाता-दृष्टास्वभावी भगवान है, उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसके सिवाय पर निमित्त से, राग से और भेद व्यवहार से कुछ भी साध्य नहीं है।

देखो, यहाँ कहते हैं कि ज्ञान-दर्शनगुण के पिण्ड भगवान आत्मा का पर के साथ और राग के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आत्मा पर व राग के अभावरूप है। राग को करने का स्वभाव तो आत्मा का है ही नहीं, राग का त्याग करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। भाई! जो आत्मा को पर के ग्रहण व त्याग करने के स्वभाववाला माने, यह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा तो त्यागोपादान शून्य शक्ति से सम्पन्न है।

यहाँ तो विशेष बात यह है कि राग का त्याग करना आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। भाई! यहाँ चारित्र की बात चलती है। आत्मा पर और राग के त्यागरूप (अभावरूप) स्वभाववाला द्रव्य है। जब आत्मा का ऐसा स्वरूप है तो फिर राग के त्याग की बात ही कहाँ रही? जहाँ राग के अभावरूप आत्मा का स्वभाव है, वहाँ राग के त्याग करने की बात ही कहाँ रही? बापू! आत्मा के बारे में राग का त्याग करने की बांत कहना नाममात्र है। समयसार गाथा ३४ में यह बात खुलासापूर्वक आ गई है। वहाँ कहा है कि आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तापन नाममात्र है। आत्मा स्वयं तो ज्ञानस्वभावी है। जहाँ स्व को स्व व पर को पर जाना वहाँ परभाव उत्पन्न ही नहीं होता। बस, यही त्याग है और वही चारित्र है, धर्म है।

भाई! ज्ञान ज्ञानस्वभाव में स्थिर रहे, यही चारित्र है इसके सिवाय अन्य कोई भाव चारित्र नहीं है।

कोई नंगे पाँव चले, बाह्य में शरीर से अनेक परिषह सहन करे तो भी ज्ञान ज्ञान में स्थिर हुए बिना चारित्र नहीं होता।

कलश टीका के निर्जरा अधिकार कलश नं. १४२ में पाण्डे राजमलजी ने कहा है कि - हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह से रहित, महा परिषहों को सहते हुए भी बड़ा भारी कष्ट सहते हो तो सहो, परन्तु इससे कर्मक्षय नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि भाई राग के त्यागरूप भाव ही तेरा स्वभाव है। जब शुद्ध एक ज्ञायकस्वरूप प्रभु सदा राग रहित वीतरागस्वरूप ही है तो फिर राग के त्याग

की बात ही कहाँ से आई? अहा! भगवान आत्मा ने ज्ञायकस्वभाव में जब राग का ग्रहण ही नहीं किया, वह सदा राग के अभावस्वभाव रूप ही रहा तो फिर राग के त्याग करने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। राग चेतयिता को त्याज्य है - यह कथन तो व्यवहार का है।

आत्मा चिदानन्द प्रभु नित्य एक ज्ञायक स्वभावमय है। समयसार गाथा ६ में आता है कि ज्ञायक ज्ञायक ही है। ज्ञायक कभी रागस्वभावरूप हुआ ही नहीं है। यदि वह रागस्वभावरूप हो जाय तो वह जड़ हो जायेगा, परन्तु ऐसा कभी होता ही नहीं। ऐसा वस्तुस्वभाव होने पर भी बाहर में थोड़ा बहुत कुछ संयोगों का त्याग करके कोई ऐसा माने कि 'मैं त्यागी हूँ' तो बहिर्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि है।

अज्ञानी कहता है कि - 'व्यवहार साधन व निश्चय साध्य', परन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं ही साधनरूप है। कर्ता, कर्म, साधन आदि आत्मा की शक्तियाँ हैं, गुण हैं। इसलिए उसे पर साधनों की अपेक्षा नहीं है। यदि राग साधन हो तो आत्मा का राग के साथ संबंध हो, परन्तु आत्मा का राग के साथ संबंध है ही नहीं। निश्चय से पर के साथ या राग के साथ चेतन का संबंध है ही नहीं, संबंध कहना कथन मात्र है।

पण्डित दीपचंद ने पंचसंग्रह में कहा है कि आत्मा राजा चैतन्य के देश में रहता है और ज्ञान-दर्शन आदि गुण उसकी प्रजा है। आत्मा स्वयं नित्यानंदस्वरूप है, इसका यथार्थ ज्ञान करके, इसी में रमणता करके पर्याय में आनन्दरूप होता है। इसमें पर का व राग का छोड़ना कहाँ आया? पर को व राग को छोड़ना - ऐसा कहना व्यवहार है। इसीप्रकार राग को साधन कहना भी व्यवहार का ही कथन है।

यहाँ प्रश्न है कि यदि चेतयिता को पुद्गलादि का माना जाय तो क्या दोष आयेगा?

उत्तर : यदि आत्मा रागादि का हो तो उसे रागादिरूप होना पड़ेगा; क्योंकि जिसका जो होता है, वह वही होता है — ऐसा सिद्धांतवचन है। जैसे कि आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान आत्मा ही है। उसीतरह यदि चेतयिता रागादि का हो तो उसे रागादिमय ही हो जाना चाहिए। जबकि ऐसा होता नहीं है। अन्यथा स्व-द्रव्य के

नाश का प्रसंग प्राप्त होता है, परन्तु द्रव्य का नाश कभी होता नहीं है, यह सिद्धान्त है, क्योंकि द्रव्य का द्रव्यांतररूप संक्रमण नहीं होता।

भाई! निमित्त से कार्य होने की वात तो दूर ही रही, यहाँ तो यह कह रहे हैं कि निमित्तरूप परवस्तु और रागादिभाव के त्याग का कर्ता भी आत्मा नहीं है। तथा यह वात तो पहले ही कह चुके हैं कि ज्ञायक ज्ञायक ही है, दर्शक दर्शक ही है और भगवान आत्मा राग के अभाव स्वभाववान ही है। — यह परमार्थ है।

अव शिष्य प्रश्न करता है कि चेतयिता यदि राग का नहीं है, शरीरादि का नहीं, पुद्गल का नहीं तो फिर चेतयिता किसका है?

उत्तर : चेतयिता का ही चेतयिता है।

फिर प्रश्न : यदि ऐसा है तव तो चेतयिता दो हो गये तो क्या दो चेतयिता हैं?

उत्तर : नहीं, चेतयिता दो नहीं है। इस चेतयिता से अन्य कोई चेतयिता नहीं है। परन्तु वे दो स्व-स्वामीरूप एक ही चेतयिता के दो अंश हैं। चेतयिता स्वयं अपना स्व और चेतयिता स्वयं ही उसका स्वामी - ऐसे दो अंश हैं।

'आत्मा आत्मा का ही है' — ऐसे स्व-स्वामीरूप दो अंशों के व्यवहार से क्या सिद्ध करना चाहते हैं? क्या लाभ है?

उत्तर : लाभ तो कुछ भी नजर नहीं आता, वल्कि हानि यह है कि ऐसे व्यवहार में रुकनेवाले को आत्मलाभ नहीं होता है, सम्यग्दर्शन नहीं होता। अत: भेद-विकल्प से कुछ भी सिद्धि नहीं है। वीतरागभावस्वरूप आत्मा वीतरागभाव में रमे - ऐसा भेद-विकल्प भी व्यवहार है। इसमें अटकना कार्यकारी नहीं है।

पर को व राग को जानने में अटक जाये, रुक जाये तो 'स्व' का जानना नहीं हो सकता, वह 'स्व' के जानने से वंचित रह जाता है। वापू! स्वरूप का भान हुए विना पर को जानना तो व्यवहार भी नहीं है। आत्मज्ञानी धर्मी-पुरुषों का पर को जानना व्यवहार नय से कहा जाता है। परन्तु ऐसे व्यवहार से कुछ भी साध्य नहीं है।

भाई! भगवान आत्मा तो राग के अभावस्वभावरूप ही है। वस, ऐसे निज-स्वरूप में स्थिर रहना ही चारित्र है। 'राग का त्याग करना' - ऐसा कहना तो कथन मात्र है।

परमार्थ से राग के त्याग की वात कहना शोभा नहीं देती, क्योंकि जहाँ ज्ञानानंद-स्वभावी प्रभु स्वयं अपने में स्थिर हुआ वहाँ राग तो स्वतः उत्पन्न ही नहीं हुआ, फिर उसके त्याग की वात ही कहाँ से आई? परन्तु स्थूल व्यवहार में तो 'उत्पन्न न होने को ही त्याग' कह देते हैं। अतएव ऐसे व्यवहार को 'कथनमात्र' कहकर स्पष्ट कर दिया है।

भाई! यद्यपि चारित्र आत्मा का एक गुण है, परन्तु 'चारित्र आत्मा का है' — ऐसा भेद पड़ने से कोई सिद्धि नहीं होती। इसलिये ऐसा कहा है कि - अपोहक अपोहक ही है — यह निश्चय है। पर का व राग का अभावस्वभाव भगवान आत्मा की दृष्टि करके उसी में स्थिर रहना मोक्षमार्ग है।

इसप्रकार यहाँ उपर्युक्त कथन में यह बताया है कि -

१. आत्मा परद्रव्य का अपोहक है, निषेधक है, अर्थात् परद्रव्य को त्यागता है - यह व्यवहारकथन है।

२. आत्मा ज्ञानदर्शनमय स्वयं को ग्रहण करता है - ऐसा कहने में भी स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार है।

३. अपोहक अपोहक ही है - यह निश्चय का कथन है।

अव व्यवहार का कथन करते हैं -

देखो, श्वेतगुण से भरे स्वभाववाली वही खड़िया स्वयं भींत आदि परद्रव्य के स्वभाव में परिणमित नहीं होती। तथा वह खड़िया भींत आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप भी नहीं परिणमाती। खड़िया तो खड़िया ही है और खड़िया रूप ही रहती है। वह स्वयं भींतरूप भी नहीं होती तथा भींत को अपने श्वेत रूप भी नहीं करती।

हाँ, जब खड़िया अपनी पर्याय में सफेदरूप से उपजती है, तब परद्रव्यरूप भींत उसमें निमित्तरूप से वहाँ होती है।

इसीप्रकार चेतयिता प्रभु आत्मा ज्ञानगुण से भरे स्वभाववाला द्रव्य है। ऐसा ज्ञानस्वभावी आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित नहीं होता। तथा आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप ज्ञानपने परिणमित नहीं करता।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानस्वभाव से भरा भगवान आत्मा दया, दान, व्रत आदि व्यवहाररत्नत्रय के रागरूप नहीं होता। यद्यपि व्यवहाररत्नत्रय का राग ज्ञानी के भी होता है, परन्तु जिसको निश्चय ध्रुव एक ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई है, वह ज्ञानी रागरूप नहीं होता। ज्ञानस्वभाव से परिणत आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य को एवं व्यवहाररत्नत्रय के राग को जानता है, पर आत्मा उस रूप हो नहीं जाता। इसप्रकार आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य को, व्यवहाररत्नत्रय के राग को ज्ञानरूप करता नहीं है, परिणमाता नहीं है।

जब आत्मा ज्ञानस्वभाव की निर्मल पर्यायरूप उत्पन्न होता है, उस समय व्यवहाररत्नत्रय उसमें निमित्तरूप होता है, परन्तु निमित्त से ज्ञान की निर्मल पर्याय उत्पन्न नहीं होती। व्यवहाररत्नत्रय के कारण सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। आत्मा में सम्यक्ज्ञान-श्रद्धान स्वयं का स्वयं से हुआ है। उसमें पुद्गलादि परद्रव्य व व्यवहाररत्नत्रय आदि निमित्त मात्र है। निमित्त का अर्थ ही यह है कि वह उपादान में कुछ करता नहीं है। यदि निमित्त उपादान में कुछ भी करे तो निमित्त निमित्त न रहकर स्वयं उपादान हो जायेगा। इसतरह तो निमित्त-उपादान एक हो जायेंगे।

देखो, इस शरीर में केन्सर हो, केन्सर एक ऐसा रोग है, जिसके नाम लेने मात्र से लोग घबराते हैं, यह भयंकर दु:खद रोग है। जब यह रोग होता है तो रोगी रोता-बिलखता है। शारीरिक पीड़ा और मृत्युभय से हाय-हाय करता है। यहाँ कहते हैं कि - शरीर में जो केंसर की अवस्था होती है, उसे आत्मा (ज्ञान) जानता है, परन्तु ज्ञान स्वयं उस रोगरूप परिणमित नहीं होता तथा रोग की अवस्था को ज्ञानरूप नहीं करता।

रोग हो या निरोग दशा हो, ये सब तो परवस्तु है। इन्हें जानना व्यवहार तब कहलाता है जब इसे त्रिकाली ध्रुव भगवान ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि हुई हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ हो। इसके सिवाय तो सब व्यवहाराभास है। जो शरीर व आत्मा की परिणति को एक जानता-मानता हो, उसके तो व्यवहार ही नहीं है।

जिसको शुद्ध चैतन्य की - ध्रुवस्वरूप की दृष्टि हुई है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, उसको साथ ही जो व्यवहाररत्नत्रय का राग होता है, वह मात्र जानने के लिये प्रयोजनवान है; क्योंकि राग व ज्ञान की परिणति एक नहीं है।

'ज्ञान विद्यमान राग को जानता है।' बस, इतना-सा व्यवहार है; क्योंकि राग और ज्ञान एक नहीं है, भिन्न-भिन्न है।

जिसतरह शरीर सुन्दर हो तो उसकी रुचि में अज्ञानी अपनी त्रिकाली प्रभु की सुन्दरता को भूल जाता है। उसीतरह शुभराग की रुचि में अज्ञानी शुद्ध चैतन्य के अनंत सुख की मिठास को भूला हुआ है।

ज्ञानस्वरूप से परिणत आत्मा व्यवहाररत्नत्रय और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के रूप से परिणमित नहीं होता। आत्मा का द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध चेतना गुण से भरा हुआ है। उसके ज्ञान की पर्याय जब ज्ञाता-दृष्टापने परिणमित हो, तब वह ज्ञानरूप परिणमन राग को अपने (ज्ञान) रूप नहीं करता; इसीप्रकार वह ज्ञान का परिणमन भी रागरूप नहीं होता।

राग को यहाँ पुद्गलस्वभाव कहा है; क्योंकि उसमें चैतन्य का अंश नहीं है। राग की व चैतन्य की जाति एक नहीं है तथा वह राग पुद्गल के संग में प्रगट होता है; इसलिये राग को अजीव, पुद्गलस्वभाव कहा है।

भाई! ज्ञान स्वयं रागरूप परिणमित होता नहीं और राग को अपने ज्ञानरूप परिणमाता नहीं।

भाई! यह रूपवान शरीर, पैसा, आबरू-इज्जत, मकान बंगला आदि सब बाहर के ठाठ हैं। ये सब तो क्षणिक संयोग हैं। देखते-देखते ही विलय को प्राप्त हो जाते हैं। ये सब तेरे नहीं है, तू इन पर से अपनी दृष्टि हटा ले और अन्तर्दृष्टि कर। ओहो! तेरे अन्दर तो तेरा अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत का सागर प्रभु शाश्वत डोल रहा है। उस स्वरूप के लक्ष्य से अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की परिणति प्रगट होती है। वह ज्ञान की परिणति राग को अपने रूप नहीं करती और वह ज्ञान की परिणति स्वयं रागरूप भी नहीं होती।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव से भरा प्रभु है। उसका ज्ञानरूप होना - परिणमना तो वस्तु की स्थिति है, किन्तु उसका रागरूप होना वस्तु की स्थिति नहीं है।

ज्ञान के परिणमन के काल में जो रागादि परद्रव्य हैं, वे ज्ञान के परिणमन में निमित्त हैं। तात्पर्य यह है कि परद्रव्यों के जानने के काल में ज्ञानी की परिणति में परद्रव्य - शरीरादि, रागादि और कर्मादि निमित्त हैं। 'निमित्त हैं' का अर्थ यहाँ यह

है कि जो उपादान में कुछ न करे। मात्र उपादान के काल में साथ में दूसरी एक सानुकूल वस्तु है, बस वह निमित्त है। निमित्तरूप परद्रव्य के कारण ज्ञान की परिणति नहीं होती। निमित्त व उपादान का मात्र समकाल है। शास्त्रीय भाषा में इसे एक काल प्रत्यासत्ती कहते हैं।

जैसे कि – जब आत्मा में ज्ञान की परिणति होती है तब शरीर में तद्नुकूल हलन–चलन होता है। दोनों का एक ही काल है, परन्तु ज्ञान के कारण शरीर नहीं हिला–डुला है। तथा शरीर हिला–डुला, इसकारण ज्ञान में परिणमन नहीं हुआ। शरीर का हलन–चलन होना जड़ की पर्याय है और ज्ञान का होना चेतन की पर्याय है। शरीर की अवस्था ज्ञान में निमित्त हो परन्तु ज्ञान का परिणमन शरीर के कारण कदापि नहीं होता। दोनों समकाल में प्रगट होने पर भी दोनों का अपना–अपना परिणमन स्वतंत्र है। एक के कारण दूसरे का परिणमन कभी होता ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि परद्रव्य जिसमें निमित्त है, ऐसे ज्ञानगुण के स्वभाव से भरा चेतयिता है, वह ज्ञानस्वभाव से उत्पन्न होता है। जब आत्मा केवलज्ञान की पर्यायरूप से उत्पन्न होता है तो उस ज्ञान में लोकालोकरूप परद्रव्य निमित्त होता है, परन्तु ऐसा कदापि नहीं है कि लोकालोक के कारण केवलज्ञान में लोकालोक का ज्ञान होता है। तथा लोकालोक जब पर्यायरूप से परिणमित होता है तब केवलज्ञान में वह निमित्त होता है। केवलज्ञान की पर्याय के कारण लोकालोक परिणमित नहीं होता। परस्पर में एक–दूसरे के लिये मात्र निमित्त हैं। इन दोनों में कर्ता–कर्म भाव नहीं है। दोनों परस्पर अनुकूल रूप से एक साथ रहते हैं, बस।

आत्मसिद्धि में कहा है कि – दोनों साथ में रहते हैं, इसका अर्थ यह है कि एक का दूसरे के कारण अस्तित्व नहीं है, दोनों अपने–अपने अस्तित्व से रहते हैं।

द्रव्यसंग्रह की ४७वीं गाथा में आया है – निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग – दोनों ध्यान में प्रगट होते हैं। 'व्यवहार पहले व निश्चय बाद में' – ऐसा भी नहीं है। स्वरूप की दृष्टि और रमणता होने पर निश्चयरत्नत्रय प्रगट होता है तथा उसी काल में जो राग शेष रहा, उस पर आरोप करके व्यवहार से व्यवहार–मोक्षमार्ग

कहा जाता है। इसप्रकार निश्चय-व्यवहार — दोनों साथ-साथ विद्यमान हैं। व्यवहार का राग जो उस काल में है, उसे निमित्त कहा जाता है।

भाई! जब ज्ञान की परिणति होती है तब राग निमित्त होता है और राग में ज्ञान की परिणति निमित्त है, परन्तु वस्तु के ज्ञान के कारण वस्तु का राग नहीं होता और वस्तु के प्रति राग के कारण ज्ञान रागी नहीं होता। दोनों स्वतंत्र परिणमित होते हैं, और एक-दूसरे में निमित्त होते हैं, कर्ता नहीं।

अहा! धर्मी पुरुष की दृष्टि ध्रुव पर है, उसके राग की एकत्वबुद्धि का परिणमन नहीं है। धर्मी के जो समय-समय में क्रमबद्ध ज्ञान का परिणमन होता है उसमें उसे उसी काल में जो राग है, उस राग को वह पृथक् जानता है। तथा वह राग उस ज्ञान के परिणमन में निमित्त है। उस राग को ज्ञान के परिणमन में निमित्त कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि दोनों साथ हैं, परन्तु दोनों में कर्ता-कर्म संबंध नहीं है।

वस्तुतः तो ज्ञान का परिणमन कार्य और भगवान आत्मा उसका कर्ता - ऐसा कहना चाहिए, परन्तु यह भेद भी उपचार है। वास्तव में तो ज्ञान की परिणति का कर्ता वह परिणति स्वयं है। आत्मा को उसका कर्ता कहना भेदोपचार है, व्यवहार है।

अहा! इसमें तो प्रत्येक पर्याय की स्वतंत्रता का शंखनाद किया है, ढिंढोरा पीटा है। अहा! ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की ज्ञानपर्याय क्रमबद्ध और पूर्ण स्वतंत्र होती है। राग है, इसकारण राग का ज्ञान होता है, ज्ञानपर्याय में ऐसी राग की पराधीनता तो है ही नहीं, त्रिकाली द्रव्य है, इस कारण उसमें ज्ञान की पर्याय होती है - ऐसी पराधीनता भी नहीं है, क्योंकि द्रव्य तो सदा ही विद्यमान है, परन्तु उसकी परिणति एकरूप नहीं होती, भिन्न-भिन्न होती है। पर्याय भिन्न-भिन्न होती है - यह पर्याय का अपना स्वतंत्र कार्य है।

भाई! जिसके अंतरंग में निश्चय ध्रुव अंतरंग तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्रगट हुआ है, उसका बाह्य व्यवहार निमित्त है; किन्तु जिसके अंतरंग में निश्चय ध्रुव तत्त्व का ज्ञान ही नहीं है, उसके व्यवहार को किसका निमित्त कहा जाय? अर्थात् वह निमित्त भी नहीं है?

जिसतरह ज्ञान की निर्मल पर्याय ज्ञानस्वभाव से भरे भगवान आत्मा के आश्रय से प्रगट होती है, व्यवहाररत्नत्रय से नहीं; उसीतरह चेतयिता के परिणाम जिसमें निमित्त हैं — ऐसे राग के पौद्‌गलिक परिणाम अपने पौद्‌गलिक विभावस्वभाव से उत्पन्न होते हैं, आत्मा से नहीं। व्यवहाररत्नत्रय का राग पुद्‌गल के आश्रय से उत्पन्न हुआ है।

चेतयिता अपनी ज्ञान पर्याय से रागादि परद्रव्य को जानता है। ऐसा कहना व्यवहार है। पुद्‌गलस्वभाव राग को करे — यह तो है ही नहीं; परन्तु आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव के परिणमन से राग को जानता है — ऐसा कहना भी व्यवहार है। बारहवीं गाथा में आ ही गया है कि राग उस-उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है। वही बात यहाँ सिद्ध की है। जानने के स्वभाव से परिणमन करते हुए भगवान आत्मा के ज्ञान परिणाम को राग करता नहीं है तथा पौद्‌गलिक राग को ज्ञान भी नहीं करता; परन्तु आत्मा उस पौद्‌गलिक राग का ज्ञाता है। ऐसा जो कहा जाता है — वह भी व्यवहार है।

आगे खड़िया के उदाहरण से समझाते हैं — देखो, जिसतरह श्वेत गुण से भरी हुई खड़िया स्वयं भींत आदि परद्रव्य के स्वभाव रूप नहीं होती; उसी तरह वह खड़िया भींत आदि पुद्‌गल परद्रव्य को अपने स्वभावरूप भी नहीं करती।

वस्तुतः बात यह है कि खड़िया स्वभाव से ही अपने श्वेतपने उत्पन्न होती है, उसमें भींत आदि परद्रव्य निमित्त हैं, तथा अपने स्वभाव से श्वेत रूप उत्पन्न होती हुई भींत आदि परद्रव्य में खड़िया की सफेदी निमित्त है। कोई भी वस्तु किसी परद्रव्य का कुछ भी नहीं करती। इसप्रकार निमित्त होने से खड़ी भींत आदि परद्रव्य को अपने स्वभाव से सफेद करती है। — ऐसा व्यवहार करने में आता है।

इस खड़िया के दृष्टान्त से अब सिद्धान्त समझाते हैं —

देखो, चेतयिता भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द लक्ष्मी का नाथ प्रभु स्वरूप से भगवान ही है। समयसार गाथा ७२ की टीका में आचार्यदेव ने आत्मा को तीन बोलों में तीन बार 'भगवान आत्मा' कहा है।

१. आस्रव अशुचि है और भगवान आत्मा शुद्ध, एक, चैतन्यस्वभावमय है।
२. आस्रव जड़स्वभावी है, भगवान आत्मा सदा ही शुद्ध चैतन्यस्वभाव वाला है।

३. आस्रव आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं और 'भगवान आत्मा' सदा ही निराकुल स्वभावी होने से दु:ख का अकारण ही है।

धर्मी पुरुषों को दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के विकल्प आते हैं; परन्तु वे विकल्प ज्ञानी के ज्ञेय हैं, श्रद्धा में हेय हैं और चारित्र की अपेक्षा दोष हैं।

यहाँ कहते हैं — भगवान आत्मा दर्शन गुण से भरे स्वभाववाला एक द्रव्य है। इसमें 'दर्शन' शब्द से दर्शन गुण व श्रद्धा गुण — दोनों की बात है। ऐसा आत्मा चेतयिता प्रभु पुद्‌गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप से परिणमित नहीं होता। जिसप्रकार श्वेत गुण से भरी खड़िया भींत रूप से नहीं परिणमती; उसीतरह भगवान आत्मा शरीरादि और रागादिरूप नहीं होता।

दृष्टि के विषय की अपेक्षा दु:ख का एवं राग का वेदन आत्मा का नहीं है, किन्तु ज्ञान की अपेक्षा से देखें तो सम्यग्दृष्टि को जितना राग आता है — उतना वहाँ उसे दु:ख का वेदन भी है। जिन्हें तीन कषायों के अभाव रूप वीतराग शान्ति में निवास है, ऐसे मुनिराजों को भी पंचमहाव्रतादि का जितना विकल्प उठता है, उतना दु:ख है और यही जगपंथ है।

समयसार नाटक में कहा है —

ता कारण जगपंथ इत, उत सिव मारग जोर।
परमादी जग को धुकै, अपरमादि शिव ओर ॥

बापू! शास्त्रों में राग की रुचिवालों को कायर-नपुंसक कहा है। समयसार गाथा ३९ से ४३ की टीका में ऐसा कहा है कि जो इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण नहीं जानता एवं राग को अपना रूप मानता है, वह नपुंसक है; क्योंकि जिसतरह नपुंसक के सन्तान नहीं होती, उसीतरह इस पुण्य की रुचिवाले अज्ञानी के धर्म की सन्तान नहीं होती। उनका वीर्य स्वरूप की रचना करने में समर्थ नहीं है।

जिसकी दृष्टि शुद्ध चैतन्यस्वभावमय आत्मा पर है, उसे भी भूमिकानुसार शुभराग आता है; उस शुभराग से जो पुण्य बंधता है, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य है; तथा जिसकी दृष्टि राग पर है और जिसे शुभराग की रुचि है, उसे भी राग तो आता ही है; अत: उसे भी पुण्य तो बंधता है, किन्तु उसका वह पुण्य

पापानुबन्धी पुण्य है। दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। भाई! जैनधर्म क्या वस्तु है? इसकी लोगों को खबर नहीं है। अपने ही अन्दर जो आनन्द का नाथ निर्मलानंद आत्म-प्रभु विराजता है, उसकी दृष्टि और रमणता करने से धर्म होता है और जो राग की रुचिवाले मिथ्यात्व भाव में रहते हैं। शुभराग से अपना भला होना मानते हैं। ऐसी मान्यता के कारण वे शुभराग में रुचि रखते हैं, इसकारण वे मूढ़ हैं, नपुंसक हैं, उन्हें धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

अहा! जिसे दर्शन गुण से भरे आत्मा की दृष्टि हुई है, वह राग को अपना स्वरूप नहीं मानता, राग को अपने रूप नहीं करता तथा स्वयं रागरूप नहीं होता। दर्शन गुण के स्वभाव से भरे आत्मा की दृष्टि होने पर दर्शन गुण की देखने रूप श्रद्धा करने रूप जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय में रागादि भाव मात्र निमित्त हैं। वहाँ न तो राग के कारण दर्शन गुण की पर्याय होती है और न दर्शन गुण के कारण राग होता है। बस, दोनों में परस्पर निमित्तपना है। वस्तुतः दोनों भिन्न-भिन्न चीज हैं।

यहाँ दर्शन गुण की अपेक्षा बात की है।

अब ज्ञान व चारित्र गुण की अपेक्षा से कहते हैं कि आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शन-गुण से भरा एवं पर का अपोहन करने का है। वह व्यवहाररत्नत्रय के विकल्पों के अभाव स्वरूप है। भाई! पंच महाव्रत के परिणाम भी रागरूप होने से आत्मा के निर्मल परिणामरूप चारित्र नहीं हैं। आत्मा के स्वभाव में इन महाव्रतादिरूप शुभभावों का भी अभाव है। निजस्वरूप में रमते हुये — स्थिर होने पर जो अतीन्द्रिय आनन्द का भरपूर - प्रचुर स्वाद आता है, उसका नाम चारित्र है।

भाई! शुभराग स्वयं तो चारित्र है ही नहीं; शुभराग से चारित्र हो — ऐसा भी नहीं है। चारित्र अर्थात् निर्मल रत्नत्रय के प्रगट होने पर राग का त्याग किया — ऐसा जो कहा जाता है, वह भी कथन मात्र है।

शुद्ध परिणति के आनन्दस्वरूप बाग में केलि करने का नाम चारित्र है, यही धर्म है। भाई! सम्यग्दर्शन में अल्प आनन्द का स्वाद है, जबकि चारित्र में स्वरूप रमणता से अति उग्र आनन्द का वेदन होता है। ध्रुवधाम को ध्येय

बनाकर तीव्र रुचि से जो साधर्मी आत्मसन्मुख होने का उग्र पुरुषार्थ करते हैं, वे साधर्मी धन्य हैं।

अहा! भगवान आत्मा शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियाँ आदि परद्रव्य के अभाव-स्वभावरूप है। यह भगवान आत्मा शरीर आदि परद्रव्यों के ग्रहण-त्याग से रहित तो है ही, रागादि के ग्रहण-त्याग से भी रहित है। भाई! भगवान आत्मा शुभाशुभ राग के अभावस्वभावरूप है; और तो ठीक, पर यह भगवान आत्मा व्यवहाररत्नत्रय के भी अभावस्वभावरूप है। जहाँ ऐसी बात है वहाँ राग के ग्रहण-त्याग करने की तो बात ही कहाँ रही?

भाई! बात बहुत सूक्ष्म है, इसे पचाना तो धीर वीरों का काम है। भगवान आत्मा स्वयं पुद्‌गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप नहीं होता और पुद्‌गलादि परद्रव्य को अपने स्वभाव से नहीं परिणमाता। त्रिकाल राग के अभावस्वभावरूप भगवान आत्मा स्वयं राग के स्वभावरूप नहीं होता तथा राग को अपने स्वभावरूप नहीं परिणमाता। इसप्रकार राग भगवान आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। इसमें चैतन्य का सदा ही अभाव है। जिसप्रकार सूर्य की किरण सफेद (उज्ज्वल) होती है, उसीप्रकार भगवान आत्मा की ज्ञान किरणें उज्ज्वल चैतन्यमय होती हैं, राग के अंधकारमय नहीं होती। यद्यपि लोगों को भगवान आत्मा के स्वरूप की खबर ही नहीं है, किन्तु भगवान आत्मा सदा ही ज्ञान-दर्शन और वीतरागता के स्वभाव से भरा हुआ है। जो ऐसे निज ज्ञायक-स्वभाव से इन्कार करके उसे रागवाला, पुण्यवाला तथा अल्पज्ञ मानता है, वह तो वस्तुतः भगवान आत्मा को कलंकित करता है। ऐसे आत्मा को कलंकित करनेवाले जीव मरकर ऐसे स्थान पर जन्म लेंगे जहाँ कोई इन्हें जीव मानने को भी तैयार नहीं होगा।

भाई! अनन्त शक्तियों का पिण्ड आत्मप्रभु स्वयं पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावी वस्तु है। उसे रागवाला या पुण्यवाला मानना महा अपराध है और इस अपराध की सजा नरक-निगोद है। यह 'ककड़ी के चोर को फाँसी की सजा' नहीं है; बल्कि यह तो महा अपराध है; क्योंकि ऐसी मान्यतावाला स्वयं को रागवाला एवं पैसेवाला मानकर निज चिदानंदस्वरूप से इन्कार करता है एवं

उसका अनादर करता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि 'इसका फल अनंतकाल का निगोद वास है।'

ज्ञानदर्शनस्वभावी भगवान आत्मा सदा ही वीतराग स्वभाव से परिपूर्ण है। जिसे उस आत्मा की प्रतीति, ज्ञान व रमणता हो जाती है, उसे बाहर में जो व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प सहज रूप से होता है, उसे निमित्त कहा जाता है, परन्तु उस रत्नत्रय के विकल्प को निमित्त कहने से उसे कर्ता नहीं समझना चाहिए। स्वरूप की रमणता स्वरूप के आश्रय से ही होती है। इसमें निमित्त का कुछ काम नहीं है।

प्रश्न : जब निमित्त कुछ करता ही नहीं है तो निमित्त के मानने से लाभ ही क्या है?

उत्तर : भाई! जगत में जिसप्रकार आत्मा का अस्तित्व है, वैसे ही पुद्‌गलादि अन्य द्रव्य भी हैं; वे सभी अपने-अपने स्वभाव से परिणमते हुये परस्पर निमित्त होते हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि निमित्त मात्र निमित्त है, वह कर्ता नहीं है, क्योंकि द्रव्य अपना परिणाम तो स्वयं ही स्वयं से करता है। वस्तु का ऐसा ही स्वतंत्र स्वभाव है। निमित्त, निमित्त रूप है। यदि निमित्त को माने ही नहीं तो वेदान्त जैसी मान्यता हो जायेगी। वेदान्ती एक आत्मा को ही सर्वव्यापक मानते हैं, दूसरी वस्तु को वे मानते ही नहीं है।

देखो, ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है तथा पुद्‌गलादि एवं रागादि पर वस्तुयें हैं। ज्ञान उन्हें जानता है। ध्यान रहे, ज्ञान में जो जानना होता है, यद्यपि वे अन्य वस्तुयें उसमें ज्ञेयरूप निमित्त होती हैं; परन्तु उन निमित्तों के कारण ज्ञान में जानना हुआ हो — ऐसा नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि जिसतरह परम वीतरागस्वभावी आत्मा में दृष्टि, ज्ञान और रमणता रूप जो शुद्ध रत्नत्रय प्रगट हुआ, उसमें व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प निमित्त है; उसीतरह अशुद्ध आत्मा में जो राग आदि के परिणाम होते हैं, उसमें आत्मा के परिणाम निमित्त हैं। अहा! मात्र परस्पर निमित्तपना है। चारित्र गुण के कारण राग नहीं और राग के कारण चारित्र गुण नहीं। दोनों भिन्न-भिन्न

पदार्थ हैं न? अहा! यह तो अद्भुत अलौकिक बात है! केवल-ज्ञान में लोकालोक ज्ञेयरूप निमित्त है और लोकालोक को जानने में केवलज्ञान जाननेरूप निमित्त है। तथापि लोकालोक के कारण केवलज्ञान नहीं है तथा केवलज्ञान के कारण लोकालोक का अस्तित्व नहीं है। केवलज्ञान ज्ञायक है, कारक नहीं।

इसीप्रकार निर्मल निराग ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा का अनुभव होने पर उस अनुभव में निमित्त हो; परन्तु राग से अनुभव हुआ हो — ऐसा नहीं है। तथा आनंद का जो अनुभव हुआ, वह राग का निमित्त है; परन्तु अनुभव के कारण राग हुआ — ऐसा नहीं है।

आत्मा चेतयिता प्रभु, अपने स्वभाव से उपजते पुद्गलादि द्रव्यों को, स्व के चेतयिता स्वभाव द्वारा त्यागता है, निषिद्ध करता है। ऐसा कहा जाता है कि 'आत्मा राग का त्याग करता है।' पर ऐसा कहना व्यवहार है। आत्मा तो स्वयं राग के अभाव स्वभाव रूप है। आत्मा के स्वरूप में लीन होने पर राग उत्पन्न ही नहीं होता। — उसे ही राग का त्याग करना कहते हैं।

इसप्रकार यह आत्मा की ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायों का निश्चय-व्यवहार स्वरूप है।

गाथा ३५६ से ३६५ के भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि यह आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु है। जानना-देखना इसका स्वभाव है। किसी का कुछ करना या किसी से कराना इसके स्वभाव में नहीं है। ऐसे निज स्वभाव की अन्तर्दृष्टि न करने से अनादि से चार गति और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है और पराधीन होकर दुःखी हो रहा है।

अहा! भगवान आत्मा चैतन्यमात्र वस्तु है और जानना, देखना, श्रद्धा करना एवं निवर्तन करना आदि इसके परिणाम हैं।

यहाँ परिणाम का अर्थ किसी परीक्षा का परिणाम जैसा नहीं; बल्कि जिसप्रकार चैतन्य-चैतन्य-चैतन्य सामान्य आत्मद्रव्य है ज्ञान-दर्शन-चारित्र

आदि आत्मा के गुण या शक्तियाँ हैं, इन्हीं गुण व शक्तियों के परिणमन रूप प्रति समय जो जानने, देखने, श्रद्धान करने रूप पर्यायें होती हैं, उसे परिणाम कहा है। पुण्य-पाप आदि विभावों से निवर्तमानरूप जो पर्यायें होती हैं, वे परिणाम हैं।

अनादि काल से इस जीव ने ऐसे ज्ञान-श्रद्धान व पुण्य-पाप से निवर्तमान रूप परिणाम तो किए नहीं, मात्र पुण्य-पाप के भाव कर-करके स्वर्ग-नरक आदि में अनन्त भव धारण करके दुःखी होता रहा है। अरे! अनेक बार तो बड़ा मांडलीक राजा हुआ, बड़ा देव भी हुआ; परन्तु स्वरूप के ज्ञान-श्रद्धान बिना वह आकुलता की भट्टी में जलता रहा है।

आगे कहते हैं कि निश्चय से देखें तो आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक-दर्शक भी नहीं कह सकते।

आत्मा को शरीरादि परद्रव्य की क्रियाओं का कर्ता और कुटुम्ब आदि के पालन-पोषण की क्रियाओं का कर्ता कहना तो दूर ही रहा; यहाँ तो यह कहते हैं कि पर का जानना भी निश्चय से आत्मा के नहीं है। अहा! चैतन्यस्वभावी प्रभु स्वयं, स्वयं में ही रहकर स्वयं को जानता है। वहाँ यदि ऐसा भाव-भावक का भेद करने में आये तो वह भी व्यवहार है।

अरे अज्ञानी ने अबतक ऐसी तत्त्वदृष्टि नहीं की; अकेले पुण्य-पाप ही करता रहा; परन्तु यह तो संसार में रुकने की ही बात है।

देखो न! यहाँ कह रहे हैं कि परद्रव्य के और आत्मा के निश्चय से परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है। भगवान आत्मा ही स्वयं स्वतः देखने-जानने रूप परिणमता है तथा स्वतंत्र सत् स्वभावी परद्रव्य स्वयं स्वतः अपनी पर्याय से परिणमता है। परद्रव्य सदैव आत्मा से बाह्य ही है; क्योंकि एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य की पर्याय में कभी प्रवेश नहीं करती। इसलिए निश्चय से आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कह सकते। गजब बात है भाई! ज्ञान परद्रव्य को जाने, शरीर को जाने, राग को जाने — ऐसा कहना व्यवहार है, वास्तव में तो ज्ञान स्वयं, स्वयं में रहकर अपने परिणमन को ही जानता है। जब वस्तु

स्थिति यह है तो आत्मा पर की दया पालता है या पर जीवों पर दया करता है और पर को दान देता है — यह बात ही कहाँ रही?

दया के भाव भी अपने स्वकाल में स्वयं ही आते हैं। तू तो अपने उन दया के भावों का भी मात्र ज्ञाता ही है और ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव में तो पर सम्बन्धी ज्ञान की पर्याय भी स्वयं अपनी योग्यता से ही हुई है।

भाई, थोड़ी धीरज धारण कर सुन! तू आनन्दकन्द प्रभु अन्दर में एक ज्ञायकभाव से भरा प्रभु है। जिसतरह पानी में शीतलता भरी पड़ी है, उसीतरह सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा एक ज्ञायकभाव से भरा पड़ा है और जानना-देखना इसका स्वयं का परिणाम है। निश्चय से यह नहीं कह सकते कि ये जानने-देखने के परिणाम व्यवहाररत्नत्रय को जानते हैं। फिर भी व्यवहार से जो ऐसा कहा जाता है, वह कथन मात्र है, क्योंकि राग एवं राग को जाननेवाली ज्ञान पर्याय के बीच में अत्यन्ताभाव है, दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुयें हैं। निश्चय से तो आत्मा अपनी पर्याय को ही जानता है। कहते हैं — 'भावक अपने भाव को जानता है' — ऐसा भेद कहना भी व्यवहार है।

भाई! यह तो केवली द्वारा कथित मार्ग है; जो कि बहुत सूक्ष्म है। उपयोग को सूक्ष्म किए बिना यह बात समझ में नहीं आयेगी। भाई! जो चैतन्य रत्न तेरे अन्दर विद्यमान है, वह जबतक तेरी दृष्टि में नहीं आ जाता, तबतक यह पर का जानना-देखना भी तुझे है ही नहीं — ऐसा जान; क्योंकि ऐसा व्यवहार भी नहीं कर सकता।

भाई! जो स्वयं को राग का कर्ता मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है ही; परन्तु आत्मा दया, दान, भक्ति आदि के राग को जानता है, उसे भोगता है — ऐसा कहना भी व्यवहार है। देखो, आत्मा को निश्चय से पर का ज्ञायक भी नहीं कह सकते, पर का दर्शक नहीं कह सकते, पर के त्याग का कर्ता नहीं कह सकते; क्योंकि ज्ञानस्वभाव ज्ञेय में प्रविष्ट नहीं होता, भिन्न-भिन्न ही रहता है। अहा! भाई! परद्रव्य की पर्याय को ज्ञान अड़ता तक नहीं है, छूता तक नहीं है।

अरे, लोक की क्या बात कहें! लोक तो 'दया, दान, व्रत आदि के परिणामों से अर्थात् ऐसे व्यवहार से निश्चय होता है' — ऐसा मानता है। परन्तु क्या

ऐसे रागरूप व्यवहार से वीतरागता संभव है? नहीं, ऐसा नहीं है। तू देख तो सही प्रभु! तेरे अस्तित्व में एक ज्ञान-दर्शन स्वभावी चैतन्य तत्त्व पड़ा है और जानने-देखने का उसका अपना परिणाम होता है, वह अपना-अपने से ही होता है। रागादि परद्रव्य तो उसे छूता ही नहीं है, जब परद्रव्य उसे छूता ही नहीं है तो फिर वह परद्रव्य से होता है, यह बात ही कहाँ रही? अहा! स्वयं, स्वयं को जाने — जब ऐसा स्व-स्वामी अंशरूप व्यवहार भी कार्यकारी नहीं है, तो फिर व्यवहार के राग से निश्चय होता है यह बात तो सर्वथा मिथ्या ही है।

अहा! जिसप्रकार चक्रवर्ती छह खण्ड को साधता है, जीतता है; उसीप्रकार चैतन्यचक्रवर्ती प्रभु ज्ञायक छह द्रव्य को साधता है, जानता है। ऐसा कहना भी व्यवहार है। अरे! आजकल तो सम्यग्दर्शन के स्वरूप समझने में भी बहुत गड़बड़ी है। कहते हैं कि देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग समकित है तथा व्रत, तप के राग की क्रिया चारित्र है; परन्तु भाई, वस्तु का ऐसा स्वरूप नहीं है। वस्तु तो सदा वीतराग स्वभावी है तथा उसकी जानने-देखने रूप वीतराग परिणति धर्म है।

आत्मा में एक सर्वज्ञत्व शक्ति है। अपनी सर्वज्ञत्व शक्ति में एकाग्र होने पर पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट होती है और वस्तुत: तो भगवान उसे जानते हैं। तथा भगवान अपने केवलज्ञान में छहों द्रव्यों को जानते हैं — ऐसा कहना तो व्यवहार है। अहा! पर्यायवान आत्मा पर्याय को जानता है — ऐसा भेद से कहना भी व्यवहार है और 'ववहारोऽभूयत्थो' अर्थात् व्यवहार अभूतार्थ है, आश्रय करने योग्य नहीं है — ऐसी बात है! भाई! तेरी वस्तु कैसी है, तेरा शक्ति स्वभाव कैसा है? — यह बात आचार्य यहाँ बता रहे हैं।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा को पर का दर्शक अर्थात् पर की श्रद्धा करनेवाला भी नहीं कह सकते। आत्मा को निश्चय से देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करनेवाला भी नहीं कह सकते। हाँ, व्यवहार से भले कहें तो कहें; पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है।

यहाँ तो यहाँ तक कह दिया है कि 'आत्मा की श्रद्धा करना समकित है' — यदि ऐसा भेद पाड़े तो भी व्यवहार की कोटि में ही आता है। अभी तो ऐसी बात कान में पड़ना भी कठिन हो गया है। बिचारे अपने-अपने सम्प्रदाय के पक्ष

में पड़कर यों ही जीवन पूरा कर रहे हैं। उनका यह अवसर तो यों ही चला जा रहा है, इस तरह प्रमाद में समय बीतने पर मौका तो चूक जायगा न!

अहा! निश्चय से आत्मा को पर का — राग का त्याग करनेवाला तो कह ही नहीं सकते। अन्दर में जब यह आत्मा ज्ञानरूप परिणमन करता है, तब राग की उत्पत्ति ही नहीं होती; उसे ही व्यवहार से राग का त्याग किया — ऐसा कहा जाता है। समयसार की ३४ वीं गाथा में स्पष्ट लिखा है कि परमार्थ से भगवान आत्मा ने राग का त्याग किया — ऐसा कथन लागू ही नहीं पड़ता।

भाई! यह जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग आदि भाव हैं, वे स्वयं आत्मा ही हैं; भाव-भावक का भेद कहना भी व्यवहार है। निश्चय से भाव और भावक का भेद नहीं है। नित्यानंद प्रभु आत्मा स्वयं है, उसमें मगन होने पर राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई तो राग का त्याग किया — ऐसा कथन मात्र है।

देखो! पौद्‌गलिक शरीर को आत्मा जानता है — ऐसा कहना असद्‌भूत व्यवहार है। ज्ञान स्वयं अपने को जानता है — ऐसा कहना सद्‌भूत व्यवहार है। ये दोनों व्यवहार अभूतार्थ हैं। ११वीं गाथा में आया है कि व्यवहार अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। इसका अर्थ है कि व्यवहार करने योग्य नहीं है।

यद्यपि जानना-देखना-श्रद्धा करना — ये भाव अपने आत्मा के अस्तित्व में ही हैं, इसकारण ये आत्मा ही हैं; परन्तु आत्मा स्वयं अपने को जानता है, देखता है एवं श्रद्धान करता है — इत्यादि कथन भेदकथन होने से व्यवहार है। कलश टीका में भी आया है कि आत्मा अपने निर्मल परिणमन को करता है — ऐसा कहना भी उपचार है। जहाँ ऐसा कहा हो, वहाँ दया-दान आदि व्यवहार के विकल्पों की तो बात ही क्या? इनका कर्तापना तो प्रगट अज्ञान है ही। छहकाय की दया के विकल्पों का कर्ता होना तो अज्ञान ही है।

देखो न! आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने चार हजार श्लोकप्रमाण आत्मख्याति टीका लिखी। कैसी अद्‌भुत टीका है। इस टीका को करके वे कहते हैं कि प्रभु! यह टीका मैंने (अमृतचन्द्र) बनाई है — ऐसा मत मानो। इसमें मेरा कोई कर्तव्य नहीं है। मैं तो स्वरूपगुप्त हूँ और यह टीका तो शब्दों से हुई है।

अत: मैंने इन शब्दों की क्रिया की है' — ऐसा मत मानो। तथा मैं इसका ज्ञान करानेवाला और तुम ज्ञान करनेवाले — ऐसा भी नहीं मानना। जाननेवाला भी तू स्वयं है और तुझे उसका ज्ञान करानेवाला कर्ता भी तू स्वयं ही है।

प्रवचनसार की टीका में भी आचार्यदेव अन्त में छंद २१ में कहते हैं कि — "वस्तुत: पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप से परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें परिणमित नहीं करा सकता। उसीप्रकार वस्तुत: सभी पदार्थ स्वयं ज्ञेयपने प्रमेयपने परिणमित होते हैं। शब्द उन्हें ज्ञेय बनाकर समझा नहीं सकते। इसलिए आत्मा सहित विषय व्याख्येय है, समझाने योग्य है। वाणी का गुंथन व्याख्या है और अमृतचन्द आचार्य व्याख्याता हैं — इसप्रकार मानकर जन मोह में मत नाचो। परन्तु स्याद्वाद विद्या के बल से विशुद्धज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्व-तत्व को प्राप्त करके अव्याकुल रूप से परमानन्द परिणामरूप परिणत होओ।"

आचार्य कहते हैं कि आत्मा स्वयं आनन्द का सागर एवं चैतन्यनिधि है, उसे विशुद्धज्ञान कला से प्राप्त करके आज ही निराकुल आनन्द रूप परिणत हो जाओ। अभी नहीं, अभी नहीं, अभी तो बेटे-बेटियों को ठिकाने लगाना है; ऐसा मत कहो; क्योंकि बेटे-बेटियों को ठिकाने लगाने के चक्कर में यदि अपना काम किए बिना तुम्हीं ठिकाने लग गये तो फिर क्या होगा? वास्तव में परद्रव्य के साथ तुम्हारा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अत: तुम वादा मत करो। प्रभु! अज्ञानी जीव राग की एकता के चक्कर में एवं देह की वेदना की पीड़ा में देह छोड़कर पता नहीं कब किस तिर्यंच आदि दुर्गति में चला जायगा और तेरे सारे मंसूबे यों ही धरे रह जायेंगे। क्या गारंटी है कि बुढ़ापा आयेगा ही? और यदि आ भी गया तो कौन जाने उस बुढ़ापे में हमारी क्या दशा होगी? आत्मकल्याण के लायक स्थिति रहेगी भी या नहीं ? अत: जितने जल्दी बन सके, स्वरूप में सावधान हो जाओ।

देखो, श्रीमद् राजचन्द आत्मज्ञानी थे। तैंतीस वर्ष की छोटी उम्र थी। तब उन्हें ख्याल में आ गया था कि देह छूटने का अवसर नजदीक है। अत: वे अन्त समय में बोले — "मनसुख! मैं अपने स्वरूप में लीन होता हूँ। 'बा' को दु:खी नहीं होने देना।"

देह छूटने के काल में उपयोग को बाहर से समेट लिया और अन्तरलीन हो गये। बस, फिर क्या था एकदम शान्ति! शान्ति!! इसतरह आत्मा के अनुभव सहित देह छोड़ा।

पण्डित बनारसीदासजी भी समकिती ज्ञानी थे। उन्होंने समयसार नाटक बनाया है। उन्हें देह छोड़ने में कुछ समय लगा। आस-पास बैठे लोगों को लगा कि पण्डितजी का देह छूटता नहीं है, जीव कहीं अटक गया है। ऐसी चर्चा हुई। पण्डितजी ने उनकी चर्चा सुनी; परन्तु वे बोल नहीं सकते थे, अतः उन्होंने इशारा कर स्लेट मँगाई और उस पर लिखा –

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना;
प्रगट्यो रूप स्वरूप, अनंत सु सोहना।
जा परजय को अन्त, सत्य करि जानना;
चले बनारसीदास, फेरि नहीं आवना ॥

पश्चात् आत्मज्ञानपूर्वक समाधि सहित देह छोड़ा।

सामान्यजनों को ज्ञानी के अन्तर परिणामों की धारा पहचानना तो कठिन पड़ता है न! वे तो बाहर में शरीर की क्रिया से ही अन्तर परिणामों का माप करते हैं। देह छूटने में यदि अधिक समय लगे और रोगजनित पीड़ा हो तो सामान्यजन उसे बुरा मानते हैं; परंतु यह तो जड़ की क्रिया है। पीड़ा भी कर्मजन्य स्थिति है, ऐसी स्थिति में भी ज्ञानी के अन्तरंग में तो शान्ति और समाधि ही होती है।

निश्चय से भाव एवं भाव करनेवाले में भेद नहीं है; परन्तु व्यवहारनय से आत्मा को परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि परद्रव्य में और आत्मा में निमित्त-नैमित्तिक भाव है।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार के भेदों को जानकर यथावत श्रद्धान करना।

ज्ञान आदि भावों में परद्रव्य निमित्त होने से निमित्त की मुख्यता से – व्यवहार नय से – अभूतार्थ नय से – ऐसा कहा जाता है कि आत्मा परद्रव्य का ज्ञाता है, दृष्टा है; निश्चय से ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। इसतरह जैसा कहा, वैसा ही श्रद्धान करना।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जनाः ॥ २१५ ॥

श्लोकार्थ : [शुद्ध-द्रव्य-निरूपण-अर्पित-मतेः तत्त्वं समुत्पश्यतः] जिसने शुद्ध द्रव्य के निरूपण में बुद्धि को लगाया है, और जो तत्त्व का अनुभव करता है, उस पुरुष को **[एक-द्रव्य-गतं किम्-अपि द्रव्य-अन्तरं जातुचित् न चकास्ति]** एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता। **[यत् तु ज्ञानं ज्ञेयम् अवैति तत् अयं शुद्ध-स्वभाव-उदयः]** ज्ञान ज्ञेय को जानता है वह तो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। **[जनाः]** जबकि ऐसा है तब फिर लोग **[द्रव्य-अन्तर-चुम्बन-आकुलधियः]** ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से आकुल बुद्धिवाले होते हुए **[तत्त्वात्]** तत्त्व से (शुद्ध स्वरूप से) **[किं च्यवन्ते]** क्यों च्युत होते हैं?

भावार्थ : शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखाई नहीं देता। ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। ऐसा होने पर भी, ज्ञान में अन्य द्रव्यों का प्रतिभास देखकर यह लोग ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूप से च्युत होते हैं कि 'ज्ञान को परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध है'; यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि — यह लोग तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं? ।२१५।

कलश २१५ पर प्रवचन

यहाँ कहते हैं कि आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय त्रिसत्वस्वरूप है। उसमें उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें हैं और त्रिकाली एकरूप ध्रुव द्रव्य है। त्रिकाली

एकरूप ध्रुव द्रव्य निश्चयनय का विषय है; क्योंकि यह भी अंश है न? एक समय की पर्याय भी अंश है और त्रिकाली ध्रुव द्रव्य भी अंश है; परन्तु वह अंशरूप ध्रुव द्रव्य भी दृष्टि में स्थापित करने के लिए अपने आप में पूर्ण है, शुद्ध एकरूप है। अहा! ऐसे त्रिकाली शुद्ध, चैतन्य सामान्य, ध्रुव एक ज्ञायक भावरूप द्रव्य को जिसने दृष्टि में स्थापित किया, वह सम्यग्दृष्टि है।

अन्दर में वस्तु अनन्त-अनन्त गुण स्वरूप शुद्ध चैतन्य चमत्कार है। उसके अनुभव में जिसने अपनी बुद्धि को स्थापित किया और जो शुद्ध तत्त्व का अनुभव करता है, उस सम्यग्दृष्टि पुरुष को एक द्रव्य के अन्दर कोई भी अन्य द्रव्य रहता भासित नहीं होता। यह तो चौथे गुणस्थान की बात है। पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक की एवं छठवें-सातवें गुणस्थानवाले मुनिराजों की दशा तो और ही अलौकिक होती है।

भगवान आत्मा सच्चिदानंद ज्ञानानंद प्रभु अन्दर में सदा एकपने विराजमान है। ऐसे भगवान आत्मा का जिसको अनुभव हुआ, उसे पर्याय में अपूर्व एवं अद्‌भुत आनन्द आता है। अहा! ऐसे धर्मी पुरुष को एक द्रव्य के अन्दर कोई भी अन्य द्रव्य का रहना बिल्कुल भासित नहीं होता। शुद्ध आत्मद्रव्य में शरीर, मन, वाणी, पैसा, कर्म व पुण्य-पाप के भाव रहते हैं — ऐसा धर्मी-ज्ञानी पुरुष को कदापि भासित नहीं होता। जिसतरह एक अंगुली में दूसरी अंगुली रहती भासित नहीं होती, उसी तरह ज्ञानी को एक वस्तु में दूसरी वस्तु भासित नहीं होती; क्योंकि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का सर्वथा अभाव है।

ये शरीर, मन, वाणी, पंचपरमेष्ठी भगवंत और पुण्य-पाप के भाव आदि परज्ञेय हैं; उन्हें जो ज्ञान जानता है; वह तो ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है न! और वह स्व-परप्रकाशकपना पर्याय में प्रगट होने से वह ज्ञान ज्ञेयों को जानता है; परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि वह ज्ञान ज्ञेयों से हुआ है। ज्ञेयों को प्रकाशित करती अपनी जो ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई वह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है अर्थात् वह ज्ञान के स्वभाव-सामर्थ्य से प्रगट हुई है।

ये दया-दान-व्रत आदि के जो विकल्प उठते हैं, वे वस्तुतः परज्ञेय हैं। यद्यपि ज्ञान परज्ञेयों को जानता है, तथापि वे परज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जाते तथा ज्ञान भी ज्ञेयों में नहीं जाता। वास्तव में तो ज्ञान ज्ञेयों को छूता ही नहीं है। ज्ञान व ज्ञेय भिन्न-भिन्न ही रहते हैं।

प्रश्न : यह ठीक है कि ज्ञान एवं ज्ञेय भिन्न-भिन्न ही रहते हैं; पर इससे धर्म का क्या सम्वन्ध ?

उत्तर : अरे! स्व-स्वरूप को यथार्थ जाने बिना मिथ्या भाव के कारण जीव चार गतियों में अनन्त दुःख भोग रहा है। 'पर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, और पुण्य-पाप के भावों में पुण्य भला है, पाप वुरा है' — ऐसा मानना महा मिथ्यात्व है। यहाँ कहते हैं कि जिसको ऐसे मिथ्याभाव का नाश होकर शुद्ध ज्ञानानन्दमय अपनी आत्मवस्तु का यथार्थ भान हुआ है, उसे व्यवहार रत्नत्रय के विकल्प भी अपने में अपने रूप भासित नहीं होते, भले भासित नहीं होते। शुद्ध निरंजन, ज्ञानमय, निरपेक्ष, आनंदकंद प्रभु स्वयं है — ऐसी जिसको दृष्टि हुई और अनुभव हुआ, उसे कोई भी परद्रव्य व परभाव स्वयं में रहता हुआ भासित नहीं होता; क्योंकि ज्ञान जो ज्ञेयों को जानता है, वह तो ज्ञान के शुद्धस्वभाव का उदय है। भाई! ऐसी तत्त्वदृष्टि होना महा दुर्लभ है। निश्चय तो स्वयं, स्वयं को ही जानता है, अपनी ज्ञान पर्याय को ही जानता है। ओहो! अनन्त गुणरत्नाकर चैतन्यचमत्कार प्रभु स्वयं है। आत्मा में अन्दर अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शांति, स्वच्छता, प्रभुता का भंडार भरा है। जिसने ऐसी अपनी प्रभुता की महिमा पर्याय में अनुभवी, वह ऐसा जानता है कि कोई भी परज्ञेय मुझमें है ही नहीं। जानने में आता हुआ व्यवहार-रत्नत्रय का राग भी मुझमें नहीं है।

प्रश्न : हाँ, आपका कहना ठीक है; परन्तु ज्ञान उस राग को जानता तो है न?

उत्तर : हाँ जानता है, परन्तु राग को जानने का अर्थ मात्र यही है कि ऐसी राग को जानने रूप अपने ज्ञानस्वभाव के सामर्थ्य की ही प्रगटता है। इसमें राग

से कोई सम्बन्ध नहीं है। राग के कारण ज्ञान हुआ हो – ऐसा कदापि नहीं है। भाई! वस्तुस्वरूप ही ऐसा है।

ज्ञान ज्ञेयों को जानता है; परन्तु वह ज्ञान उन ज्ञेयों का स्पर्श नहीं करता। फिर भी अज्ञानी जीव ऐसी मिथ्या-मान्यता से आकुलित होता है कि 'ज्ञेयों के कारण ज्ञान होता है।' इसप्रकार ज्ञेयों में अटकने से अपने निजचिदानन्दमय शुद्ध आत्मा को छोड़ देता है।

आचार्य खेद प्रगट करते हुये कहते हैं कि अरेरे ··! अज्ञानी जीव वस्तु स्थिति के विरुद्ध मान्यता करके ज्ञेय के साथ एकाकार हो रहा है। भाई! ज्ञान पर को जानता है; परन्तु पर का स्पर्श नहीं करता अर्थात् पररूप नहीं हो जाता। तथा ज्ञान पर को जानता है; परन्तु परज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होते अर्थात् परज्ञेयों के कारण ज्ञान नहीं होता, आत्मा में ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं आती।

भाई! जिसतरह सोने में कीट या जंग नहीं लगती, उसीतरह भगवान आत्मा में रागरूप कीट या जंग नहीं लगती, राग आत्मा का स्पर्श ही नहीं करता। आत्मा सदैव ही एक ज्ञायक स्वभाव मात्र वस्तु है, उसमें अशुद्धता और आवरण होता ही नहीं है। बापू! तू सदा ही पूर्णानन्द प्रभु पूर्ण, शुद्ध और निरावरण है। तेरी जो एक समय की ज्ञान की दशा होती है, वह ज्ञेयों के कारण नहीं होती। अरे! ज्ञेयों को तो ज्ञान छूता तक नहीं है। लोगों को अपने असीमित अनंतज्ञान स्वभाव के सामर्थ्य की खबर नहीं है। धर्मी पुरुष जानते हैं कि स्वपरप्रकाशक ज्ञान अपनी सामर्थ्य से ही, स्वाधीनता से ही प्रगट होता है।

अज्ञानी जीव व्यर्थ ही ज्ञान को परज्ञेयों के साथ पराधीन मानकर इस विपरीत मान्यता से आकुलित होकर दुःखी हुआ करते हैं।

कलश २१५ के भावार्थ पर प्रवचन

देखो, प्रत्येक वस्तु का स्वरूप पर से निरपेक्ष स्वयं सिद्ध है; वास्तव में पर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। देखो, यहाँ कहते हैं कि – "शुद्धनय की दृष्टि से अन्तर में शुद्ध चैतन्य स्वभाव से भरा स्वयं निर्मलानन्द प्रभु विद्यमान है। जब उस दृष्टि से विचार करते हैं तो एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में प्रवेश होता

दिखाई नहीं देता। यह शरीर, मन, वाणी आदि परद्रव्यों का भगवान आत्मा में प्रवेश नहीं हुआ है। ज्ञान में जो ये कर्म, नोकर्म आदि परद्रव्य प्रतिभासते हुये प्रतीत होते हैं, सो यह तो ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है। इसमें परद्रव्य का कोई कार्य नहीं है। रागादि पुण्य-पाप के भाव तथा कर्म, नोकर्म आदि जो ज्ञान में जानने में आते हैं, सो यह तो ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है।

ज्ञानानन्दस्वरूपी भगवान आत्मा का अन्तर में लक्ष्य करने पर जो ज्ञान प्रगट हुआ, वह ज्ञान रागादि को और शरीर-मन-वाणी आदि को जानता है; परन्तु वह ज्ञान ज्ञेयों को स्पर्श नहीं करता। ज्ञानस्वरूपी प्रभु स्वयं ज्ञान में रहकर ज्ञेयों को जानता है; पर ज्ञान ज्ञेयों में जाता नहीं है और ज्ञेय ज्ञान में प्रवेश नहीं करता। धर्मात्माओं को अशुभ से बचने के लिए दया, दान, देव-शास्त्र-गुरु की विनय-भक्ति आदि शुभरागरूप व्यवहार होता है; धर्मात्मा इन भावों को जानते भी हैं; परन्तु उन भावों को जाननेवाला ज्ञान उन्हें छूता नहीं है और वह शुभभावरूप व्यवहार भी ज्ञान का स्पर्श नहीं करता। दोनों अपने-अपने में स्वतंत्र हैं। वस्तुस्वरूप ऐसा गजब का है।

प्रश्न : ज्ञान ज्ञेयों का स्पर्श किये विना कैसे जाने?

उत्तर : अरे भाई! जिसप्रकार दर्पण में अग्नि व वर्फ आदि का जो प्रतिभास होता है, वह दर्पण की स्वच्छता का ही स्वभाव है, दर्पण में कहीं अग्नि वगैरह का प्रवेश नहीं हो जाता; उसीप्रकार यह भगवान आत्मा चैतन्यदर्पण है। इसमें शरीर-मन-वाणी आदि दिखाई देते हैं, प्रतिभासित होते हैं; परन्तु वे वस्तुयें ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हो जातीं तथा ज्ञान भी उनमें प्रविष्ट नहीं हो जाता।

भाई! स्वयं में अपने ही लक्ष्य से ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है।

प्रश्न : क्या चश्मा के विना ही ज्ञान से जाना जा सकता है?

उत्तर : हाँ, भाई! चश्मा व ज्ञान के बीच तो अत्यन्ताभाव है। चश्मा से तो ज्ञान का कोई सम्बन्ध ही नहीं है; क्योंकि चश्मा तो जड़वस्तु है, उसमें ज्ञान है ही कहाँ? यहाँ तो यह वात है कि ज्ञान चश्मा आदि परपदार्थों को जानता है; परन्तु ज्ञान उन परपदार्थों का स्पर्श नहीं करता तथा वे परपदार्थ या परज्ञेय ज्ञान का स्पर्श नहीं करते। ऐसी वस्तुस्थिति का जबतक यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक वह जीव मिथ्यादृष्टि है।

अब कहते हैं कि जो लोग ज्ञान में परद्रव्यों का प्रतिभास देखकर — ऐसा मानते हैं कि पर के कारण ज्ञान होता है, वे अज्ञानी है। देव-शास्त्र-गुरु भी परद्रव्य हैं। अत: उनसे ज्ञान होना मानना भी अज्ञान है। यद्यपि ज्ञान होने के काल में वे बाह्यनिमित्त हैं; परन्तु वे ज्ञानोत्पत्ति में वास्तविक कारण नहीं हैं।

यद्यपि यह बात निमित्त के पक्षपातियों को और व्यवहार के पक्षवालों को कड़वी लगती है; परन्तु सत्य तो यही है। भगवान आत्मा ही एकमात्र अपने आश्रय का स्थान है, विश्राम का स्थान है।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो आप हमें यह सब क्यों सुनाते हो?

उत्तर : अरे प्रभु! यह हमारे द्वारा जो वाणी की क्रिया देखने में आ रही है, यह तो वस्तुत: जड़ की क्रिया है। भगवान आत्मा तो अन्दर अरूपी चैतन्य का पिण्ड शुद्ध चिन्मात्र वस्तु है। उस वाणी को यह आत्मा कभी करता ही नहीं है। वाणी तो अपने स्वयं के कारण होती है। आत्मा तो मात्र उस वाणी को जानता भर है। वाणी का जानना भी वाणी के कारण नहीं होता; बल्कि जाननेवाला ज्ञायक प्रभु अपने में रहकर स्वयं से ही जानता है।

भाई! सम्यग्दर्शन भी स्वभावसन्मुखता के अलौकिक पुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाली वस्तु है। चारित्र की तो बात ही क्या करें? वह तो और भी महा पुरुषार्थ से प्राप्त होता है।

आचार्य करुणा करके कहते हैं कि अरे रे! यह जगत परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध मानकर पराधीन होकर शुद्ध तत्त्व से भ्रष्ट होकर कहाँ भटक रहा है?

पुन: इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं :-

(मदाक्रान्ता)

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभाव: ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव॥ २१६॥

श्लोकार्थ : [शुद्ध-द्रव्य-स्वरस-भवनात्] शुद्ध द्रव्य का (आत्मा आदि द्रव्य का) निजरसरूप (-ज्ञानादि स्वभाव में) परिणमन होता है इसलिये,

[**शेषम् अन्यत्-द्रव्यं किं स्वभावस्य भवति**] क्या शेष कोई अन्य द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभाव का हो सकता है? (नहीं।) [**यदि वा स्वभावः किं तस्य स्यात्**] अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है? (नहीं। परमार्थ से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है।) [**ज्योत्स्नारूपं भुवं स्नपयति**] चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है [**भूमिः तस्य न एव अस्ति**] तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती; [**ज्ञानं ज्ञेयं सदा कलयति**] इसप्रकार ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है [**ज्ञेयम् अस्य अस्ति न एव**] तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता।

भावार्थ : शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाये तो किसी द्रव्य का स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। जैसे चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है किन्तु पृथ्वी चाँदनी की किंचित्मात्र भी नहीं होती, इसीप्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता है किन्तु ज्ञेय ज्ञान का किंचित्मात्र भी नहीं होता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है इसलिये उसकी स्वच्छता में ज्ञेय स्वयंमेव झलकता है, किन्तु ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता॥ २१६ ॥

कलश २१६ पर प्रवचन

इस कलश में भी पूर्व कलश के कथन को ही दृढ़ करते हैं। यहाँ कहते हैं कि शुद्धद्रव्य का निजरसरूप से परिणमन होता है। आत्मा का परिणमन निजरसरूप से आत्मा से होता है तथा वाणी का परिणमन वाणी से होता है। आत्मा में ज्ञान होता है, वह स्वयं ज्ञान के कारण ही होता है; पर के कारण या वाणी के कारण नहीं। पहले ज्ञान नहीं था बाद में भगवान की वाणी सुनकर हुआ — ऐसा मानना मिथ्या है। आत्मा में ज्ञान की पर्याय निजरस से प्रगट होती है और वाणी की वाणीरूप पर्याय भी परमाणु के निजरस से होती है। आत्मा उसे नहीं करता।

दया, दान आदि शुभ के विकल्प भी आत्मा के ज्ञानस्वभाव से भिन्न हैं। — ऐसा भेदज्ञान करने से धर्म प्रगट होता है और मुक्ति होती है।

अहा! संत पुकार करके कहते हैं — क्या ज्ञानानंदस्वरूप प्रभु आत्मा राग व शरीर का हो जाता है और क्या राग व शरीर ज्ञानानन्द का हो जाता है? नहीं,

ऐसा कदापि नहीं होता। आत्मा का ज्ञान निजरस से प्रगट होता है और वह अपनी सामर्थ्य से परज्ञेयों को जानता है। उसे परज्ञेयों की और किन्हीं भी बाह्य निमित्तों की अपेक्षा नहीं है। परमार्थ से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ संबंध नहीं है।

भगवान आत्मा शुद्ध, एक, ज्ञायक, आनंदमय चैतन्य तत्त्व है तथा दया, दान, व्रत आदि आस्रव तत्त्व है और शरीर आदि अजीव तत्त्व है। इनका परस्पर में कोई संबंध नहीं है अर्थात् एक तत्त्व अन्य तत्त्व रूप नहीं होता।

जिसप्रकार चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है, तो भी पृथ्वी चाँदनीरूप नहीं होती तथा चाँदनी भी पृथ्वीरूप नहीं होती। उसीप्रकार ज्ञान ज्ञेयों को सदा जानता है, तो भी ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता तथा ज्ञेय भी ज्ञान रूप नहीं होते। भाई! प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। भिन्न-भिन्न तत्त्वों को मिलाकर एक मानना मिथ्या है। अहा! जिसने अपने शुद्ध स्वरूप चैतन्य सत्ता से इन्कार करके देहादि को और राग को स्वीकार किया है; वह जीव मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है, आत्मघाती है; क्योंकि उसने अपनी सत्ता से इन्कार करके अपनी ही हिंसा की है। अरे! इसने अपने ऊपर कभी दया की ही नहीं। अपना आत्मा सदा ही ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है, उसकी प्रतीति करना ही अपनी दया है। स्वयं देहवाला व रागवाला मानना तो स्व-हिंसा है। अन्य जीवों की दया पालने की क्रिया तो कोई कर ही नहीं सकता; क्योंकि परद्रव्य स्वतंत्र है, एक द्रव्य में अन्य परद्रव्य का प्रवेश तो कभी हो ही नहीं सकता। हाँ, जीवों की दया पालने का जो भाव आता है, वह राग है और राग हिंसा है।

प्रश्न : ज्ञानी के भी तो दया-दान-भक्ति आदि का राग आता है न! उसे क्या कहें?

उत्तर : हाँ, आता है; परन्तु ज्ञानी के राग का स्वामित्व नहीं होता। राग राग के कारण होता है अर्थात् वह अपनी स्वतंत्र योग्यता से होता है। उसे ज्ञानी तो मात्र जानते हैं। उनका ज्ञान उस राग से लिप्त नहीं होता। ज्ञानी के निरन्तर राग से भिन्नपने का भेदज्ञान वर्तता है। वह राग को अपने स्व-परप्रकाशक ज्ञान की पर्याय में भिन्न रूप से जानता है।

जो ऐसा मानते हैं कि राग से मुझे लाभ होता है और ज्ञान भी होता है; वह राग के साथ अभेदपना करता है, इसकारण वह मिथ्यादृष्टि है। वास्तव में

जीव ज्ञान और आनन्द से भरा पूर्णानन्द प्रभु है। बस, इसी का नाम जैनधर्म है। राग की जो उत्पत्ति होती है, वह तो जीव का जीवन ही नहीं है; क्योंकि राग के व जीव के एकपना नहीं है।

कलश २१६ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्धदृष्टि से देखा जाय तो किसी भी द्रव्य का स्वभाव किसी अन्य द्रव्य-रूप नहीं होता। भाई! यह तो मूल बात है। इस कारण आत्मा शरीर का एवं शरीर आत्मा का कुछ क़र सके — ऐसा कभी संभव नहीं है।

अरे! अपनी चीज शुद्ध चिदानन्दघनस्वरूप है। उसका तो इस अज्ञानी जीव ने कभी आश्रय लिया नहीं। परद्रव्य का अर्थात् दया-दान-व्रत आदि राग का ही आश्रय लिया है, इस कारण आज तक अज्ञान ही उत्पन्न हुआ। अरे! भाई! स्वद्रव्य का आश्रय किये बिना सम्यग्दर्शन ज्ञान होता ही नहीं।

चाँदनी के दृष्टान्त को दुहराते हुये यहाँ कहते हैं कि जिसतरह चाँदनी पृथ्वी को छूती ही नहीं है; उसीतरह यद्यपि ज्ञान ज्ञेयों को जानता है, तो भी ज्ञान ज्ञेयों का जरा भी नहीं होता। भाई! ये जो पंच महाव्रत के परिणाम होते हैं, वे सब रागभाव हैं। ज्ञान उस राग को जानता है, पर ज्ञान रागरूप नहीं होता। ज्ञान राग का स्पर्श नहीं करता और राग भी ज्ञान को छूता तक नहीं है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी प्रभु है। उसकी ज्ञान की स्वच्छता में जानने में आने योग्य ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं, जानने में आ जाते हैं। फिर भी ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता। तथा वह राग भी ज्ञानरूप नहीं होता। ज्ञान में ज्ञेय कभी प्रविष्ट ही नहीं होते तथा ज्ञेय में ज्ञान नहीं जाता।

राग-द्वेष की उत्पत्ति मुख्यतः मिथ्यादृष्टि के ही होती है — ऐसा यहाँ कहा है। सम्यक्दृष्टि को भी किंचित् अस्थिरताजनित राग होता है और उसके कारण थोड़ी आकुलता भी होती है; परन्तु समकिती उसे ज्ञेयरूप से ही जानते हैं, उस रूप हो नहीं जाते अर्थात् ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता।

यह दृष्टिप्रधान कथन है। वैसे ज्ञानी के जो किंचित् राग-द्वेष के विकल्प होते हैं, उनका वैसा वेदन भी होता है, परन्तु वह बात यहाँ नहीं है। •

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं :—

(मन्दाक्रान्ता)

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः॥ २१७॥

श्लोकार्थ :— [**तावत् राग-द्वेष-द्वयम् उदयते**] रागद्वेष का द्वन्द तबतक उदय को प्राप्त होता है [**यावत् एतत् ज्ञानं ज्ञानं न भवति**] कि जबतक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो [**पुनः बोध्यम् बोध्यतां न याति**] और ज्ञेय ज्ञेयत्व को प्राप्त न हो। [**तत् इदं ज्ञानं न्यक्कृत-अज्ञानभावं ज्ञानं भवतु**] इसलिये यह ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप हो — [**येन भाव-अभावौ तिरयन् पूर्णस्वभावः भवति**] कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष) को रोकता हुआ पूर्णस्वभाव (प्रगट) हो जाये।

भावार्थ :— जबतक ज्ञान ज्ञानरूप न हो, ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो, तबतक राग-द्वेष उत्पन्न होता है; इसलिये इस ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप होओ, कि जिससे ज्ञान में जो भाव और अभावरूप दो अवस्थायें होती हैं वे मिट जायें और ज्ञान पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाये। यह प्रार्थना है॥ २१७॥

कलश २१७ पर एवं भावार्थ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि तबतक राग-द्वेष की परम्परा खड़ी रहती हैं, जबतक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं हो जाता, ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता। भाई! आत्मा ज्ञायकस्वभावी प्रभु प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप सर्वज्ञस्वरूप वस्तु है। जिसको ऐसे निजस्वरूप की दृष्टि हुई है, वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है। उसको राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि अपनी ज्ञानरस से भरी आत्मवस्तु में राग-द्वेष नहीं है।

धर्मात्माओं को कमजोरी के कारण किंचित् राग-द्वेष होते हैं; परन्तु प्रगट सम्यग्ज्ञान उस राग-द्वेष के साथ एकमेक नहीं होता।

तवतक राग-द्वेष के द्वन्द का उदय है, जवतक कि ज्ञान ज्ञानरूप नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञेयरूपता को प्राप्त नहीं हो जाते। भाई! शरीरादि पदार्थ और शुभाशुभभाव तो ज्ञेय हैं, परज्ञेय हैं; वे अपने कैसे हो सकते हैं? उन्हें जो ज्ञेयरूप न मानकर अन्यथा मानता है, सो यह तो उसका ही अज्ञान है और जवतक अज्ञान है, तवतक राग-द्वेष का द्वन्द उत्पन्न होता ही रहता है।

अहो! सबको जानने और देखने रूप तेरा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है। किसी भी परद्रव्य को अपनी मानने का तेरा स्वभाव नहीं है। चाहे वह व्यवहार-रत्नत्रय का विकल्प हो या देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग हो — ये सब परभाव हैं, परज्ञेय हैं; उनमें ज्ञानी स्वामित्वबुद्धि नहीं करता। ज्ञानी के ज्ञान से राग भिन्न ही होता है। उसके ज्ञान में राग का प्रवेश ही नहीं। ज्ञान स्वयं में रहकर राग को जानता है।

भगवान आत्मा त्रिकाल शाश्वत एक ज्ञानस्वरूपी वस्तु है। उसे भूलकर जवतक जीव देहादि को और राग-द्वेष आदि को अपना मानता है, तवतक उसके अज्ञान भाव है तथा जवतक अज्ञान भाव है, तवतक राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं और संसार खड़ा रहता है। आचार्य कहते हैं कि अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञान ज्ञानरूप होओ और ज्ञेय ज्ञेयरूप ही रहो — जिससे कि भाव-अभाव को अर्थात् राग-द्वेषरूप उत्पाद-व्यय को रोककर पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जाता है।

भाई! राग कितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, परन्तु जवतक उसमें ममत्व है, और उसे हितकर मानने की वुद्धि है; तवतक अज्ञानभाव ही है और तभी तक जीव में राग-द्वेष का द्वन्द प्रगट होता ही रहता है। इसके विपरीत जिसे अपनी शुद्ध चैतन्य सत्ता का अन्तर में भान हो गया है — ऐसे समकिती धर्मी पुरुषों को अज्ञानभाव दूर हो जाता है और फिर उसके अज्ञानमय राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। वह देहादि परज्ञेयों को पररूप जानकर निजस्वभाव में स्थिर होता जाता है। इसप्रकार ज्ञानस्वभाव में विशेष-विशेष रमणता करता हुआ वह पूर्णस्वभाव को अर्थात् केवलज्ञानस्वभाव को प्राप्त कर लेता है। अहो धर्मी-जीव की ऐसी अचिन्त्य अलौकिक भावना होती है।

कहते हैं कि इतना स्पष्ट होने पर अब यह बात कहाँ रही कि व्यवहार से निश्चय होता है। यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय को परज्ञेयों में डाल दिया है। ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक — इसप्रकार बस, मात्र जाननेरूप रहने से केवलज्ञान प्रगट हो जाता है।

भाई! तात्पर्य यह है कि आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूपी वस्तु है और रागादि ज्ञान में मात्र जानने लायक परज्ञेय हैं, जबतक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं हो जाता और ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं रहते, तबतक राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष की बात है; इसलिए कहते हैं कि अपने अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञानरूप हो जाओ।

अहा! मेरा स्वभाव तो त्रिकाल जाननेरूप ही है। जब ऐसा ज्ञान ज्ञानरूप होता है, तब धर्मीपुरुष के राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। इसप्रकार राग-द्वेष मिट जाते हैं और स्वरूप की एकाग्रता द्वारा ज्ञान पूर्णस्वभाव को प्राप्त होता है।

यद्यपि धर्मी-ज्ञानी के अस्थिरता सम्बन्धी किंचित् राग होता है; परन्तु उसका वह ज्ञाता ही रहता है और क्रम-क्रम से ज्ञानस्वभाव की एकाग्रता का पुरुषार्थ करके उसका भी अभाव कर पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाता है।

समयसार गाथा ३६६ से ३७१

'ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न हैं, आत्मा के दर्शनज्ञानचारित्रादि कोई गुण परद्रव्यों में नहीं है' ऐसा जानने के कारण सम्यग्दृष्टि को विषयों के प्रति राग नहीं होता; और रागद्वेषादि जड़ विषयों में भी नहीं होते; वे मात्र अज्ञानदशा में प्रवर्तमान जीव के परिणाम हैं। — इस अर्थ की गाथाएँ कहते हैं :—

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥ ३६६ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि ॥ ३६७ ॥
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काए ।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु काएसु ॥ ३६८ ॥
णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स ।
ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो ॥ ३६९ ॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ॥ ३७० ॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ॥ ३७१ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥ ३६६ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तत्र कर्मणि ॥ ३६७ ॥
दर्शनज्ञानचारित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु कायेषु ॥ ३६८ ॥
ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चारित्रस्य ।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ॥ ३६९ ॥
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥ ३७० ॥
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ॥ ३७१ ॥

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते; यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते। यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते; यत्र च यन्न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते। अथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यंते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते; एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवंतीत्यायाति; अन्यथा तद्घाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात्। यत एवं ततो ये यावन्तः केचनापि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्यामः, अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात्। यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु? न कुतोऽपि। तर्हि रागस्य कतरा खानिः? रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामाः, ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवंति। एवं ते विषयेष्वसंतः सम्यग्दृष्टेर्न भवंतो, न भवंत्येव।

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन विषय में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन विषय में? ॥ ३६६ ॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन कर्म में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन कर्म में? ॥ ३६७ ॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन काय में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन काय में? ॥ ३६८ ॥
है ज्ञान का, सम्यक्तका, उपघात चारितका कहा।
वहाँ और कुछ भी नहिं कहा उपघात पुद्गलद्रव्य का ॥ ३६९ ॥
जो जीव के गुण है नियत वे कोइ नहिं परद्रव्य में।
इस हेतु से सद्दृष्टि जीवको राग नहिं है विषय में ॥ ३७० ॥
अरु राग, द्वेष विमोह तो जीव के अनन्य परिणाम हैं।
इस हेतु से शब्दादि विषयों में नहीं रागादि हैं ॥ ३७१ ॥

गाथार्थ :—[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने विषये तु] अचेतन विषय में [किंचित् अपि] किंचित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं

हैं, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तेषु विषयेषु] उन विषयों में [किं हंति] क्या घात करेगा?

[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने कर्मणि तु] अचेतन कर्म में [किंचित् अपि] किंचित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तत्र कर्मणि] उन कर्म में [किं हंति] क्या घात करेगा? (कुछ भी घात नहीं कर सकता।)

[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने काये तु] अचेतन काय में [किंचित् अपि] किंचित् मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिये [चेतयिता] आत्मा [तेषु कायेषु] उन कायों में [किं हंति] क्या घात करेगा? (कुछ भी घात नहीं कर सकता।)

[ज्ञानस्य] ज्ञान का [दर्शनस्य च] और दर्शन का [तथा चारित्रस्य] तथा चारित्र का [घातः भणितः] घात कहा है, [तत्र] वहाँ [पुद्गल द्रव्यस्य] पुद्गल द्रव्य का [घातः तु] घात [कः अपि] किंचित् मात्र भी [न अपि निर्दिष्टः] नहीं कहा है। (अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के घात होने पर पुद्गलद्रव्यका घात नहीं होता।

(इसप्रकार) [ये केचित्] जो कोई [जीवस्य गुणाः] जीव के गुण हैं, [ते खलु] वे वास्तव में [परेषु द्रव्येषु] पर द्रव्य में [न संति] नहीं हैं, [तस्मात्] इसलिये [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [विषयेषु] विषयों के प्रति [रागः तु] राग [न अस्ति] नहीं है।

[च] और [रागः द्वेषः मोहः] राग, द्वेष और मोह [जीवस्य एव] जीव के ही [अनन्य परिणामाः] अनन्य (एकरूप) परिणाम हैं, [एतेन कारणेन तु] इस कारण से [रागादयः] रागादिक [शब्दादिषु] शब्दादि विषयों में (भी) [न संति] नहीं हैं।

(रागद्वेषादि न तो सम्यग्दृष्टि आत्मा में हैं और न जड़ विषयों में, वे मात्र अज्ञानदशा में रहनेवाले जीव के परिणाम हैं।)

टीका :— वास्तव में जो जिसमें होता है वह उसका घात होने पर नष्ट होता ही है (अर्थात् आधार का घात होने पर आधेय का घात हो ही जाता है),

जैसे दीपक के घात होने पर (उसमें रहनेवाला) प्रकाश नष्ट हो जाता है; तथा जिसमें जो होता है वह उसका नाश होने पर अवश्य नष्ट हो जाता है (अर्थात् आधेय का घात होने पर आधार का घात हो जाता ही है), जैसे प्रकाश का घात होने पर दीपक का घात हो जाता है। और जो जिसमें नहीं होता वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घड़े का नाश होने पर घट-प्रदीप का नाश नहीं होता; तथा जिसमें जो नहीं होता वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घट-प्रदीप का घात होने पर घट का नाश नहीं होता। (इसप्रकार से न्याय कहा है।) अब, आत्मा के धर्म-दर्शन, ज्ञान और चारित्र-पुद्गलद्रव्य का घात होने पर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर भी पुद्गलद्रव्य का नाश नहीं होता (यह तो स्पष्ट है); इसलिये इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि —'दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अवश्य ही घात होना चाहिये। ऐसा होने से जीव के जो जितने गुण हैं वे सब परद्रव्यों में नहीं हैं यह हम भलीभाँति देखते-मानते हैं; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो, यहाँ भी जीव के गुणों का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर जीव के गुण का घात होना अनिवार्य हो जाय। (किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध हुआ कि जीव के कोई गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं।)

प्रश्न : यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग क्यों होता है?

उत्तर : किसी भी कारण से नहीं होता।

प्रश्न : तब फिर रागकी खान (उत्पत्ति स्थान) कौनसी है?

उत्तर : राग-द्वेष-मोह, जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं; इसलिये वे राग-द्वेष-मोह, विषयों में नहीं हैं; क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, और वे सम्यग्दृष्टि में (भी) नहीं हैं; क्योंकि उसके अज्ञान का अभाव है; इसप्रकार राग-द्वेष-मोह, विषयों में न होने से और सम्यग्दृष्टि के (भी) न होने से, (वे) हैं ही नहीं।

भावार्थ :- आत्मा के अज्ञानमय परिणामरूप राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों का घात होता है, किन्तु गुणों के घात

होने पर भी अचेतन पुद्गलद्रव्यका घात नहीं होता; और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि का घात नहीं होता; इसलिये जीव के भी गुण पुद्गलं द्रव्य में नहीं हैं। ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि को अंचेतन विषयों में रागादिक नहीं होते। राग-द्वेष-मोह, पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं, वे जीव के कोई ही अस्तित्व में अज्ञान से उत्पन्न नहीं होते हैं; जब अज्ञान का अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होता है, तब राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं। इसप्रकार रागद्वेषमोह न तो पुद्गलद्रव्य में हैं और न सम्यग्दृष्टि में भी होते हैं, इसलिये शुद्धद्रव्यदृष्टि से देखने पर वे हैं ही नहीं और पर्यायदृष्टि से देखने पर वे जीव को अज्ञान अवस्था में हैं — ऐसा जानना चाहिये।

गाथा ३६६ से ३७१ पर प्रवचन

देखो, इन गाथाओं में यह कहा जा रहा है कि ज्ञान व ज्ञेय बिल्कुल जुदे-जुदे हैं। आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि कोई भी गुण परद्रव्यों में नहीं हैं। — ऐसा जानने से सम्यग्दृष्टि का विषयों के प्रति राग नहीं होता; तथा जड़द्रव्यों में भी राग-द्वेष आदि नहीं हैं। वे तो मात्र अज्ञानदशा में वर्तते जीव के परिणाम हैं।

देखो! आधार का नाश होते ही आधेय का नाश हो ही जाता है। जैसे कि दिया आधार है और प्रकाश उसका आधेय है। इसकारण यदि दिये का नाश होवे तो आधेयरूप प्रकाश का नाश हो ही जाता है।

अब कहते हैं कि जैसे कि घड़ा फोड़ देने पर भी घड़े के अन्दर रखे दिये का नाश नहीं होता और अन्दर रखे दिया के नाश हो जाने पर (बुझ जाने पर) घड़े का भी नाश नहीं होता; क्योंकि परमार्थ से दिया और घड़े में आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है, घड़े में तो घड़े के ही गुण हैं और दिये में दिया के ही गुण हैं। घड़ा व दिया — दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। दोनों के बीच वास्तविक आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है।

देखो, यहाँ दो बातें कही हैं —

१. दिया का नाश होने पर प्रकाश का नाश होता है और प्रकाश का नाश होने

२. घड़े का नाश होने पर अन्दर में रहे दिया का नाश नहीं होता और अन्दर रखे दिये के नाश होने पर घड़े का नाश नहीं होता।

अब इसी दृष्टान्त से सिद्धान्त समझाते हैं कि पुद्‌गलद्रव्य के नाश होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण का नाश नहीं होता और दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण के घात होने पर पुद्‌गलद्रव्य का घात नहीं होता। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्‌गल द्रव्य में नहीं हैं — यह फलित हो गया।

देखो, सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा के धर्म हैं। भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु सदा ज्ञानस्वरूपी है। उसकी अन्तर्दृष्टि होकर प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है। उसी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और उसी में रमणता चारित्र है। इसप्रकार आत्मा के आश्रय से प्रगट हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा की निर्मल वीतरागी पर्यायें हैं।

अब कहते हैं कि शरीर का घात हो जाये या शरीर जीर्ण हो जाये और वाणी के बोल बंद भी हो जायें आदि जड़ की क्रियायें होने से आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात नहीं होता; क्योंकि शरीर भिन्न वस्तु है और आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र भिन्न वस्तुयें हैं। दोनों में आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है।

शरीर की प्रवृत्ति बराबर हो रही हो, पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, समिति आदि सभी व्यवहार की क्रियायें — यथावत हो रही हों, तो भी यदि अन्दर में राग में इष्टबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि हो तो — ऐसी शल्य होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात हो जाता है। यहाँ यह सिद्ध करना है कि पाँच इन्द्रियों के विषय पर पदार्थ हैं, देव-शास्त्र-गुरु भी परपदार्थ हैं और परपदार्थों में राग-द्वेष नहीं हैं तथा निजस्वभाव में भी राग-द्वेष नहीं हैं। परन्तु जीव अपने स्वभाव का घात तो अपने अज्ञान से करता है। राग-द्वेष अज्ञानदशा में वर्तते जीव के परिणाम हैं। यहाँ कहते हैं कि अपने गुणों का घात होने पर परका-पुद्‌गल आदि का घात नहीं होता। तथा पर-पुद्‌गल आदि का घात होने पर अपने गुणों का घात नहीं होता।

देखो, शरीर की क्रिया न कर सके, तो भी अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म बराबर टिके रहते हैं, वहाँ शरीरादि की क्रियारूप पुद्‌गल का घात तो हुआ;

पर उसके कारण अपने धर्म का घात नहीं हुआ। इसके विपरीत शारीरिक क्रियायें वाहर में यथावत् चलती रहें, फिर भी यदि इन बाहरी क्रियाओं से आत्मलाभ या धर्म होना माने तो अपने धर्म का घात हो ही जाता है; क्योंकि अज्ञानी विपरीत दृष्टिवाले जीव के अपनी उल्टी मान्यता के कारण धर्म का घात हो जाता है। वाहर की प्रवृत्ति न दिखे, तो भी आनन्द का नाथ प्रभु–आत्मा की स्व-सन्मुख प्रवृत्ति, ज्ञान व रमणता वर्तती हो तो उसे अपने धर्म का घात नहीं होता। इससे यह स्पष्ट हो गया कि व्रत, तप, भक्ति आदि के विकल्प आत्मा के धर्म नहीं हैं।

यहाँ एक ओर तो भगवान आत्माराम स्वयं स्व और दूसरी ओर सारा ग्राम अर्थात् शरीर–मन–वाणी, इन्द्रिय, शुभाशुभ रागादिभाव — ये सव परद्रव्य हैं। इन परद्रव्यों में आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसकारण पर का घात होने पर अपने स्वभाव का ज्ञानादि गुणों का घात नहीं होता। अहो! यह तो जैनपरमेश्वर द्वारा कहा गया कोई अचिन्त्य–अलौकिक तत्त्व आचार्यदेव ने जाहिर किया है।

अहा! जीवों को जो राग–द्वेष–मोहादि भाव उत्पन्न होते हैं, वे अपने शुद्ध आनंदकन्द प्रभु, आत्मा के ज्ञान के अभाव से अर्थात् अपने अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। राग–द्वेष–मोह परद्रव्य से उत्पन्न नहीं होते। तथा अपने स्वद्रव्य से भी उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि परद्रव्य अपने स्वभाव से भिन्न हैं। अपना स्वभाव परद्रव्य में है ही नहीं। तथा अपना स्वद्रव्य तो सदा ही शुद्ध चैतन्यमय वीतरागभावमय है।

यहाँ यह सिद्ध करना है कि परद्रव्य में अपना राग–द्वेष–मोह नहीं और परद्रव्य से वे उत्पन्न हों — ऐसा भी नहीं है; वल्कि अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप के भान के अभाव में — अज्ञान से राग–द्वेष–मोह के भाव उत्पन्न होते हैं।

शरीर की क्रिया और व्रतादि के अनुष्ठान न हो सकें — इससे तो पुद्गल का घात होता है। उनके कारण आत्मा के धर्मों का घात नहीं होता; क्योंकि आत्मा व पुद्गल भिन्न-भिन्न हैं। भाई! जीवों को जो सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सुनने से, द्रव्य–इन्द्रियों से, भाव–इन्द्रियों से या शुभराग से नहीं होता;

किन्तु अपने-अपने स्वरूप के आश्रय से होता है, चैतन्य चिन्तामणि प्रभु आत्मा के आश्रय से होता है।

प्रश्न : मति-श्रुतिरूप सम्यग्ज्ञान को मोक्षशास्त्र में परोक्ष कहा है न?

उत्तर : हाँ, कहा है? परन्तु यहाँ तो जुदी अपेक्षा से बात की है। भाई! सम्यग्ज्ञान आत्मा के लक्ष्य से उत्पन्न होता है न? इस कारण गौणरूप से प्रत्यक्षपने का भाव भी तो रहता ही है। यहाँ कहते हैं कि आत्मज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान जो प्रगट होता है, उसका इन्द्रियों के घात से कुछ भी घात नहीं होता। तथा मन-इन्द्रियाँ बरावर हों, इतने मात्र से आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता।

अरे! लोगों के मनों में ऐसा भ्रम हो गया है कि शरीर की क्रिया और व्रत-तप आदि राग की क्रिया से धर्म (संवर) होता है; परन्तु बापू ऐसा नहीं है। देखो, जिसतरह घट का नाश होने पर उसके अन्दर रखे दीपक का नाश नहीं होता; इसीतरह इन्द्रियों व व्रतादि क्रियाओं का घात होने पर कहीं अन्तरंग आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र का नाश नहीं होता। तथा व्रतादि की बाह्य क्रियायें यथावत् पालन करते हुये भी अज्ञान के कारण दर्शन-ज्ञान चारित्र का घात होता है; जैसे कि घट के यथावत रहते हुए भी उसके अन्दर रखे दीपक का नाश हो जाता है, वह बुझ जाता है। भाई! व्रत-तप-भक्ति का परिणाम पुद्गल का परिणाम है, उसमें आत्मा का दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म नहीं समाता। इसकारण पुद्गल की क्रिया से आत्मा का स्वभाव उत्पन्न हो — ऐसा कभी बनता ही नहीं है। बाह्य व्रत-तप की क्रिया से आत्मा का चारित्र प्रगट नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि व्रत-तप-भक्ति आदि के परिणाम पुद्गल की क्रियायें हैं, इनमें चैतन्य का स्वभाव-गुण नहीं हैं। जीव के जितने गुण हैं, वे सब व्रतादि क्रियाओं में नहीं हैं और जीव के गुणों में व्रतादि क्रियायें नहीं हैं।

आचार्य भगवंत ऐसा कहते हैं कि हमारा आत्मा वीतराग जिनस्वरूप प्रभु है, उसके आश्रय से जो निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण प्रगट हुये हैं, वे परद्रव्य में अर्थात् व्रतादि व्यवहाररत्नत्रय में नहीं हैं। ऐसा हमें सम्यक् प्रकार

से दिखाई देता है, ऐसा ही हम मानते हैं। भाई! यह तो जैनपरमेश्वर के पेट की बातें दिगम्बर आचार्य खुलासा करके समझा रहे हैं।

अरे! जहाँ आत्मा के गुण हैं, अज्ञानी जीव वहाँ तो देखता नहीं है तथा जहाँ आत्मा के गुण नहीं हैं, वहाँ अनादिकाल से उन्हें खोजता रहा है।

आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड प्रभु है। इसके कोई भी गुण परद्रव्य में अर्थात् देहादि में और रागादि में नहीं हैं। जब ये उपवास, ब्रह्मचर्य आदि देह की क्रियाओं में और व्रत-तप आदि राग की क्रियाओं में भगवान आत्मा का कोई गुण ही नहीं है; तो फिर देहादि व व्रतादि साधनों के द्वारा आत्मा के गुण प्रगट कैसे होंगे? व्यवहार करते-करते निश्चय प्रगट कैसे होगा? भाई! ये सब व्यवहार के भाव तो भव के भाव हैं। बापू! इनसे भव मिलता है, भव का अंत नहीं आता। इनमें नया क्या है? ये तो अनादिकाल से करते आ रहे हैं। इन क्रियाओं का विकल्प भव के अन्त का उपाय नहीं है। आत्मा के गुण तो आत्मा में ही हैं, इसलिए आत्मा का लक्ष्य कर, जिससे तुझे आत्मा के गुणों की, दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होगी।

यहाँ तो एक ओर आत्मा और दूसरी ओर सारा जगत — ऐसे दो विभाग कर दिये हैं। स्पष्ट कहा है कि आत्मा के गुण परद्रव्यों में नहीं हैं, इसलिए परद्रव्य से उपयोग को हटाकर आत्मा में ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर। स्वद्रव्य के लक्ष्य से परिणमते हुये तुझे निर्मल रत्नत्रय की प्राप्ति होगी।

प्रश्न : यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को राग क्यों होता है?

उत्तर : किसी कारण से नहीं होता।

प्रश्न : तो फिर राग की खान क्या है?

उत्तर : राग-द्वेष-मोह जीव का ही अज्ञानमय परिणाम है अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि की उत्पत्ति की खान है।

प्रश्न : पर में आत्मा के गुण नहीं है और रागादिरूप अवगुण भी नहीं हैं, तो फिर सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग क्यों होता है?

उत्तर : भाई! ज्ञानी को किसी पर के कारण राग नहीं होता। जब ज्ञानी का पाँच इन्द्रियों के विषय में उपयोग जाता है तब किंचित् राग होता है; परन्तु उसे राग नहीं कहते; क्योंकि वस्तुत: मिथ्यात्व सम्बन्धी राग को ही राग कहा है। अपनी चैतन्य सत्ता को भूलकर पर को अपना माननेरूप पर से या बाह्य-व्रतादि से अपना हित होना माननेरूप मिथ्या-मान्यता को ही राग-द्वेष कहा है। ऐसा राग-द्वेष ज्ञानी के नहीं होता।

भगवान आत्मा अन्दर में सदा ही राग से भिन्न, चैतन्यस्वरूप प्रभु है। वह पर से तो निर्वृत्त ही है, परन्तु अन्तरस्वरूप की दृष्टि करके राग से निर्वृत्त होने पर पर्याय में भी निर्वृत्त हो जाता है। इसी का नाम वास्तविक निर्वृत्त है।

प्रश्न : यह ठीक है, परन्तु ज्ञानी के भी राग होता दिखाई तो देता ही है न?

उत्तर : अरे प्रभु! तुझे वस्तुस्वरूप की खबर नहीं है, इसकारण बार-बार तेरे मन में यह प्रश्न उठता है। वस्तुत: ज्ञानी के राग है ही नहीं; क्योंकि राग-द्वेष तो अज्ञान से उत्पन्न होता है वह तो अज्ञान की औलाद है और ज्ञानी के अज्ञान है नहीं। अहा! जिसे स्व का लक्ष्य ही नहीं हुआ — ऐसे अज्ञानी जीवों को परद्रव्यों का लक्ष्य करने से अज्ञान के कारण राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। वस्तुत: न तो स्वद्रव्य से और न परद्रव्य से; बल्कि पर से व राग से लाभ माननेरूप अपने अज्ञान के कारण राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।

संत कहते हैं कि हमारा कोई भी गुण परद्रव्य में दिखाई ही नहीं देता तो हमें राग-द्वेष कैसे हो सकता है?

भाई! परद्रव्य में राग-द्वेष नहीं है; पर में आत्मा के गुण भी नहीं हैं, अवगुण भी नहीं हैं; किन्तु शुद्ध चिदानंद-चैतन्य चमत्कार निज आत्मा को भूलकर जो विकार को अपना 'स्व' मानता है, वही महाविपरीतता व अज्ञान है और इसी अज्ञान से ही राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं।

अहा! धर्मी जीव, जो सम्यग्दृष्टि हो गया है, उसे राग-द्वेष नहीं है। जो किंचित् राग होता है, वह मात्र ज्ञेयरूप है। धर्मी की दृष्टि तो त्रिकाली स्वद्रव्य पर है और स्वद्रव्य में राग-द्वेष है ही कहाँ? तथा परद्रव्य में भी राग-द्वेष-मोह नहीं है और धर्मी की परद्रव्य पर दृष्टि भी नहीं है तो फिर सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह कैसे हो? इसलिए आचार्य कहते हैं कि उनके राग-द्वेष-मोह हैं ही नहीं। जो किंचित् राग-द्वेष है, वह भी धर्मी के ज्ञान का ज्ञेय मात्र है। उसका उसे स्वामित्व नहीं है। इसलिए ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह नहीं है।

गाथा ३६६ से ३७१ के भावार्थ पर प्रवचन

जीवों को जो पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, वे अज्ञानमय परिणाम हैं; क्योंकि उनमें चैतन्य का अंश नहीं है। अज्ञानमय परिणामरूप राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्र-गुणों का घात होता है। उन गुणों के घात होने पर भी अचेतन पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता।

तथा पुद्गलद्रव्य का घात होने पर आत्मा के गुणों का घात नहीं होता। पुद्गलद्रव्य अर्थात् शरीरादि की क्रिया और व्रतादि के विकल्पों का घात होने पर जीव के दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणों का नाश नहीं होता। इसलिए जीव के कोई गुण पुद्गल में नहीं हैं। ये व्रत-तप-दया-दान आदि सब पुद्गल के परिणाम हैं, इनमें आत्मा के कोई गुण नहीं हैं। — ऐसा जानते हुए सम्यग्दृष्टि को अचेतन विषयों में रागादि नहीं होते।

देखो, वीतरागमूर्ति आनन्दघन प्रभु आत्मा को शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखने पर राग-द्वेष-मोह होते ही नहीं हैं; क्योंकि उसके अज्ञान नहीं है। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि पर्याय पर है, उस पर्यायदृष्टि वाले जीव को राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होता है। भले ही वे बाहर में महाव्रतादि का पालन करते हो; परन्तु यदि उन व्रतादि से अपना आत्मलाभ-धर्मलाभ माने तो वे पर्यायदृष्टिवाले मूढ़ मिथ्यादृष्टि ही हैं। उन्हें अज्ञान के कारण राग-द्वेष-मोह अवश्य होता ही है। इसलिए पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करो। यही तुम्हारे हित का उपाय है

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(मंदाक्रान्ता)

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित् ।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटं तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः॥ २१८॥

श्लोकार्थ :—[इह ज्ञानम् हि अज्ञानभावात् राग-द्वेषौ भवति] इस जगत में ज्ञान ही अज्ञानभाव से रागद्वेषरूप परिणमित होता है; **[वस्तुत्व-प्रणिहित-दृशा दृश्यमानौ तौ किञ्चित् न]** वस्तुत्व में स्थापित (एकाग्र की गई) दृष्टि से देखने पर (अर्थात् द्रव्यदृष्टि से देखने पर), वे राग-द्वेष कुछ भी नहीं हैं (द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं हैं)। **[ततः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदृष्ट्या तौ स्फुटं क्षपयतु]** इसलिये (आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि) सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टि से उन्हें (राग-द्वेष को) स्पष्टतया क्षय करो, **[येन पूर्ण-अचल-अर्चिः सहजं ज्ञानज्योतिः ज्वलति]** कि जिससे, पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी (दैदीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।

भावार्थ :— राग-द्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, वे (राग-द्वेषरूप परिणाम) जीव के अज्ञानभाव से होते हैं; इसलिये सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टिसे देखा जाये तो वे (राग-द्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं ऐसा दिखाई देता है और घातिकर्मका नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है॥ २१८॥

कलश २१८ पर प्रवचन

प्रभु! द्रव्यदृष्टि से देखने पर तेरे अन्दर में मात्र तेरा आत्मा है, जो ज्ञानपुंज चैतन्य ····· शक्ति का रसकंद है। उस आत्मा में दया-दान आदि पुण्य के भाव एवं हिंसा-झूठ आदि पाप के भाव नहीं हैं। ऐसा आत्मा अपने ही अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप होता है। जिनको अपनी चैतन्यसत्ता और एक ज्ञायकभाव, ध्रुवभाव, एक सामान्यभाव, नित्यभाव, पंचम-पारिणामिकभाव का भान नहीं; वे जीव अज्ञानभाव से पुण्य व पाप तथा राग व द्वेष भाव से परिणमते हैं। स्वयं अपने स्वभाव से राग-द्वेषरूप नहीं परिणमते। कर्मों के कारण भी वे राग-

द्वेषरूप नहीं परिणमते। किन्तु अपने वस्तुस्वरूप का यथार्थ भान न होने के कारण राग-द्वेषरूप परिणमते हैं।

यह शरीर तो जड़, माटी-धूल है और कर्म भी जड़, माटी-धूल हैं। ये तो आत्मा में हैं नहीं तथा एक-एक इन्द्रियों के विषयों को जाननेवाली खण्ड-खण्ड भावेन्द्रियाँ — ज्ञान की खण्ड-खण्ड पर्यायें भी त्रिकाली ध्रुववस्तु में नहीं हैं। त्रिकाली ध्रुववस्तु तो अखण्ड, अभेद, एक ज्ञायकभावरूप है। उस ज्ञायकवस्तु में राग-द्वेष नहीं, संसार नहीं एवं उदयभाव भी नहीं है।

प्रश्न : यदि ऐसा वस्तुस्वरूप है तो ये राग-द्वेष उत्पन्न क्यों होते हैं, कैसे होते हैं?

उत्तर : अपने शुद्धचैतन्यस्वरूप का भान न होने के कारण जो अनादि से अज्ञान है, बस वही राग-द्वेष का हेतु है। अहा! 'मैं कौन हूँ, मेरा स्वरूप क्या है और मेरा कर्तव्य क्या है?' इत्यादि का भान न होने से अज्ञानवश इस जीव को राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी राग-द्वेष को ही राग-द्वेष माना है। समकित होने के बाद जो रागादि होते हैं, उसको यहाँ राग ही नहीं माना गया है। सर्वज्ञ भगवान ने जगत में छह द्रव्य देखे हैं, उनमें आत्मा चैतन्य की दृष्टि के अभावरूप अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है।

वस्तुत्व में एकाग्र की गई दृष्टि अर्थात् द्रव्यदृष्टि से देखें तो वे राग-द्वेष कुछ भी नहीं हैं।

अब आगे की गाथा में यह कहेंगे कि 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के गुण को उत्पन्न नहीं कर सकता' इसका सूचक काव्य कहते हैं :—

(शालिनी)

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२११॥

श्लोकार्थ :— [**तत्त्वदृष्ट्या**] तत्त्वदृष्टि से देखा जाये तो, [**राग-द्वेष-उत्पादकं अन्यत् द्रव्यं किञ्चन अपि न वीक्ष्यते**] राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी दिखाई नहीं देता, [**यस्मात् सर्व-द्रव्य-उत्पत्तिः स्वस्वभावेन अन्तः अत्यन्तं व्यक्ता चकास्ति**] क्योंकि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रगट (स्पष्ट) प्रकाशित होती है।

भावार्थ :- राग-द्वेष चेतन के ही परिणाम हैं। अन्य द्रव्य आत्मा को राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करा सकता; क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है, अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुणपर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती ॥२११॥

कलश २११ एवं भावार्थ पर प्रवचन

तत्त्वदृष्टि से अर्थात् वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् भी दिखाई नहीं देता। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में जड़कर्म विकार उत्पन्न कर ही नहीं सकते। जो विकार को कर्मकृत मानते हैं, वे मूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।

आत्मा में जो भी पुण्य-पाप और राग-द्वेषादि विकार उत्पन्न होता है; वह परद्रव्य के कारण बिल्कुल भी नहीं होता। आचार्य कहते हैं कि जरा विचार तो कर! तत्त्वदृष्टि से देखने पर कर्म आदि राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले दिखाई ही नहीं देते। यद्यपि परद्रव्यरूप कर्म वगैरह निमित्त होते हैं; परन्तु राग-

द्वेष की उत्पत्ति का मूलकारण तो अपना स्वयं का अशुद्ध उपादान ही है। कर्म का उसमें किंचित् भी कार्य नहीं है।

प्रश्न : जीव के विकारी होने में यदि पचास-पचास प्रतिशत निमित्त व उपादान का योगदान माने तो क्या हानि है? आप निमित्त का पूर्णरूपेण निषेध क्यों करते हो ?

उत्तर : अरे भाई! ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए। यह मान्यता तो सर्वथा अज्ञानभाव है। यहाँ तो यह अत्यन्त स्पष्ट है कि तत्त्वदृष्टि से देखने पर राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य दिखाई ही नहीं देता। मूल वाक्य है — 'किंचन अपि न वीक्ष्यते'। शतप्रतिशत राग-द्वेष का उत्पादक अज्ञानी जीव का अशुद्ध उपादान ही है।

स्त्री के प्रति जो राग होता है; उसमें स्त्री बिल्कुल कारण नहीं है। गाली के कारण किंचित् भी/कभी भी क्रोध उत्पन्न नहीं होता। भाई! परद्रव्य परद्रव्य में हैं और जड़कर्म का उदय जड़कर्म में है। अतः कर्म के कारण विकार होता ही नहीं है। यह अकाट्य सिद्धान्त है।

अहा! आचार्य कहते हैं कि राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य दिखाई ही नहीं देता; क्योंकि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रगटरूप से प्रकाशित होती है। प्रत्येक द्रव्य में अपने स्वभाव से ही पर्याय की उत्पत्ति होती है। जीव में राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति हो या वीतरागधर्म की उत्पत्ति हो, वे सब अपने द्रव्य की अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता से ही उत्पन्न होते हैं। वे सब द्रव्य का ही पर्यायस्वभाव हैं। उस पर्यायस्वभाव से ही उन पर्यायों की उत्पत्ति होती है। विकार भी स्व-पर्याय के अपने स्वभाव से ही होता है, कर्म या परद्रव्य से बिल्कुल नहीं। यहाँ विकारी पर्याय को भी स्वतंत्र सिद्ध किया है।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ में कहा है कि विकार अपने षट्कारकों से अपनी पर्याय में होता है, उसमें परकारकों की किंचित् भी अपेक्षा नहीं है। पर्याय में जो मिथ्यात्व का भाव होता है, उसमें दर्शनमोहनीय कर्म का उदय कारण नहीं हैं। विषय-वासना के जो भाव होते हैं, उनमें वेदकर्म का उदय कारण नहीं

है। पर्याय में जो क्रोधादि भाव होते हैं, उनमें चारित्रमोह का उदय कारण नहीं हैं; क्योंकि सर्वद्रव्यों की पर्यायों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है।

प्रश्न : यदि राग-द्वेष के होने में कर्मोदय को कारण नहीं मानेंगे तो क्या ये राग-द्वेष जीव के स्वभाव नहीं ठहरेंगे? और स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता; तो फिर इनका कभी भी नाश नहीं होगा। आत्मा सदा विकारी ही बना रहेगा। इस महादोष से कैसे बचा जा सकेगा?

उत्तर : भाई! राग-द्वेष जीव का त्रिकाली स्वभाव नहीं है। जीव के त्रिकाली स्वभाव में शुद्ध, एक, चैतन्दस्वभाव में, ज्ञायकस्वभाव में तो राग-द्वेष है ही कहाँ? और वह त्रिकाली स्वभाव राग-द्वेष का कारण भी नहीं है। यहाँ तो जीव के राग-द्वेष को जीव का पर्यायस्वभाव कहा है। जीव के पर्याय स्वभाव में जो राग-द्वेष होते हैं, उनमें कर्म आदि परद्रव्य कारण नहीं हैं।

भाई! यहाँ पर्यायस्वभाव की बात है और वह ज्ञायक के लक्ष्य से मिट सकता है। अतः यहाँ ऐसा प्रश्न ही नहीं है कि विकार जीव का स्वभाव होने से वस्तु में त्रिकाल अशुद्धता ही बनी रहेगी।

प्रश्न : इस तरह तो एकान्त सा लगता है। अतः ऐसा क्यों न मान लिया जावे कि आत्मा में जो विकार होता है, वह कथंचित् आत्मा से और कथंचित् कर्म के उदय से होता है। इसमें अनेकान्त भी आ गया?

उत्तर : भाई! यह तो मिथ्या अनेकान्त है? वास्तविक अनेकान्त तो यह है कि विकार अपने स्वभाव से ही होता है और कर्म से या पर से बिल्कुल नहीं होता। — यह सम्यक् अनेकांत है। पर्याय में जो/जब राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं, वही उनका जन्मक्षण है। उस काल में वे स्वयं से ही उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति में कर्म या परद्रव्य कुछ भी नहीं करते। पर्याय विकारी हो या निर्विकारी हो — वह अपने स्वभाव से ही द्रव्य में उत्पन्न होती है।

भाई! कर्म तो जड़ हैं और विकार अपने आत्मा की भूल है। कर्म उनमें कारण नहीं है?

भावार्थ यह है कि क्रोध-मान-माया-लोभ एवं हिंसा, झूठ आदि जो भी जीव के परिणाम हैं, वे सब जीव के ही परिणाम हैं। वे कर्म के परिणाम नहीं हैं, क्योंकि कर्मों से उत्पन्न नहीं हुए हैं। कोई अन्य द्रव्य आत्मा में रागादि की उत्पत्ति कर ही नहीं सकता; क्योंकि सर्वद्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है। यदि ऐसा सत्य निर्णय अभी यहाँ नहीं करेगा तो कब और कहाँ करेगा?

देखो, यहाँ रागद्वेषादि विकार को चैतन्य का परिणाम कहा; क्योंकि वे चेतन की पर्याय में होते हैं। दूसरे, जहाँ शुद्धस्वभाव को सिद्ध करने की बात हो और ध्रुवस्वभाव का आश्रय कराने का प्रयोजन हो —वहाँ उसे पुद्गल का परिणाम कहा है।

जहाँ, जो विवक्षा हो; उसे यथार्थ समझना चाहिए, जिसको ध्रुवस्वभाव की दृष्टि हुई हो, वह स्वयं व्यापक अर्थात् कारण एवं निर्मल पर्याय उसका व्याप्य कार्य है, विकार उसका व्याप्य या कार्य नहीं है, बस; इस अपेक्षा से विकार को पुद्गल का परिणाम कहा है तथा यहाँ राग-द्वेषादि विकारी भाव जीव की दशा में होने से उन्हें जीव का परिणाम कहा है; क्योंकि वे जड़ में नहीं होते। जड़द्रव्य उन्हें उत्पन्न नहीं कराता; क्योंकि अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण पर्यायों से उत्पत्ति नहीं होती। अतः जहाँ जिस अपेक्षा से कथन हो, उसे वैसा ही समझना चाहिए।

अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ ।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥ ३७२ ॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः ।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन ॥ ३७२ ॥

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शंक्यं; अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्यायोगात्; सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात्। तथाहि-मृत्तिका कुंभभावेनोत्पद्यमाना किं कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते, किं मृत्तिकास्वभावेन? यदि कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुंभकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुंभः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् यद्येवं तर्हि कुंभकारस्वभावेन नोत्पद्यते, किन्तु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुंभकारः कुंभस्योत्पादक एव; मृत्तिकैव कुंभकारस्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन कुंभभावेनोत्पद्यते। एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतर-स्वभावेनोत्पद्यंते, किं स्वस्वभावेन? यदि निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यन्ते तदा निमित्तभूतपर-द्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यन्ते, किन्तु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति सर्वद्रव्याणां स्वस्वभावानतिक्रमान्न निमित्तभूतद्रव्यांतराणि स्वपरिणाम-स्योत्पादकान्येव; सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यन्ते। अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः।

अव, इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं —

को द्रव्य दूसरे द्रव्यमें उत्पाद नहिं गुण का करे ।
इस हेतु से सव ही दरव उत्पन्न आप स्वभाव से ॥ ३७२ ॥

गाथार्थ :— [**अन्यद्रव्येण**] अन्य द्रव्यसे [**अन्यद्रव्यस्य**] अन्य द्रव्य के [**गुणोत्पादः**] गुण की उत्पत्ति [**न क्रियते**] नहीं की जा सकती; [**तस्मात् तु**] इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) [**सर्वद्रव्याणि**] सर्व द्रव्य [**स्वभावेन**] अपने-अपने स्वभाव से [**उत्पद्यंते**] उत्पन्न होते हैं।

टीका :— और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि — परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न करते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है; क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझाई जा रही है :-

मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के? यदि कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो तो जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ (घड़ा बनाने का) व्यापार करता है ऐसे पुरुष के शरीराकार घट होना चाहिये। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती; परन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है; क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने से, मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती इसलिये, कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से कुम्भभावरूप से उत्पन्न होती है।

इसीप्रकार — सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से (अर्थात् अपने परिणाम भावरूप से) उत्पन्न होते हुए, निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं कि अपने स्वभाव से? यदि निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हों तो उनके परिणाम निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के आकार के होने चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभावरूप से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद दिखाई नहीं देता। जबकि ऐसा है तो सर्वद्रव्य निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने

में आता है। ऐसा होने से, सर्वद्रव्य अपने स्वभाव को उल्लंघन न करते होने से, निमित्तभूत अन्य द्रव्य अपने (अर्थात् सर्वद्रव्यों के) परिणामों के उत्पादक हैं ही नहीं; सर्वद्रव्य ही, निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्पर्श न करते हुए अपने स्वभाव से अपने परिणामभावरूप से उत्पन्न होते हैं।

इसलिये (आचार्यदेव कहते हैं कि) हम जीव के रागादि का उत्पादक परद्रव्य को नहीं देखते (मानते) कि जिस पर कोप करें।

भावार्थ :- आत्मा को रागादि उत्पन्न होते हैं सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। यदि निश्चयनय से विचार किया जाये तो अन्यद्रव्य रागादि का उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्यद्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्य के गुण-पर्याय उत्पन्न नहीं करता — यह नियम है। जो यह मानते हैं — ऐसा एकान्त ग्रहण करते हैं कि — 'परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं', वे नयविभाग को नहीं समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है — ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि — हम राग-द्वेष की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य पर क्यों कोप करें? राग-द्वेष का उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है ॥ ३७२ ॥

गाथा ३७२ पर प्रवचन

अब कहते हैं कि अन्य द्रव्य जीव में गुण अर्थात् रागादि उत्पन्न नहीं करा सकता। आचार्य कहते हैं कि ऐसी आशंका ही नहीं करना कि कर्म जीव में रागादि उत्पन्न कराता है। भाई! 'जीव में कर्म से विकार होता है' — यह मान्यता ही मिथ्या है। वस्तुतः विकार पर से नहीं; बल्कि स्व से ही उत्पन्न होता है।

जीव की पर्याय में जो राग-द्वेष, पुण्य-पाप तथा काम-क्रोध, विषय-वासना आदि के परिणाम होते हैं, वे सब परद्रव्य से नहीं होते। अतः ऐसी शंका ही नहीं करना कि विकार परद्रव्य के कारण होते हैं; कर्म से होते हैं।

भगवान ! तू कौन है? तुझे इसकी भी खबर नहीं है। अरे! न तो तू परद्रव्य में कुछ कर सकता है और न परद्रव्य तुझ में कुछ कर सकते हैं; क्योंकि ऐसी

योग्यता ही किसी द्रव्य में नहीं है जो पर में कुछ कर सके। इसीलिए यहाँ आचार्यदेव ने स्पष्ट कहा है कि 'अन्य द्रव्य द्वारा अन्य द्रव्य में पर्याय का उत्पाद कराने की अयोग्यता है। इसलिए किसी भी परद्रव्य का कार्य मैं कर सकता हूँ और परद्रव्य मेरे कार्य करते हैं या कर सकते हैं — ऐसा मानना मिथ्या है, परन्तु यह भ्रमरूप अज्ञान संसारी जीवों को अनादि से है। कुछ लोग इस मिथ्याश्रद्धान को दर्शनमोहनीय कर्मोदय से हुआ मानते हैं; परन्तु भाई! यह मान्यता भी मिथ्या है; क्योंकि मोहकर्म का उदय तो निमित्त मात्र है और परद्रव्यरूप निमित्त अन्य द्रव्य में कुछ करते नहीं हैं। अतः स्पष्ट है कि कर्मोदय से राग-द्वेषरूप विभावभाव नहीं होते। फिर भी जो कर्मोदय रूप निमित्त से कषायादि का होना मानता है। उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है।

वस्तुतः जीव में जो भ्रमरूप भाव होते हैं, मिथ्यात्व आदि भाव होते हैं; वे सब स्वयं तत्समय की वैसी योग्यता से ही होते हैं, कर्मोदय से नहीं।

भगवान आत्मा अनन्त ज्ञानानन्दलक्ष्मी से भरपूर सच्चिदानन्द प्रभु है। प्रभु! तू उस अपने भगवान आत्मा की रुचि और भावना करना छोड़ कर यदि जड़ लक्ष्मी की रुचि करता है तो तू सचमुच भिखारी है। एक तो बाह्य जड़ लक्ष्मी तेरी वस्तु ही नहीं है और इसको एकत्रित करने में तेरी चतुराई भी नहीं चलती, यह तेरे पुरुषार्थ से प्राप्त होने वाली वस्तु भी नहीं है; क्योंकि ये सब संयोग तो पुण्याधीन हैं।

देखो, आत्मा में ऐसी सामर्थ्य व योग्यता तो है कि तीनलोक व तीनकाल की सब बातों को एकसाथ जाने; परन्तु परपदार्थों में कुछ कर सके — ऐसी सामर्थ्य जीव में नहीं है। इस शरीर को चलाने की, हाथ-पैर हिलाने की और बाहर की धनादि सामग्री संग्रह करने की योग्यता जीव में नहीं है। फिर भी जो ऐसा मानता है कि मैं शरीर को चला सकता हूँ, हाथ-पैर हिला सकता हूँ, धनादि कमा सकता हूँ और कुटुम्ब-परिवार का भरण-पोषण कर सकता हूँ, तो वह झूठा है, मिथ्यादृष्टि है। अहा! परमाणु जड़ है और उन जड़ परमाणुओं का कार्य जड़ से ही होता, आत्मा से नहीं। तथा राग-द्वेषादि जीव के परिणाम हैं और वे स्वयं जीव से ही होते हैं, परद्रव्य से नहीं।

देखो, ऐसी आशंका भी कभी नहीं करना कि परद्रव्यरूप कर्म, शरीर, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार तथा धनादि सामग्री, देव-गुरु आदि बाह्य निमित्त जीव में पुण्य-पाप आदि भाव उत्पन्न करते हैं। जैसे कि — जिनबिम्ब के दर्शन से शुभभाव का होना मानना और गाली से क्रोध की उत्पत्ति मानना मिथ्या है; क्योंकि किसी अन्य द्रव्य द्वारा किसी अन्य द्रव्य में कुछ भी करने की योग्यता नहीं है। सर्वद्रव्यों का उत्पाद स्वभाव से ही होता है; अन्य के कारण नहीं। भाई! अपनी-अपनी राग-द्वेषादि की पर्यायें अपने-अपने स्वभाव के तत्समय की योग्यता से ही होती हैं, उनमें परद्रव्य बिल्कुल कारण नहीं है।

ये आँखों की पलकें जो ऊँची-नीची होती हैं, ये भी जीव नहीं करता; क्योंकि पलकें अन्य द्रव्य है और आत्मा अन्य द्रव्य है। भाई! आत्मा एक तृण के भी दो टुकड़े नहीं कर सकता। ऐसा ही वस्तु का स्वरूप है। अहा! भगवान सर्वज्ञदेव ने अनन्तद्रव्य देखे हैं, अनंत जीव, अनंतानंत पुद्गल, एक-एक धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्यात कालाणु — इसप्रकार अनन्तद्रव्य देखे हैं। तथा उनमें कोई एक द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता; क्योंकि **अन्य द्रव्य द्वारा किसी अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पाद करने की अयोग्यता है।** ऐसी भगवान सर्वज्ञदेव ने अपनी दिव्यध्वनि द्वारा वस्तु की स्वतंत्रता की उद्घोषणा की है। आजकल तो इस विषय में बिना सोचे-विचारे कुछ व्यक्तियों द्वारा यत्र-तत्र विवाद चलता ही रहता है; परन्तु भाई! कर्मोदय से जीव में विकार होता है — यह मान्यता मिथ्या है। अरे! अपनी चीज को भूलकर अज्ञान के द्वारा स्वयं ही विकार करता है — परन्तु ऐसी वस्तुस्थिति को स्वीकार नहीं करता। ऐसे व्यक्ति निर्विकारी धर्म को कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

"कर्मों के कारण विकार होता है और शुभभाव से धर्म होता है" — ये दो महाशल्यें अज्ञानी के अन्दर होती हैं। अतः वह अज्ञानी सर्वप्रथम ऐसा निर्णय करे कि कर्मो से या पर से विकार नहीं होता तथा शुभराग से धर्म नहीं होता। ऐसा निर्णय करके पर से व राग के ऊपर से दृष्टि उठाकर शुद्ध चैतन्य चिदानन्द की दृष्टि करे, तब धर्म का मूल सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

यहाँ कहते हैं कि किसी अन्य द्रव्य द्वारा कोई अन्य द्रव्य की पर्याय उत्पन्न करने की वस्तु में अयोग्यता है। भाई! पर के कारण तुझमें विकार हो — ऐसी योग्यता किसी आत्मा में हैं ही नहीं तथा तू किसी पर में विकार कराये — ऐसी योग्यता तुझमें भी नहीं है। "कर्मों से या पर से विकार होता है" — ऐसा तुझे भ्रम हो गया है। भाई! यही तो मूल में भूल है।

अहा! आचार्यदेव ने संक्षेप में यह महासिद्धान्त बना दिया है कि परद्रव्य का सहयोग करने के लिये प्रत्येक द्रव्य पंगु है। कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कुछ भी सहयोग करने में असमर्थ है। ऐसी किसी भी द्रव्य में योग्यता ही नहीं है कि वह किसी परद्रव्य का कुछ कर सके।

प्रश्न : यह तो निश्चय की बात है?

उत्तर : हाँ, बात तो निश्चय की ही है; परन्तु निश्चय की है, इसीलिए तो सत्य है। तीनों लोक व तीनों काल में पदार्थों की सत्यार्थ स्थिति की यह बात है, निश्चय ही तो वस्तु का यथार्थ — जैसे का तैसा निरूपण करता है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह मैंने किया, वह मैं कर सकता हूँ; परन्तु उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। यहाँ आचार्य तो यह कहते हैं कि परद्रव्यरूप कर्म जीवों को विकार कराते हैं और परद्रव्यों की पर्यायों को जीव करता है — ऐसी शंका नहीं करना; क्योंकि सर्वद्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद-व्यय होता है। विकार होना भी पर्याय का स्वभाव ही है। प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय अपनी पर्याय की योग्यता का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। जो भगवान की प्रतिमा के दर्शन का भाव होता है, वह भी स्वयं से ही होता है। अशुभ से बचने के लिए ऐसा भाव आता है; परन्तु वह भी प्रतिमा के कारण नहीं आता।

भाई! जड़ व चेतन द्रव्यों में प्रति समय जो-जो अवस्था होती है, उसकी व्यवस्था उन्हीं-उन्हीं जड़-चेतन द्रव्यों से होती है। अन्य द्रव्य उसमें कुछ भी नहीं करते, कर भी नहीं सकते। इसलिए दान देने का, मंदिर, धर्मशाला वगैरह बनवाने का, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि कराने का अभिमान करना मिथ्या है।

अहा! आचार्य कहते हैं कि अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य द्वारा कुछ भी विशेषता या फेरबदल करने की अयोग्यता है; क्योंकि सब द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। अनन्त आत्माओं में, अनन्तानन्त रजकणों में होती हुई विकारी या निर्विकारी पर्यायें स्वयं से स्वतः ही उत्पन्न होती हैं। भले ही कर्म उनमें निमित्त हो; परन्तु कर्मों का उनके उत्पन्न होने में कोई योगदान नहीं है, कर्तव्य नहीं है।

इसी बात को कुम्भकार के दृष्टान्त से समझाते हैं — घड़ा के भाव से उपजती हुई मिट्टी क्या कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के स्वभाव से उत्पन्न होती है? यदि कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो तो घड़ा बनाने के अहंकार से भरे पुरुष (कुम्भकार) के हाथ के आकार ही घड़ा बनना चाहिए; किन्तु ऐसा तो होता नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी अन्य द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। देखो, यहाँ यह सिद्ध करते हैं कि — 'कुम्भकार घड़ा बनाता है' यह मान्यता सही नहीं है।

यद्यपि ज्ञानी को पर के लक्ष्य से राग आता है, परन्तु वह पर का कर्ता भी नहीं है और अपने राग का कर्ता भी नहीं है। उसे राग से भी भेदज्ञान है न? इस कारण ज्ञान में राग को परज्ञेयरूप से मात्र जानता ही है। वह राग का कर्ता नहीं है। यहाँ यह राग के कर्तृत्व की चर्चा मुख्य नहीं है। यहाँ तो परद्रव्य की पर्याय दूसरा परद्रव्य नहीं कर सकता — यह सिद्ध करना है। कुम्हार ज्ञानी हो या अज्ञानी; वह माटी की कुंभ-भाव से होती हुई पर्याय को कर नहीं सकता। यह यहाँ सिद्ध करना है।

किसी एक द्रव्य की पर्याय अन्य द्रव्य के स्वभाव से तीन काल में कभी नहीं हो सकती। भले परद्रव्य निमित्त हो; परन्तु परद्रव्य से कोई अन्य परद्रव्य की पर्याय हो — ऐसा संभव नहीं है।

प्रश्न : पानी तो अग्नि से ही उष्ण होता है न?

उत्तर : "भाई! हमें तो पानी अग्नि से उष्ण होता दिखाई ही नहीं देता। यदि किसी को ऐसा दिखता है तो वह अज्ञान से अंधा है। उसे अज्ञान से जो दिखता है, वह तो वस्तु का यथार्थ स्वरूप नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि जब

पानी की शीत अवस्था वदलकर उष्ण हुई, उस काल में अग्नि निमित्त हुई है; परन्तु अग्नि ने पानी में कुछ किया नहीं है; क्योंकि अग्नि तो पानी के कणों को छूती तक नहीं हैं।

इसीप्रकार भाषा के बारे में समझना चाहिए। आचार्य कहते हैं कि 'आत्मा द्वारा भाषा वोली जाती है' — ऐसा हमें दिखाई नहीं देता। भाषा की पर्याय तो भाषा वर्गणा के परमाणुओं से उत्पन्न होती है। 'आत्मा भाषा वोले' ऐसा संभव ही नहीं है; क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी अन्य द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। पर की दया पालने और दान करने आदि को लोक में धर्म मानते हैं, परन्तु उनकी वह मान्यता यथार्थ नहीं है; क्योंकि परद्रव्य के परिणाम आत्मा कर नहीं सकता।

ऊपर यह कहा है कि किसी अन्य द्रव्य के स्वभाव से अन्य द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। अव कहते हैं कि अपने द्रव्यस्वभाव से अपने द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में आता है। भाई! यही वस्तुस्थिति है। लोक में जो कुम्भकार को कुम्भ का कर्ता कहा जाता है, सो वह तो निमित्तप्रधान कथन है, किन्तु वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि जव मिट्टी में घड़ा वनने की योग्यता आती है, तव मिट्टी के घड़ारूप से परिणमन के काल में मिट्टी ही घटरूप से उत्पन्न होकर घट को उत्पन्न करती है। कुम्भकार तो उस काल में मात्र वाह्य निमित्त होता है। कुम्भकार कुम्भ की पर्याय का कर्ता या उत्पादक नहीं होता।

भाई! यह महा सिद्धान्त है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही अपने-अपने स्वकाल में होने योग्य पर्याय के रूप में परिणमित होता रहता है। ऐसी ही द्रव्य की पर्यायगत योग्यता है, इसमें परद्रव्य का कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।

अरे! दुनिया तो अज्ञान में पड़ी है। उसे आगम की कुछ भी खवर नहीं है। आगम के कथन का प्रयोजन तो यह है कि पर से आत्मा का कार्य हो — ऐसा कभी संभावित ही नहीं है। आत्मा स्वयं एक ज्ञायक स्वभाव मात्र ज्ञानानन्द प्रभु है, उस एक के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है — यह आगम है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने में राग की - व्यवहाररत्नत्रय की या कर्म के उपशम

आदि की कोई अपेक्षा नहीं है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के काल में कर्म का उपशमादि होता है; परन्तु ये सब तो बाह्य निमित्त मात्र हैं। जो इनसे सम्यग्दर्शन होना माने तो उसकी यह मान्यता मिथ्या है।

प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय स्वयं से होती है, उसका उत्पादक कोई अन्य नहीं है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ज्ञान की क्षयोपशमरूप पर्याय नहीं हुई है; क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म तो जड़ है और क्षयोपशमरूप ज्ञान की पर्याय चेतन है। जड़ कर्म से ज्ञानी की पर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि दोनों का स्वभाव ही भिन्न-भिन्न है।

अब कहते हैं कि – "इसीप्रकार सभी द्रव्यों पर घटित कर लेना।"

यहाँ प्रश्न है कि अपने परिणामभावरूप से उपजते हुए प्रत्येक द्रव्य क्या निमित्तभूत परद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं या अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं? प्रश्नकार का पूछने का अभिप्राय यह है कि भगवान के जिनबिम्ब का दर्शन करने का जो शुभभाव हुआ, वह शुभभाव की पर्याय निमित्तभूत जिनबिम्ब के स्वभाव से हुई या अपने स्वभाव से हुई?

उत्तर में आचार्य कहते हैं कि वह शुभभावरूप पर्याय अपने स्वभाव से ही हुई है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव से नहीं। जीवों में जो रागद्वेष के परिणाम होते हैं, वे सब स्वयं से ही होते हैं, निमित्तभूत अन्य द्रव्य से नहीं, कर्मों से नहीं। यदि निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से वस्तु उत्पन्न होती हो तो वह निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के आकाररूप होना चाहिए। किन्तु ऐसा तो होता नहीं है; क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता।

यह आँख की पलक जो झपकती है, यह भी स्वयं से ही झपकती है, हम-तुम या कोई जीव इसे नहीं झपकाता, झपका भी नहीं सकता। यदि जीव के हिलाये हिले या झपकाये झपके तो यह पलक आत्मारूप हो जानी चाहिए, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से कोई अन्य द्रव्य का उत्पाद देखने में नहीं आता। अहो! कैसी है दिगम्बर संतों की स्वानुभव से निकली बातें? मानो केवली के पेट में बैठकर कह रहे हों।

प्रवचनसार गाथा १०२ में आया है कि प्रत्येक द्रव्य की समय-समय में जो-जो पर्यायें होती हैं, वही उनका जन्मक्षण है। 'जन्मक्षण' का तात्पर्य यह है कि उन्हीं-उन्हीं समयों में वे सहज ही स्वयं से होती हैं, किसी अन्य निमित्त से नहीं। यदि निमित्तों से हों तो जन्मक्षण सिद्ध नहीं होता।

देखो, और भी गजव की वात! जिस पर अज्ञानी जगत तो विश्वास कर ही नहीं सकता; शास्त्राभ्यासी के गले भी आसानी से नहीं उतरती। कहते हैं कि असह्य पीड़ा कारक विच्छू ने किसी को डंक मारा हो, काट खाया हो; जिससे व्यक्ति वेचैनी से तड़फ रहा हो, वहाँ यह सत्य सिद्धान्त कहा जाय कि विच्छू के डंक के विषैले रजकणों ने व्यक्ति के शरीर को छुआ ही नहीं है। शरीर की एवं उस जीव की वेदनायुक्त पर्याय शरीर व शरीरधारी जीव से स्वयं से ही होती है तथा विषैला डंक डंक में रहता है, दोनों स्वतंत्र हैं?

वापू! अनादि से ऐसी वस्तुस्वतंत्रता की वात कभी सुनी नहीं है, इसकारण एकाएक विश्वास नहीं जमता; परन्तु सत्य यही है। ऐसी सत्य श्रद्धा एवं ऐसे यथार्थ विश्वास विना विच्छूरूप पर से द्वेष कम नहीं हो सकता।

भाई! ऐसे यथार्थ श्रद्धान के विना पर कर्तृत्व की मिथ्या श्रद्धा से ही परद्रव्यों पर अनंत राग-द्वेष कर-करके अज्ञानी जीव अनादिकाल से चार गतियों में रखड़ रहा है। जैसी वस्तु है, वैसी न मानकर अन्यथा मानने का फल अन्ततः निगोद ही है।

स्वतंत्र एक परमाणु की पर्याय शुद्ध है और वह सूक्ष्म है। जब यह स्कन्ध में मिलता है, तव उसकी पर्याय विभावरूप अशुद्ध और स्थूलरूप हो जाती है, वह अशुद्धता और स्थूलता स्वयं उसी परमाणु की योग्यता से होती है, स्कन्ध के कारण नहीं होती। दूसरी वस्तु निमित्तरूप होती है, परन्तु वह परद्रव्य में कुछ करती नहीं है।

प्रश्न : निगोदिया जीव में मात्र अक्षर के अनन्तवाँ भाग ज्ञान की पर्याय का विकास होता है, तो क्या वह हीनदशा ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण नहीं हुई है?

उत्तर : नहीं, ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण उसके ज्ञान की वह हीन दशा नहीं हुई है, बल्कि उसके स्वयं के कारण वह हीन दशा हुई है, क्योंकि ज्ञान की तत्समय की वैसी ही होने योग्य योग्यता थी। कर्म निमित्त था, परन्तु वह निमित्त ज्ञान में कुछ करता नहीं है। दोनों के परिणाम स्वतंत्र हैं, एक-दूसरे का स्पर्श तक नहीं करते।

लौकिक मान्यता ऐसी है कि कुनैन की गोली से मलेरिया का बुखार चला जाता है। यद्यपि यह मान्यता सर्वथा निराधार नहीं है, निमित्त को देखकर या निमित्तप्रधान कथन में ऐसा कहने में आता है; परन्तु वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। अतः यहाँ कहते हैं कि कुनैन की गोली ने बुखार नहीं उतारा, बल्कि वस्तुतः वह बुखार अपनी तत्समय की योग्यता से ही उतरा है, गोली से नहीं। गोली से बुखार जाता है — ऐसा मानना मिथ्या है, क्योंकि गोली के रजकण भिन्न है और शरीर के रजकण भिन्न हैं। वे एक-दूसरे को छूते तक नहीं हैं। तथा शरीर के बुखार की पर्याय ने भी आत्मा को नहीं छुआ है। सभी एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न हैं।

अरे! लोगों को तत्त्व के वास्तविक स्वरूप की खबर नहीं है। वे मिथ्या, श्रद्धा व अज्ञान से उन्मत्त हो गये हैं। अहा! आचार्यदेव तो यह फरमाते हैं कि एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य से उत्पन्न हो — ऐसा हमें दिखाई ही नहीं देता। वे कहते हैं —

"भगवान केवली के केवलज्ञान में जगत के सर्व-अनन्तानंत पदार्थ स्वतंत्र स्वसहाय परिणमते देखे गये हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय से स्वयं स्वतंत्र ही परिणमते हैं। अहा! द्रव्य में गुण तो त्रिकाल नित्य स्वसहाय हैं ही; उनकी एक-एक समय की पर्यायें भी स्वसहाय हैं। स्वतंत्र द्रव्य के स्वभाव से ही उत्पन्न होती हैं, अन्य द्रव्यों से नहीं।

भाई! यह महासिद्धान्त आचार्यदेव ने इस गाथा में सिद्ध किया है। अहो! यह सरस एवं अलौकिक गाथा है। जिसका परम सौभाग्य होता है, ऐसे भव का अभाव करनेवाले महासिद्धान्त उसी के कान में पड़ते हैं। इन सिद्धान्तों को समझने के लिए भी महापुरुषार्थ चाहिए। अहा! 'पर का व राग का मैं अकर्ता

हूँ' जहाँ ऐसी मान्यता हो जाती है, वहीं ऐसी दृष्टि हो जाती है कि 'मैं शुद्ध एक ज्ञायक मात्र हूँ।' बस, इसी का नाम सम्यग्दर्शन है।

पर्याय के जन्मक्षण की बात प्रवचनसार गाथा १०२ में भी आई है। मिट्टी में घड़ारूप पर्याय उत्पन्न होने का जो जन्मक्षण है, उसी काल में मिट्टी के स्वभाव से घड़ा उत्पन्न होता है। कुम्भकार घड़े का उत्पादक नहीं है, कुम्भकार से घड़ा उत्पन्न नहीं होता। प्रत्येक रजकण और प्रत्येक आत्मा अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भिन्न है।

१. द्रव्य अर्थात् त्रिकाली वस्तु, अनन्त गुण-स्वभाव का पिण्ड।
२. क्षेत्र अर्थात् वस्तु के प्रदेश।
३. काल अर्थात् वस्तु की वर्तमान अवस्था।
४. भाव अर्थात् त्रिकाली शक्ति।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है तथा पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल व भाव से नहीं है। ऐसा वस्तुस्वरूप होने से एक द्रव्य का कार्य दूसरे द्रव्य से हो — ऐसा संभव नहीं है। यदि निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव से कार्य उत्पन्न होता हो तो निमित्तभूत अन्य द्रव्य के आकार (अन्य द्रव्यरूप) कार्य होना चाहिए; परन्तु किसी भी द्रव्य का कोई भी कार्य अन्य द्रव्यरूप होता तो देखने में नहीं आता। भाई! प्रत्येक अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ है और दूसरे द्रव्य का कार्य करने में सर्वथा असमर्थ है, अकिंचित्कर है।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अधिक होने के कारण और अनादिकालीन पर में कर्तृत्व की मान्यता के कारण यह उपर्युक्त सिद्धान्त सहजता से साधारण जनता के गले नहीं उतरता; परन्तु बात यही शत-प्रतिशत सत्य है कि मोटर पेट्रोल व चालक के चलाये नहीं चलती। जब मोटर अपनी तत्समय की योग्यता से, अपनी क्रियावती शक्ति से चलती है; उसीसमय चालक व पेट्रोल अपना-अपना कार्य अपनी योग्यता से करते हैं। चालक में चलाने का विकल्परूप कार्य एवं पेट्रोल में जलनेरूप कार्य स्वयं की योग्यता से होते हैं। अहा! ऐसी गज़ब की बात है, ऐसा वस्तुस्वातंत्र्य का महासिद्धान्त है। ऐसे सिद्धान्त की श्रद्धा से ही वीतरागी धर्म का, सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है।

देखो न! प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त जुदे-जुदे हैं। अहा! आत्मा ज्ञानानन्द की लक्ष्मी से भरा भगवान है। उसका आश्रय करने से एकसमय में अनन्त गुणों की अनन्त पूर्ण पर्यायें प्रगट होती हैं। वे सब पर्यायें स्वयं से ही प्रगट होतीं हैं तथा इसी रूप में आदि-अनन्तकाल तक प्रगट होती रहती हैं।

निगोद की पर्यायों के उत्पत्तिकाल में भी द्रव्य तो अन्दर वैसा का वैसा ही अनन्त शक्तियों से भरा पड़ा है। पर स्वयं की पहचान न होने से यह दशा हो रही हैं। यदि अब भी अपने स्वभाव का आश्रय नहीं लिया तो मर कर कहाँ जायेगा? क्या दशा होगी? जरा कल्पना तो करें।

अज्ञानी जीव के पास यदि जीवन भर की कमाई से दस-बीस लाख की पूँजी हो गई हो तो कमाने का अभिमान करता है और सारी जिन्दगी परिग्रहानन्दी रौद्रध्यान करता है; परन्तु भाई! यह जीवन हार जाने की बात है। थोड़ी देर के लिए सोचो — "कदाचित् मरणकाल में पक्षाघात हो जाय, लकवा लग जाय और तुम्हारा विचार बने कि "मेरी कमाई का थोड़ा बहुत दस-बीस लाख रुपया शुभ काम में भी लग जाय। शेष सारी सम्पत्ति तो कुटुम्बीजन मिल-बाँटकर भोगों में लगायेंगे ही।" आप अपने इस विचार को बेटों से कहने की कोशिश करेंगे तो पता है — बेटे क्या कहेंगे? वे समझकर भी ना समझ बनकर बड़े भोले भाव से तुम्हारे शुभचिन्तक बनने का नाटक करते हुए कहेंगे — "पिताजी! इस समय आप रुपये-पैसों को याद मत करो। आप तो भगवान का नाम लो। धर्म-ध्यान में उपयोग लगाओ।" रुपया-पैसा तो हम सब संभाल लेंगे।

बस, इसी दुविधा में देह छूट जायेगी, प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे और जीव पता नहीं कहाँ दुर्गति में जा पड़ेगा? फिर कौन बाप और कौन बेटा? भाई! सारा जगत इसीप्रकार स्वार्थ का साथी है, नियमसार में तो इस कुटुम्ब कबीले को धूर्तों की टोली कहा है, अतः समय रहते अपने कल्याण के मार्ग में लग ही जाना चाहिए।

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं से होती है; उसमें दूसरी वस्तु भले निमित्त हो, परन्तु निमित्त से कोई कार्य नहींहोता; क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से अन्य द्रव्य का उत्पाद देखने में नहीं आता। भाई! जिसको यह बात समझ में

आ जाय, उसकी पराधीनता नष्ट हो जाती है। निमित्ताधान दृष्टि टूट जाती है तथा स्वाधीनता का स्व-सन्मुखता का पुरुषार्थ प्रगट हो जाता है।

अहा! प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु की वर्तमान पर्याय अपने स्वभाव से ही होती देखी जाती है। सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव का उलंघन नहीं करते। अतः निमित्तभूत अन्य द्रव्य किसी अन्य द्रव्यों का उत्पाद होता ही नहीं है।

जो ये राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, वे सब अपने स्वभाव से ही होते हैं, जड़कर्म उनके उत्पादक नहीं हैं। इसलिए यह निश्चय है कि सभी द्रव्य अन्य द्रव्यों के स्वभाव को स्पर्श न करते हुए अपने स्वभाव से ही, अपने परिणामभाव से ही उत्पन्न होते हैं। अहा! जीव को जो रागादि भाव होते हैं, वे कर्म के उदय का स्पर्श किए बिना ही पर्याय के अपने स्वभाव से ही होते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामभाव से उत्पन्न होता है — ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

अहाहा! अमुक ने हमें राग कराया या दु:ख दिया — ऐसा हमें जब दिखाई नहीं देता तो हम किस पर क्रोध करें? जब परद्रव्य हमें कुछ करता ही नहीं है तो हम उसका लक्ष्य करें ही क्यों? हमारी दृष्टि उस पर जाये ही क्यों?

गाथा ३७२ के भावार्थ पर प्रवचन

आत्मा की पर्याय में जो रागादि उत्पन्न होते हैं, वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। वस्तु में विकार नहीं है; परन्तु पर्याय में अनादि से विकार चला आ रहा है। अन्तिम चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त पर्याय में असिद्धत्व भाव की अपेक्षा अशुद्धता है। वह औदयिकरूप से असिद्धत्व भाव का अस्तित्व कर्मोदयजन्य होकर भी कर्म के कारण नहीं है। अनादि संसार से लेकर अन्तिम चौदहवें गुणस्थान तक जो विकृतभाव-विभावभाव पर्याय में हैं, वह सब अपना ही अपराध है, वह विकृति कर्मोदय के कारण नहीं है।

वस्तु की दृष्टि से देखो तो वस्तु सहज चैतन्यस्वरूप, सहजानन्दस्वरूप, सच्चिदानन्दस्वरूप त्रिकाली ध्रुव है। वह कभी भी रागमय नहीं हुई। योगों के कम्पनरूप भी वस्तु कभी नहीं होती। हाँ, उसकी वर्तमान पर्याय में जितनी

अशुद्धता है, जितना राग है और जितना योगों का कम्पन है; वह सब उन्हीं द्रव्यों के स्वयं के अपराध के कारण है; पर के कारण नहीं। जड़कर्मों का उनकी विकृति में कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।

अब कहते हैं कि निश्चय से विचार करें तो — यहाँ जो निश्चयनय का उल्लेख है, वह वर्तमान पर्याय को जीव की कहने की अपेक्षा से है — शुद्धनिश्चयनय की यहाँ बात नहीं है। शुद्ध निश्चयनय से तो द्रव्य में रागादिक उदय भाव है ही नहीं, संसार है ही नहीं। यहाँ तो द्रव्य की पर्याय निश्चय व कर्मोदय व्यवहार पर्याय की योग्यता निश्चय व कर्म का निमित्त व्यवहार — यह अपेक्षा है। यहाँ 'द्रव्य निश्चय व पर्याय व्यवहार' वाली अपेक्षा नहीं है।

यहाँ यह कहते हैं कि पर्याय की उत्पत्ति द्रव्य की सत्ता में है। जीव की पर्याय में वर्तमान रागादि का अस्तित्व है — इस दृष्टि से विचार करें तो अन्य द्रव्य रागादि का उपजाने वाला नहीं है। कर्म का उदय जीव में पुण्य-पाप आदि भाव नहीं कराता। भाई! जिसके हृदय में अभी पर्याय की स्वतंत्रता की बात ही नहीं बैठती, उसे द्रव्य की स्वतंत्रता की दृष्टि भी नहीं हो सकती।

विकार का परिणाम भी अपने स्वतंत्र षट्कारकों से होता है। वर्तमान में जो रागादि भाव हुये हैं, हो रहे हैं, वे सब मुझसे, मुझमें से, मेरे लिए, मेरे ही आधार से हुये हैं, हो रहे हैं — इसप्रकार पर्याय के षट्कारकों की स्वतंत्रता का जिसे भान नहीं है, उसे वस्तु स्वसहाय है, स्वतंत्र है — यह बात भी नहीं बैठ सकती तथा उसे स्व का आश्रय भी नहीं हो सकता।

भाई! विकार के षट्कारक उसी विकारी पर्याय में होते हैं। यदि वस्तु में विकार हो या वस्तु स्वयं विकारी हो तो वह विकार कभी भी नहीं छूट सकेगा। तथा पर्याय में यदि विकार हो ही नहीं तो आत्म-वस्तु में त्रिकाल विकार के स्थान पर आनन्द का ही स्वाद आना चाहिए। परन्तु वर्तमान में आनन्द के स्वाद का तो अभाव है, इससे यही सिद्ध होता है कि पर्याय में विकारी भाव का सद्भाव है। समकिती को भी पूर्ण आनन्द का अनुभव नहीं है, जितना अधूरापन है, उतना राग है और उतना ही दुःख का वेदन भी है।

आत्मा जिसतरह स्वभाव से अनादि से शुद्ध चिदानन्दघन प्रभु है; उसीप्रकार अनादि से ही उसकी पर्याय में अशुद्धता भी है। पहले अशुद्धता न हो और बादं में नवीन हो गई हो — ऐसा नहीं है। यह जीव अनादि से ही अपने को भूला हुआ है। इस अशुद्धता का कारण कर्म नहीं है। कर्म तो निमित्त मात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्य के गुण-पर्याय अन्य द्रव्य उत्पन्न नहीं कर सकता। यह सिद्धान्त है। जो परद्रव्य को अपना या स्वयं को परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, वे नयविभाग को नहीं समझते।

अहा! गृहस्थावस्था में रहकर भी पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने कितना अच्छा स्पष्ट किया है। वे कहते हैं — "रागादिभाव जीव की पर्याय के सत्व में उत्पन्न होते हैं, पर में नहीं। आत्मा के द्रव्य-गुण में विकार नहीं है, किन्तु पर्याय में विकार है। आकाश-कुसुम की भाँति या गधे के सिर पर सींगों के समान पर्याय में विकार है ही नहीं — ऐसी बात नहीं तथा पर में होता हो — ऐसा भी नहीं है। पर्याय में मलिनता है विकार है, परन्तु वह विकार स्वयं से उत्पन्न होता है, पर से नहीं। विकार होने में परद्रव्य मात्र निमित्त होता है। वह किसी अन्य द्रव्य के विकार का कर्ता नहीं है। — यह मानना सम्यग्ज्ञान है। भाई! निमित्त विकार कराता नहीं, परन्तु निमित्त के लक्ष्य से विकार उत्पन्न होता है।

जिसतरह द्रव्य-गुण त्रिकाली सत् है, उसीतरह पर्याय भी द्रव्य का वर्तमान सत् है। उस पर्याय के सत्व में रागादि उत्पन्न होते हैं तथा कर्म निमित्त मात्र होता हैं। निमित्त मात्र अर्थात् उपस्थिति मात्र। उससे विकार उत्पन्न नहीं होता।

भगवान केवली को पूर्ण सुख है, मिथ्यादृष्टि को पूर्ण दुःख है तथा साधक को कुछ सुख व कुछ दुःख है। स्वरूप के आश्रय से जितनी निर्मलता-शुद्धता प्रगटी, उतना सुख है, उतना आनन्द का वेदन है और जितना पर्याय में राग है, उतना दुःख का वेदन है। ऐसा यथार्थ मानना सम्यग्ज्ञान है।

देखो, जब दृष्टि के साथ ज्ञान की बात चलती हो तब ऐसा कहा जाता है कि दुःख का स्वामी आत्मा नहीं है, आत्मा तो उसका जानने-देखनेवाला है,

ज्ञाता-दृष्टा है। श्रद्धा की अपेक्षा राग को हेय कहा जाता है और चारित्र की अपेक्षा राग का वेदन है, दुःख का वेदन है — ऐसा कहा जाता है और यह सब पर्याय का सत्व है। सम्यग्ज्ञानी ऐसा बराबर समझता है। इसलिए आचार्य देव कहते हैं कि इसतरह राग-द्वेष की उत्पत्ति में अपना ही अपराध है। जब अन्य द्रव्य राग-द्वेष उत्पन्न करते ही नहीं हैं तो फिर अन्य द्रव्य पर क्रोध करने का क्या प्रयोजन है?

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं :-

(मालिनी)

यदिह भवति रागद्वेषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥

श्लोकार्थ : [**इह**] इस आत्मा में [**यत् राग-द्वेष-दोष-प्रसूतिः भवति**] जो रागद्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है [**तत्र परेषां कतरत् अपि दूषणं नास्ति**] उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है, [**तत्र स्वयम् अपराधी अयम् अबोधः सर्पति**] वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलता है; — [**विदितम् भवतु**] इसप्रकार विदित हो और [**अबोधः अस्तं यातु**] अज्ञान अस्त हो जाये; [**बोधः अस्मि**] मैं तो ज्ञान हूँ।

भावार्थ :- अज्ञानी जीव परद्रव्य से रागद्वेष की उत्पत्ति होती हुई मानकर परद्रव्य पर कोप करता है कि — 'यह परद्रव्य मुझे रागद्वेष उत्पन्न कराता है, उसे दूर करूँ'। ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि रागद्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से आत्मा में ही होती है और वे आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिए इस अज्ञान को नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रकट करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करो; परद्रव्य को रागद्वेष का उत्पन्न करनेवाला मानकर उसपर कोप न करो।

कलश २२० एवं उसके भावार्थ पर प्रवचन

यहाँ पर्याय की बात है। आत्मा की पर्याय में जो राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है, वह पर्याय का अपराध है, उसमें परद्रव्य का जरा भी अपराध नहीं है।

प्रश्न : शास्त्रों में ऐसा आता है कि समकिती को जो राग होता है, वह कर्मोदय की बलजोरी से होता है। यदि परद्रव्य कुछ नहीं करते तो फिर उस कथन का क्या तात्पर्य है।

उत्तर : हाँ, आता तो है, परन्तु वह निमित्त की मुख्यता से किया गया कथन है। जब-जब निमित्त प्रधान कथन होंगे तो ऐसा ही कहा जायेगा; किन्तु उस कथन से और इस वस्तुस्वातंत्र्य के कथन में कोई विरोध नहीं है। आत्मा की पर्याय में जो भी रागादि विकार होता है, वस्तुतः तो वह स्वयं के अपराध से ही होता है। उसमें कर्म कुछ नहीं करते।

आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त सत्यज्ञान से यह अनादिकालीन अज्ञान अस्त हो जाये। दूसरे कलश में भी आचार्यदेव ने कहा है कि मेरी परिणति रागादि दोषों से क़ल्माषित है, मैली है, उस मलिनता का नाश होवे! मैं तो द्रव्यरूप से शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ। यहाँ भी कहते हैं कि अज्ञान अस्त हो जाये। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। इसके आश्रय से पर्याय में से विकार का नाश हो जाये और निराकुल आनंद प्रगट हो जाये।

अहा! जीव में जितने राग-द्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं, वे सब अज्ञान हैं; क्योंकि उन राग-द्वेष आदि भावों में ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का, शुद्ध चैतन्यतत्त्व का अंश नहीं है। राग-द्वेष भावों को अज्ञान कहा, जड़ कहा, अजीव कहा; क्योंकि उन भावों में ज्ञानस्वरूप आत्मा का अभाव है, उनमें चेतन का कोई अंश नहीं है। उन राग-द्वेष भावों की उत्पत्ति अज्ञान से होती है। राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से होने पर भी वह जीव का ही परिणाम है, इसलिए उस अज्ञान का नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रगट करो। अहाहा! मैं आनन्द का नाथ, प्रभु शुद्ध एक ज्ञानस्वरूप हूँ — ऐसा अनुभव करो। परद्रव्यों को रागादि दोषों का उत्पन्न करनेवाला मानकर उन पर कोप मत करो।

अब इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिये और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं :—

(रथोद्धता)

रागजन्मनि निमित्ततां पर-
द्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं
शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥२२१॥

श्लोकार्थ : **[ये तु राग-जन्मनि परद्रव्यम् एव निमित्ततां कलयन्ति]** जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्यका ही निमित्तत्व (कारणत्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते), **[ते शुद्ध-बोध-विधुर-अन्ध-बुद्धयः]** वे जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञान से रहित अंध है ऐसे (अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अंध है ऐसे)- **[मोह-वाहिनी न हि उत्तरन्ति]** — मोहनदी को पार नहीं कर सकते।

भावार्थ : शुद्धनय का विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान, चैतन्यचमत्कारमात्र, नित्य, अभेद, एक है। वह अपने ही अपराध से रागद्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि जिसप्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित कराता है उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है और उसमें आत्मा का कोई पुरुषार्थ ही नहीं है। जिन्हें आत्मा के ऐसे स्वरूप का ज्ञान नहीं है वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्मा को जिसप्रकार परिणमन कराता है उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है। ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदी को पार नहीं कर सकते (अथवा मोह-सैन्य को नहीं हरा सकते), उनके रागद्वेष नहीं मिटते; क्योंकि रागद्वेष करने में यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उनके मिटाने में भी हो सकता है, किन्तु यदि दूसरे के कराये ही रागद्वेष होता हो तो पर तो रागद्वेष कराया ही करे, तब आत्मा उन्हें कहाँ से मिटा सकेगा? इसलिये रागद्वेष अपने किये होते हैं और अपने मिटाये मिटते हैं — इसप्रकार कथंचित् मानना सो सम्यग्ज्ञान है ॥२२१॥

कलश २२१ पर प्रवचन

पर्याय में जो असंख्यात प्रकार का राग होता है, उसकी उत्पत्ति में जो परद्रव्य को ही कारण मानते हैं, उनकी बुद्धि शुद्धज्ञान से रहित है, अंध है।

वह मोह नदी से पार नहीं उतर सकता। यहाँ अकेला राग शब्द कहा, पर राग के साथ द्वेष को भी ग्रहण कर लेना। राग-द्वेष में भी सभी कषायें आ जाती हैं। इन सबकी उत्पत्ति में जो मात्र परद्रव्य को ही कारण मानते हैं, वे अज्ञानी हैं, दीर्घ संसारी हैं। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिए पर के कारण जीव को राग होना माने तो वह शुद्धज्ञान से रहित अंध ही है।

यद्यपि राग परद्रव्य के लक्ष्य से होता है; परन्तु परपदार्थ राग का सत्यार्थ कारण नहीं है। जब जीव की ज्ञानपर्याय स्वयं पर का लक्ष्य करती है, तब उसके राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। जो राग की उत्पत्ति में कर्म को कारण मानता है, वह अज्ञानी है। वह कभी भी मोह नदी को पार नहीं कर सकता। दर्शन-मोह के निमित्त से मिथ्यात्व होता है, चारित्रमोह के उदय से जीवों को राग-द्वेषादि होते हैं — ऐसे कथन गोम्मटसार आदि में आते हैं। ऐसे कथन शास्त्रों में हैं अवश्य, परन्तु ये तो व्यवहारनय से निमित्त की मुख्यता से किये गये हैं। कर्म विकार का वास्तविक कारण नहीं है। यह तो मात्र यह बताता है कि जो विकार हुआ है, वह किसके लक्ष्य से या किसके निमित्त से हुआ है।

दूसरी बात यह है कि सम्यग्दृष्टि धर्मी पुरुष ऐसा जानते हैं कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तु हूँ, विकार मेरा स्वरूप, कर्तव्य, कार्य या व्याप्य नहीं है।

प्रश्न : धर्मी पुरुषों को जो विकार होता है, उसमें जड़ कर्म व्यापक और विकार उसका व्याप्य होता है — ऐसा कर्ता-कर्म अधिकार में आया है न?

उत्तर : हाँ, आया है, परन्तु वह तो स्वभावदृष्टि की अपेक्षा से बात कही है। 'विकार कर्म से होता है' — ऐसा उसका अर्थ नहीं है। वहाँ तो यह कहा गया है कि जिसको शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव हुआ है, उस धर्मी पुरुष की निर्मल दशा में चैतन्यस्वभाव व्यापक और वह निर्मल दशा उसका व्याप्य है। उस स्वभाववंत पुरुष को पर्याय में जो राग होता है, उस अपराध को आत्मा से वाह्य मानकर कर्म को व्यापक व राग उसका व्याप्य है — ऐसा कहा है। वहाँ ऐसा कहने का प्रयोजन यह वताना है कि राग आत्मा के स्वभाव की वस्तु नहीं है और वह निकाल देने लायक है, हेय है — वस, इस अपेक्षा से गाथा ७५, ७६, ७७ व ७८ में ऐसा कहा है। वाकी बात यह है कि जो राग होता

है वह अज्ञान से उत्पन्न होता हुआ अपना ही अपराध है। कर्म उसका कारण नहीं है। कर्म तो निमित्त मात्र है। इसलिए वहाँ ऐसा अर्थ नहीं करना कि 'राग जड़ कर्म से होता है'।

समयसार गाथा ४०४ की टीका में कहा है कि ऐसा ज्ञान (जीव से अभिन्न) होने से ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वक सूत्र है, ज्ञान ही धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) है, ज्ञान ही प्रव्रज्या (दीक्षा, निश्चय चारित्र) है। इसप्रकार ज्ञान का जीव पर्यायों के साथ भी अव्यतिरेक निश्चय साधित देखना अर्थात् निश्चय द्वारा सिद्ध हुआ समझना।

देखो, यहाँ कहा है कि ज्ञान ही अर्थात् आत्मा ही पुण्य-पाप है। 'ज्ञानी के ज्ञानमय भाव होता है' — यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो ज्ञानी अर्थात् आत्मा की पर्याय में जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं वे भाव आत्मा ही हैं या आत्मा के ही हैं। निमित्तों के या जड़कर्मों के नहीं हैं।

यहाँ यही सिद्ध करना है कि आत्मा में जो राग-द्वेषादि विकार होता है, वह आत्मा का ही परिणाम है।

ज्ञानी के जो व्यवहार आचरणरूप शुभभाव होता है, वह राग है, दुःख है, वह भाव आत्मा में स्वयं से होता है, पर से नहीं, निमित्त से व पर से नहीं। चौथे-पाँचवें गुणस्थान में आर्त-रौद्रध्यान भी होता है। यद्यपि वैसी रुचि नहीं है, तथापि होता है। ये भाव पापभाव हैं, फिर भी अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से ही आत्मा की पर्याय में ही होते हैं, कर्मों के कारण नहीं।

प्रश्न : सम्यग्दृष्टियों को—धर्मात्मा जीवों को ज्ञानमय ही भाव होते हैं, विकार भाव नहीं होते — ऐसा जो कहा गया है उस कथन का क्या तात्पर्य है?

उत्तर : वहाँ उस प्रकरण में स्वभाव की दृष्टि में विकार को गौण करके बात की है। समयसार की ११वीं गाथा में भी व्यवहार को अभूतार्थ कहा है न! अर्थात् पर्याय मात्र अभूतार्थ है, एक शुद्ध चैतन्यघन प्रभु आत्मा ही भूतार्थ है। परन्तु वहाँ तो प्रमत्त-अप्रमत्त और केवलज्ञान सहित सर्वपर्यायों को अभूतार्थ कहा है। पर ध्यान रहे, वहाँ इन्हें गौण करने की अपेक्षा अभूतार्थ कहा है, असत्यार्थ कहा है। त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करने की मुख्यता से उसे

निश्चय कहा तथा आश्रय न करने के प्रयोजन से सर्वपर्यायों को गौण करके व्यवहार, कहा एवं अभूतार्थ कहकर उनका आश्रय छोड़ने को कहा है।

राग-द्वेष छोड़ने के लिए स्वभाव में पर्यायों के गौण करके निषेध किया है। वे सर्वथा हैं ही नहीं — ऐसा नहीं समझना चाहिए। धर्मात्मा जीव जितना-जितना पर्यायों का आलम्बन छोड़कर स्वभाव का आश्रय लेते हैं, उतना-उतना उनका राग-द्वेष और दु:ख कम होता है। परन्तु जबतक पूर्ण आश्रय नहीं हो जाता, तबतक सर्वथा दु:ख का अभाव नहीं होता। सर्वथा दु:ख का अभाव तो तेरहवें गुणस्थान में होता है। दसवें गुणस्थान में भी अबुद्धिपूर्वक होनेवाला सूक्ष्म राग है। इसकारण उन्हें भी उतना दु:ख है। चौथे, पाँचवें एवं छठवें गुणस्थान में जितना राग है, उतना दु:ख है। बारहवें गुणस्थान में बिल्कुल राग नहीं है, इसकारण वहाँ दु:ख भी नहीं है। तेरहवें गुणस्थान में अनन्त सुख है। यहाँ तो यह कहा जा रहा है कि ज्ञानी के भी पर्याय में राग होता है, परन्तु वह स्वयं की कमजोरी के कारण ही होता है, पर या कर्मों के कारण नहीं।

जो जीव राग-द्वेष की उत्पत्ति में परद्रव्यों को ही कारण मानते हैं अपनी भूल स्वीकार नहीं करते, वे शुद्धज्ञान से रहित अन्ध बुद्धि हैं। वे कभी भी मोह नदी से पार नहीं हो सकते। जिसतरह स्त्री के पति का निधन होने पर वह विधवा कहलाती है तथा पत्नी के निधन से पति विधुर कहलाता है। उसीतरह शुद्धबोध से रहित होने से यह आत्मा विधुर है। कहा है न — 'शुद्ध-बोध-विधुर-अन्ध-बुध:'। अर्थात् वह शुद्धज्ञान से रहित अंधा है।

कलश टीका में कहा है कि ऐसी मिथ्यादृष्टि जीव राशि मोह-राग-द्वेष (अशुद्ध परिणति) रूप शत्रु की सेना का नाश नहीं कर सकती। वह जीव राशि सकल उपाधि से रहित जीव वस्तु के प्रत्यक्ष अनुभव से रहित होने से सम्यक्त्व से शून्य हैं।

प्रश्न : इसमें उस जीव राशि का क्या अपराध है?

उत्तर : उस जीव राशि का मात्र यह अपराध है कि वह आत्मा में राग-द्वेष-मोहादि की उत्पत्ति में आठकर्मों को, शरीरादि नोकर्मों को तथा बाह्य

भोग-सामग्रीरूप पुद्‌गल द्रव्यों को ही कारण मानता है। उसकी ऐसी ही पक्की श्रद्धा होती है। अत: वह जीव राशि मिथ्यादृष्टि है, अनंत संसारी है। ऐसी मान्यता के कारण उसका यह निर्णय भी पक्का रहता है कि संसारी जीव में रागादि अशुद्ध परिणमन की शक्ति नहीं है। उसे पुद्‌गल कर्म ही बलात् रागादिरूप परिणमाता है। यदि ऐसा है तो पुद्‌गल कर्म तो सर्वकाल विद्यमान ही है, फिर जीव को शुद्ध परिणमन का अवसर ही कहाँ रहा?

शुद्धनय का विषय स्वयं निर्मलानन्द, शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु है। — जिसको यह भान नहीं है, वह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि पर्यायों में जो दु:ख है, वह कर्मोदय के कारण ही है। वह ऐसा नहीं मानता कि पर्याय में जो राग-द्वेष हैं, वे अपने ही अपराध से हुये हैं।

अहा! ऐसे शुद्धज्ञान से रहित अन्धबुद्धि जीव मोह नदी को पार नहीं कर सकते।

कलश २२१ के भावार्थ पर प्रवचन

शुद्धनय का विषयभूत अबद्धस्पृष्ट चिदानन्दघन प्रभु आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है। नियमसार में पद्‌मप्रभमलधारी देव कहते हैं कि पूर्णानन्द के नाथ चैतन्यबिम्ब प्रभु का अनुभव करना हमारा विषय है। हमारा ज्ञान तो द्रव्य-गुण एवं पर्याय - सबको जानता है, परन्तु दृष्टि का विषय तो पर्यायों से पार शुद्ध एक ध्रुव निर्विकल्प वस्तु ही है। कहते हैं कि जो पर्याय ध्रुव को विषय करती है, उस पर्याय का भी ध्रुव आत्मा में अभाव है। भाई! बात बहुत सूक्ष्म है।

नियमसार के २००वें कलश में कहते हैं — किसी ऐसी समाधि द्वारा उत्तम आत्माओं के हृदय में स्फुरित होनेवाली, समता की अनुयायिनी सहज आत्म-सम्पदा का जबतक हम अनुभव नहीं करते, तबतक हमारे जैसों का जो विषय है, उसका हम अनुभव नहीं करते।

देखो, सहज शुद्ध आत्मसम्पदा ही मुनिवरों का विषय है। जबकि अज्ञानियों का विषय राग-द्वेष व पुण्य-पाप आदि विकारी भाव हैं।

शुद्धनय का विषय कहो या सम्यग्दर्शन का विषय कहो — वह चैतन्य-चमत्कार प्रभु, नित्य, अभेद, एक शुद्ध आत्मवस्तु है। उसे ही समयसार की ११वीं

गाथा में भूतार्थ कहा है। अहा! दृष्टि के विषय में रागरहित, भेदरहित, अपूर्णतारहित और एक समय की पर्याय से भी पृथक् ध्रुव नित्यानन्द चिदानन्दमय वस्तु है। अहाहा! निर्मलानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु एक ही सम्यग्दर्शन का ध्येय और विषय है। सम्यग्दर्शन का विषय सम्यग्दर्शन पर्याय नहीं है, त्रिकाली ध्रुव एकरूप चैतन्यवस्तु है। जिसमें ध्रुव की प्रतीति हुई, वह सम्यग्दर्शन ध्रुव में नहीं है तथा ध्रुव का भी उसमें प्रवेश नहीं हुआ है। ध्रुव तो जैसे है वैसा ही सदा एकरूप ही है।

भले पर्याय में मिथ्यात्व और राग-द्वेष तीव्र हो, तो भी ध्रुव द्रव्य तो जैसा है, वैसे का वैसा एकरूप शुद्ध ही है। आत्मा में ज्ञान-दर्शन और रमणता होने पर भी ध्रुवद्रव्य तो वैसे का वैसा ही है। केवलज्ञान व सिद्धपद प्रगट होने पर भी अन्दर में द्रव्य तो शुद्ध चैतन्यरूप ही है। ऐसा चैतन्य चमत्कारी द्रव्य जो अन्दर में है, वही शुद्धनय का विषय है।

केवलज्ञान प्रगट होने पर यह केवलज्ञान पर्याय एक समय में तीनकाल व तीनलोक के द्रव्य-गुण-पर्यायों को एक साथ भिन्न-भिन्न जानती है। तथा उसीसमय में केवलदर्शन पर्याय कोई भी भेद किए बिना तीनलोक व तीनकाल को सामान्यपने देखती है। जिसकी एकसमय की पर्याय का ऐसा महा अद्भुत चमत्कार है, वह आत्मा है। भाई! यह बात ऊपर-ऊपर के तर्क-वितर्कों से समझ में नहीं आती, यह तो अन्तर अनुभव से ही समझ में आती है। जिसके आश्रय से पर्याय में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तशान्ति, अनन्तप्रभुता प्रगट होती है; तथापि वस्तु तो अन्दर में वैसी की वैसी एकरूप ही रहती है। उसके चमत्कार का क्या कहें? अहा! ऐसी चैतन्यचमत्कार वस्तु आत्मा शुद्धनय का विषय है और उसे लक्ष्य में लेकर अनुभव करने पर सम्यग्दर्शन होता है।

त्रिकाली द्रव्य तो चमत्कारी है ही, उसकी एक-एक पर्याय भी चमत्कारी है। केवलज्ञान की एक समय की एक पर्याय एक-एक द्रव्य को, उसके एक-एक गुण को उसकी एक-एक पर्याय को, उसके अनन्त अविभागी-प्रतिच्छेदों को, निमित्तों को, राग आदि प्रत्येक को एकसमय में भिन्न-भिन्नपने जानता है। अहा! जिसकी एक-एक पर्याय का ऐसा चमत्कार है — ऐसा अनंतशक्ति-सम्पन्न चैतन्यचमत्कार प्रभु आत्मा है। इसमें चैतन्य की मुख्यता भी है, परन्तु

चैतन्य के साथ ज्ञान, दर्शन, सुख, आनन्द, वीर्य, प्रभुता, स्वच्छता, प्रकाश, कर्ता, कर्म, करण इत्यादि अनन्त शक्तियों का सागर आत्मा है। — ऐसा अनन्त शक्तियों का अभेद एक दल आत्मद्रव्य दृष्टि का विषय है।

आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं। एक-एक शक्ति में दूसरी अनन्त शक्तियों का रूप है। जैसे कि ज्ञानगुण में अस्तित्व गुण नहीं, बल्कि अस्तित्वगुण का रूप है। ज्ञानगुण में जो अस्तिपना है, वही अस्तित्वगुण का रूप है। इसीप्रकार एक-एक गुण में दूसरे अनन्त गुणों के रूप हैं। अहा! ऐसी अनन्त सामर्थ्य से अपना आत्मद्रव्य परम आश्चर्यकारी तत्त्व है।

इस जगत में अनन्त जीव आत्मायें हैं, उन आत्माओं से अनन्तगुणे पुद्गल परमाणु हैं, पुद्गल परमाणुओं से अनन्तगुणे तीनकाल के समय हैं, तीनकाल के समयों से अनन्तगुणे आकाश के प्रदेश हैं, आकाश प्रदेशों से अनन्तगुणे एक जीवद्रव्य के गुण हैं। भगवान आत्मा ऐसी अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्य चमत्कार वस्तु हैं।

जिसमें राग नहीं, भंग-भेद नहीं, अल्पज्ञता नहीं — ऐसा अनन्त-अनन्त शक्तियों का चमत्कार भगवान आत्मा नित्य है, अनादि-अनन्त है, शुद्ध-शाश्वत है एवं अभेद एकरूप वस्तु है। ऐसी अनन्त गुण मण्डित अभेद, एक, शुद्ध वस्तु दृष्टि का विषय है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

अब कहते हैं कि वह आत्मा अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। अहा! स्वयं त्रिकाल एकरूप ज्ञानस्वरूप होते हुए भी जो वर्तमान पर्याय में मोह-राग-द्वेष से परिणमता है, वह अपने अपराध से ही परिणमता है। यदि पर्याय में अशुद्धरूप से — विकाररूप से न परिणमता हो तो आत्मा स्वयं तो चिदानन्द प्रभु है। फिर तो उसे अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आना चाहिए, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, इसलिए पर्याय में रागादि विकार है और वह अपने ही अपराध से है।

अहा! भगवान आत्मा की महिमा की क्या बात करें? सर्वज्ञ की वाणी में भी जिसके पूर्ण स्वरूप की महिमा नहीं आ सकती — वह आत्मा ऐसा चैतन्यचमत्कार प्रभु है। भाई! वाणी तो जड़ माटी-धूल हैं, उसमें चैतन्य की

महिमा का कितना कथन आ सकता है। इसमें तो चैतन्य की महिमा का संकेत मात्र हो सकता है? ऐसा आत्मा स्वयं अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमता है। ऐसा नहीं है कि जैसा निमित्तभूत परद्रव्य परिणमावे वैसा परिणमता है और उसमें आत्मा का कुछ भी पुरुषार्थ नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि जैसा कर्म का उदय आये, तदनुसार आत्मा को परिणमना ही पड़ेगा। वास्तव में उसके विपरीत पुरुषार्थ से ही आत्मा स्वयं राग-द्वेषरूप परिणमता है, कर्मोदय के निमित्त से नहीं।

अब कहते हैं कि जिसे ऐसा ज्ञान नहीं है, वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा को परद्रव्य या कर्मोदय जैसा परिणमाता है, वैसा ही आत्मा को परिणमना पड़ता है; परन्तु ऐसा माननेवाले कभी भी मोहनदी को पार नहीं कर सकते।

पहले यह कहा था कि शुद्धनय से आत्मा अभेद एकाकार नित्य शुद्ध चिद्रूप है, परन्तु उसकी एकसमय की पर्याय में जो रागादि विकार हैं, वह अपने ही अपराध से है। प्रमाणज्ञान की दृष्टि से देखने पर एक ओर जहाँ पर्याय में निर्मलता व सुख है, वहीं दूसरी ओर मलिनता व दुःख भी है और उसे जीव स्वयं भोगता है — ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

प्रश्न : एक ओर समयसार गाथा ७३ में तो यह कहते हैं कि जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है — ऐसा ज्ञानी पुरुष विकार का स्वामी नहीं है। विकार का स्वामी तो पुद्गल है। तथा दूसरी ओर प्रवचनसार के परिशिष्ट में यह कहते हैं कि पर्याय में जो सुख-दुःख के परिणाम होते हैं, उनका स्वामी आत्मा है।

उत्तर : भाई! जहाँ ऐसा कहा है कि विकार का स्वामी पुद्गल है, आत्मा नहीं, वहाँ तो दृष्टिप्रधान बात है, दृष्टि के विषय की अपेक्षा से बात है। वहाँ राग व दुःख को गौण करके ऐसा कहा है, अभाव करके नहीं। तथा जहाँ ऐसा कहा है कि सुख-दुःख के परिणामों का स्वामी आत्मा ही है, कर्म नहीं — वह ज्ञान प्रधान कथन है।

देखो, नय तो एक अंश को ग्रहण करता है और प्रमाण द्रव्य व पर्याय — दोनों को एक साथ जानता है। शुद्धनय का विषय शुद्ध एक त्रिकाली द्रव्य है

और उसे जानते-अनुभवते हुए प्रमाण के विषय का भी ज्ञान होता है। प्रमाण के विषय में त्रिकाली द्रव्य एवं विकारी व निर्विकारी पर्यायें — दोनों आते हैं।

भगवान आत्मा त्रिकाल एकरूप द्रव्य है, उसमें जो एकसमय की पर्याय है, वह ऊपर-ऊपर है। असंख्य प्रदेशों में प्रत्येक प्रदेश के ऊपर-ऊपर पर्याय है।

प्रश्न : ऊपर-ऊपर से आपका क्या तात्पर्य है?

उत्तर : पर्याय का द्रव्य में प्रवेश नहीं होता। तात्पर्य यह है कि पर्याय त्रिकाली द्रव्यरूप नहीं होती। आत्मा में असंख्य प्रदेश हैं। उसमें अन्दर का जो दल है, वह ध्रुव है तथा जहाँ ध्रुव है वहीं ऊपर-ऊपर पर्याय होती है। जहाँ पर्याय ऊपर है, वहीं ध्रुव समीप है। इसप्रकार पर्याय का क्षेत्र वास्तव में तो भिन्न है, पर एक ही क्षेत्र के दो अंश हैं। असंख्य प्रदेशों के क्षेत्र में पर्याय ऊपर-ऊपर भिन्न है। उसी पर्याय को अन्दर में डालना है, अन्तर्मुख करना है।

प्रमाण का विषय द्रव्य-पर्याय दोनों हैं। शुद्धनय का विषय अकेला त्रिकाली ध्रुव द्रव्य है। ध्रुव के ऊपर जो वर्तमान पर्याय है, वह अन्दर प्रवेश नहीं करती, ऊपर-ऊपर रहती है। जिसतरह पानी के दल में तैल की बूँद ऊपर-ऊपर रहती है, अन्दर में प्रवेश नहीं करती, उसीतरह ध्रुव आत्मा के ऊपर-ऊपर जो पलटती अवस्था रहती है, उसका ध्रुव में प्रवेश नहीं होता। उस वर्तमान पर्याय को ध्रुव की ओर मोड़कर आत्मा का अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

अहा! शुद्धनय का विषय अनन्तशक्तियुक्त, चैतन्यचमत्कार मात्र, नित्य, अभेद, एक है। उसमें पर्याय गौण है। परन्तु पर्याय की दृष्टि से देखने पर पर्याय में जो रागादि हैं, वे अपने ही अपराध से हैं। कर्मों का उदय आत्मा को अपराध नहीं कराता। भाई! जीव के उल्टे पुरुषार्थ से ही रागादि विकार होते हैं। अतः कर्मों के माथे ही दोष मत मढ़ो। जो विकार होने में मात्र परद्रव्यों को दोष देते हैं, वे अज्ञानी हैं, उनके राग-द्वेष नहीं मिटते।

अब कहते हैं कि अज्ञानी के राग-द्वेष नहीं मिटने का मुख्य कारण यह है कि वह पुण्य-पाप आदि विकारी भावों के होने में अपने उल्टे पुरुषार्थ को

न मानकर कर्मों को ही कारण मानता है। यदि अपने विपरीत पुरुषार्थ को कारण माने तो सम्यक् पुरुषार्थ करके उसे मेट सकता है; किन्तु पर के कराने से ही राग-द्वेष होना माने तो पर तो राग-द्वेष कराते ही रहेंगे; उन्हें आत्मा कैसे मेट सकेगा? इसलिए ऐसा मानना ही सम्यग्ज्ञान है कि राग-द्वेष आदि स्वयं को भूल से होते हैं और अपनी भूल सुधार कर उन्हें मेटा जा सकता है।

समकिती धर्मीजीवों को भी राग-द्वेष अपनी अस्थिरता के अपराध से होते हैं, कर्मोदय से नहीं — ऐसा यथार्थ मानना चाहिए।